भक्तियोग
स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती

भक्तियोग

(श्रीमद्भगवद्गीताके बारहवें अध्यायका प्रवचन)

स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती

प्रकाशक:
सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट
'विपुल' २८/१६
बी.जी.खेर मार्ग
बम्बई ४००००६
दूरभाष: ३६८२०५५

भक्तियोग
पञ्चम: २०००
जुलाई १९९७

मूल्य: 30 रुपये मात्र

मुद्रक:
सियाराम प्रिन्टर्स
मेन बाजार, पहाड़गंज
नई दिल्ली-११००५५
दूरभाष : ७७७३५०४, ३५४४५०४, ७५३४१९५

प्राप्ति स्थान:

★ **प्रकाशक – बम्बई**

★ श्री अखण्डानन्द पुस्तकालय,
आनन्द कुटीर-मोती झील
वृन्दावन-२८११२४

★ सेठी एण्ड सन्स,
४४ UB, जवाहर नगर,
कमला नगर दिल्ली-११०००७
दूरभाष:२८२६९९९

★ श्री.सी.के.झंवर,
४ गंगाधर बाबू लेन,
कलकत्ता-७०००१२

★ श्री उत्तमलाल कपासी,
१४ विद्यानगर सोसायटी,
निकट-उस्मानपुरा,
आश्रम रोड,
अहमदाबाद-३८००१४
दूरभाष: ४२६८००

प्रासङ्गिकम्

भगवद्गीताके प्रारम्भमें अर्जुन रथी और श्रीकृष्ण सारथिके रूपमें रणाङ्गणमें उपस्थित होते हैं। स्पष्ट रूपसे रथी प्रधान और सारथि गौण है। जीवका अहं अपनी चरम सीमापर बैठा है। अर्जुनने आज्ञा दी—'अच्युत! दोनों सेनाओंके मध्यमें मेरा रथ खड़ा करो। मैं निरीक्षण करूँगा—मुझे किनके साथ युद्ध करना है, दुर्बुद्धि दुर्योधनके पक्षपाती कौन-कौन हैं?'

अर्जुन श्रीकृष्णको आज्ञा भी देता है और स्वयं अपनेको 'सद्बुद्धि' भी मानता है। भक्तवत्सल प्रभुने अपने भक्त अर्जुनकी आज्ञा मान ली। अर्जुन मानो एक पक्ष छोड़कर मध्यस्थ बन गया। परन्तु उसकी बुद्धि अपने निश्चयपर अटल नहीं रही। मोह-ममताने उसे धर दबाया। जिनको उसने दुर्बुद्धि दुर्योधनका पक्षपाती बताया था, उन्हींको अपना कहकर मोह और शोकके घने-जंगलमें भटक गया। युद्ध करनेका उसका निश्चय टूट गया। स्पष्ट हो गया कि जीवकी बुद्धि, कितनी निर्बल,

कितनो डावांडोल है। वह एक कामको अच्छा समझकर उसमें भगवान्‌को सहायक, सारथि और आज्ञाकारी बनाना चाहता है, परन्तु स्वयं उसकी बुद्धिमे कोई स्थिरता नहीं है। ऐसी स्थितिमें भी वह अपनी प्रधानता, अपने अहंका दम्भ छोड़नेको उद्यत नहीं है। तर्क, युक्ति, शास्त्र और धर्मका सहारा लेकर अपनी इस बदली हुई बुद्धिका समर्थन करने लगता है मानो मैं पहले ठीक नहीं था, अब ठीक हूं। परन्तु पहले भी तो ऐसे ही समझता था कि मैं अब ठीक हूं। जब वह निश्चय बदल गया, तब यह निश्चय नहीं बदलेगा इसमें क्या प्रमाण? इस दुविधाकी स्थितिमें अर्जुन विषादग्रस्त हो गया, शोक-मोहसे अभिभूत हो गया। अब उसकी प्रधानता क्षीण हो गयी। भगवान्‌ने कहा—निश्चयकी यह दिशा गलत है, नपुंसकता है, हृदयकी क्षुद्र दुर्बलता है। अर्जुनने स्पष्ट शब्दोंमें अपनी दुविधा श्रीकृष्णके सामने रखी, अपनेको प्रपन्न शिष्य घोषित किया और भगवान्‌से मार्गदर्शनकी याचना की। इसी मार्गदर्शनके रूपमें सम्पूर्ण गीताका उपदेश है। भगवान्‌ने दूसरे अध्यायमें निश्चयात्मिका स्थिरबुद्धि-की प्रशंसा की और बार-बार अर्जुनको बुद्धि-योगी बनानेकी प्रेरणा दी।

यह स्पष्ट हो गया कि रथी प्रधान नहीं है, सारथि प्रधान है। परन्तु अर्जुन फिर भी अपनी बुद्धिको छोड़कर नहीं रहा था। एक बार तो उसने यहाँ तक कह दिया कि तुम मिले-जुले वाक्यसे मेरी बुद्धिको मोहित-सी कर रहे हो। दूसरी बार जब सावधान हुआ तब बोला कि अब मेरी बुद्धि निर्मोह हो गयी। फिर भी बुद्धि तो उससे चिपकी ही रही। भगवान् उसके इस बुद्धि-मोहको छुड़ाना चाहते थे—उन्होंने अपने विराट् विश्व रूपका दर्शन दिया। भगवान्‌ने बताया कि अर्जुन! जो मेरा

प्रिय होता है वही इस रूपका दर्शन कर सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि भगवान्‌का प्रिय हो जानेपर प्रभु उसके सामने अपने निर्मय-स्वरूपको प्रकट कर देते हैं। तब तो फिर प्रभुका प्रिय ही बनना चाहिए। प्रभुका प्रिय कौन है ? मुख्य रूपसे बारहवें अध्यायमें यही बात बतायी गयी है। और जो अर्जुन पहले अध्यायमें श्रीकृष्णको आज्ञा देता है वही गीताके अन्तमें—'मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा' इस प्रकार पूर्ण आज्ञाकारी बन जाता है—करिष्ये वचनं तव।

उपनिषद्‌का सिद्धान्त है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैव आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥

यह परमात्मा मनन, निदिध्यासन अथवा अत्यधिक श्रवणसे प्राप्त नहीं होता। यह अपने जिस भक्तको वरण करता है उसीके द्वारा प्राप्त होता है। उसीके प्रति यह अपने स्वरूपको निरावरण प्रकाशित करता है। तब यह परमात्मा किसको वरण करता है ? उसकी कृपा किसी कारणसे होती है या बिना कारणके ही ? यदि ऐसा मानें कि उसकी कृपा बिना कारणके ही होती है, तो सबपर एक समान होनी चाहिए। नहीं तो वह परमात्मा जिसके प्रति कृपा करेगा उसके प्रति पक्षपाती और जिसके प्रति नहीं करेगा, उसके प्रति निर्दय होगा। यदि किसी-किसीके प्रति उसकी कृपा होती है तो वह कौन भाग्यवान् है जो उसका कृपापात्र होता है ? यदि वह कोई विशेषता देखकर—भक्तमे कोई सेवा लेकर—किसी कारणसे ही कृपा करता है तो फिर उसमें भी कोई कमी मालूम पड़ती है, जिसको पूरी करनेके लिए वह पहले कुछ लेता है फिर कृपा

करता है। इस तरह तो वह पूर्णकाम है, यह बात भी कट जाती है। फिर लोकव्यवहारमें भी ऐसा देखा जाता है कि जो जिस वस्तुका स्वामी होता है, वह बिना किसी प्रार्थनाके या बिना किसी विशेषताके उस वस्तुकी रक्षा करता ही है। सम्पूर्ण जीव-जगत्का स्वामी ईश्वर बिना किसी कारणके ही सबकी रक्षा करेगा, ऐसा जान पड़ता है। फिर तो यदि जीव उसकी बरसती हुई स्वयं प्रवाहित कृपाधारासे विमुख न हो तो केवल साम्मुख्यमात्रसे ही वह प्रभुका कृपाभाजन बन सकता है। फिर साधन, भक्ति, शरणागति आदिकी आवश्यकता ही कहाँ रह जाती है?

सचमुच ईश्वर अकारण करुण, करुणावरुणालय है; फिर भी जीवोंके उद्धारके लिए उसको किसी व्याज, मिस या बहकानेकी अपेक्षा रहती है क्योंकि उसे संसारका शासन भी चलाना है। इसलिए जैसे कल्पवृक्ष अपनी सन्निधिमें आये हुए प्रार्थीको ही उसका अभिलषित पदार्थ देता है, वैसे ही दोष-दुर्गुणका परित्याग करके ईश्वरके सन्निधानमें उपस्थित भक्त ही प्रभु-प्रसादका भाजन बनता है। चिन्तामणि, कामधेनु अग्नि सभी अपनी सन्निधिमें आये हुए का ही उपकार करते हैं। प्रभुको भी शासन चलाना है इसलिए एक मर्यादा रखकर ही भक्तकी रक्षा करते हैं—रक्षापेक्षामपेक्षते। भक्त कहे तो सही कि 'हे प्रभो, मेरी रक्षा कीजिये।' बिना कहे करें तो सबकी करें या किसीकी न करें। इसलिए यह निश्चित है कि ईश्वरका अनुग्रहभाजन होनेके लिए कुछ अपेक्षित है—सापेक्षत्वात्–(ब्रह्मसूत्र)। इसीसे गीतामें यह सिद्धान्त मान्य होनेपर भी कि प्रभु-प्रसादसे ही जीवका कल्याण होता है, साथ ही भक्तके कई गुणोंका उल्लेख मिलता है—मत्प्रसादाद् तरिष्यसि।

तत् प्रसादात् शान्ति प्राप्स्यसि। ये सब गीताके वचन उपनिषद्में कहे गये अभिप्रायके ही व्यंजक हैं।

धातुः प्रसादान्महिमानमीशम् ।
शुभस्तत्संकल्पश्चुलकयति संसारजलधिम् ।

अब प्रश्न उठता है कि जब प्रभु-प्रसादसे ही सब कुछ होता है तब बीचमें अन्तःकरण-शुद्धि, तत्त्वज्ञान आदिकी चर्चा क्यों? वह भी आवश्यक है, क्योंकि दूधसे दही बनता है, ऐसा कहनेमें दोष नहीं है। फिर भी दूधमें जामन डालना, उसमें विकार होना, धीरे-धीरे गाढ़ा होना, मीठेसे खट्टा हो जाना, यह सब अवान्तर प्रक्रियाएँ होती ही हैं। इसी प्रकार प्रभु-प्रसादसे परम कल्याणकी प्राप्ति होती है, यह सत्य होनेपर भी अन्तःकरण-शुद्धि, तत्त्वज्ञान आदि होकर ही वह परम कल्याणका भाजन बनता है।

बारहवें अध्यायमें भक्तिकी उन अवस्थाओं और भक्तोंका वर्णन किया गया है जिनपर प्रभुकी कृपा और प्रेम बरसते हैं। सच्ची बात तो यह है कि सबपर सर्वदा, सर्वथा, सर्वत्र समरस भगवत्कृपाकी और प्रियताकी निरन्तर वर्षा होते रहनेपर भी वैसी अवस्था प्राप्त हुए बिना उस कृपा-प्रसादका ग्रहण नहीं होता। इसलिए जैसी भक्ति होनेपर भगवान्की प्रियता प्राप्त होती है, उसका वर्णन इस पूरे अध्यायमें किया गया है। इसकी संक्षिप्त रूपरेखा इस प्रकार है—

१. युक्ततम भक्त—यह परम श्रद्धालु, अपने प्रयत्नसे नित्ययुक्त और भगवान्में अपने मनको आविष्ट करके उपासना करता है।

२. विलष्ट भक्त—यह इन्द्रिय-संयम, समबुद्धि, सर्वभूतहितपरायण होकर निर्गुण निराकारकी उपासना करता है। यह तो निर्गुणसे प्रेम

करता है, परन्तु निर्गुण इससे प्रेम नहीं करता। देहाभिमानके कारण स्थिति भी बड़े प्रयत्नसे होती है।

३. अनुग्राह्य भक्त—सर्वकर्म भगवान्में समर्पण करके उन्हींके आश्रित रहकर अनन्य योगी हो जाता है। भगवान् स्वयं शघ्रसे शीघ्र उसपर अनुग्रह करके, भवसागरसे अपने हाथों उसका उद्धार करते हैं।

४. ईश्वरायण भक्त—अपना मन और बुद्धि भगवान्में अर्पित करके उन्हींमें निवास करता है।

५. अभ्यासायन भक्त—यह बार-बार अपनी वृत्तिको तदाकार करता रहता है।

५. पूजापरायण भक्त—यह भगवान्की पूजाके लिए कर्म करता है।

७. फलत्यागी भक्त—यह सब कर्म करता हुआ भी निष्काम होता है। भगवान्ने इसकी बड़ी प्रशंसा की है।

ये सातों भगवान्के लिए कृपापात्र भक्त हैं और इन्हें फलरूपमें भगवान्की ही प्राप्ति होती है। साधनमें सुगमता या कठिनता होती है, फलमें भेद नहीं होता।

इसके बाद भगवान्ने अपने ज्ञानी भक्तोंका वर्णन किया है। आर्त आदि चार प्रकारके भक्तोंमें अन्तिम ज्ञानी है। भगवान्ने उसे अपना अत्यन्त प्रिय बताया है। वह भगवान्का भक्त है, भगवान् उसके प्रेमी है—परस्पर दोउ चकोर दोउ चन्दा। भगवान्का प्रसाद, अनुग्रह अथवा प्रेम किसपर प्रकट होता है या कौन उसको ग्रहण कर सकता है, इसके उत्तरमें इन भक्तोंका वर्णन है।

१. अद्वेष्टा भक्त—यह स्वभावसे ही निर्वैर, शान्त, सहिष्णु एवं दृढ़निश्चयी होता है। इसके मन, बुद्धि भगवान्‌में अर्पित होते हैं।

२. अनुद्वेजक शान्त भक्त—यह उद्वेगके दान-आदानके व्यापारसे रहित है, निर्विकार है, शान्त है।

३. अनपेक्ष भक्त—इसको किसी वस्तु, व्यक्ति, स्थान, क्रिया, शिक्षा, राग और आरम्भकी आवश्यकता नहीं है। इसको कभी पीड़ा नहीं होती।

४. शमायन भक्त—इसका चित् शान्त भी है और कर्मविक्षेपसे मुक्त भी।

५. सम भक्त—यह शत्रु-मित्र, मान-अपमान, शीत-उष्ण, सुख-दुःख आदिमें सम रहता है और किसीमें आसक्त नहीं होता।

६. अनिकेत भक्त—जहाँ-कहीं जैसे-कैसे, सब कुछ कहता-सुनता, मौन एवं सन्तुष्ट रहता है।

७. श्रद्धान भक्त—यह ईश्वरके सम्बन्धमें कोई प्रत्यक्ष अनुभव न होनेपर भी श्रद्धामूलक विश्वाससे ही ईश्वरपरायण रहता है। इसका भोलापन देखकर भगवान् इसके प्रति अतीव प्रेम करते हैं।

इस प्रकार बारहवें अध्यायमें चौदह प्रकारके भक्तोंका निरूपण किया गया है। ये सब प्रभु-प्रसादके भाजन हैं। जो साधक हैं उनको और-और ऊँची स्थितियाँ प्राप्त होती हैं, जो सिद्ध हैं उन्हें नित्य निरन्तर भगवत्तत्त्वका अनुभव होता रहता है जीवन और मरणमें भी। यह प्रसाद-प्राप्तिका उपाय भी है और जिसे प्रसाद प्राप्त हो गया है, उसका लक्षण भी।

हम देखते हैं कि भगवद्भक्ति दुःख-दारिद्रयका दमन करती है, पाप-वासनाको भस्म करती है, राग-द्वेषका समूल उन्मूलन करती है, दोष-दुर्गुणका उच्छेद करती है, अविद्याकी जड़ उखाड़ फेंकती है, और प्रभु-प्रसादकी किरणोंसे आलोकित हृदयमें ज्ञानामृतकी वर्षा करती है। यही भक्ति तत्त्वज्ञानीके जीवनमें विलक्षण सुख रूप बनकर सहज स्वभावसे निवास करती है। उस समय यह हेतु-फलभावसे मुक्त हो जाती है और भगवत्तत्त्वसे अभिन्न ही होती है।

बारहवें अध्यायके इस प्रवचनमें इन्हीं बातोंके विवरणका प्रयास किया गया है। प्रवचन सुनकर भाई सुदर्शनसिंहजी 'चक्र' नोट कर लेते हैं और लिख देते हैं। मुझे पूरी तरहसे दुबारा देखनेका भी अवकाश नहीं मिलता। ब्र० प्रेमानन्द 'दादा'के अथक परिश्रमसे यह पुस्तक संन्यास-जयन्तीके अवसरपर प्रेमी पाठकोंके हाथोंमें पहुँच रही है। यदि किसीने प्रवचनोंसे कुछ भी लाभ उठाया तो सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्टका यह प्रयास सफल होगा।

बम्बई,
वसन्तपञ्चमी
सम्वत् २०२१ } —अखण्डानन्द सरस्वती

श्रीहरिः

भक्तियोगः

(श्रीमद्भगवद्गीतायाः द्वादशोऽध्यायः)

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥१॥

(पृष्ठ ८)

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥२॥

(पृष्ठ १६)

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥३॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥४॥

(पृष्ठ ३४)

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥५॥

(पृष्ठ ४२)

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥६॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥७॥

(पृष्ठ ४८)

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥८॥

(पृष्ठ ७४)

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय ॥९॥

(पृष्ठ ९०)

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥

(पृ १२१)

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥११॥

(पृष्ठ १३०)

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥१२॥

(पृष्ठ १४०)

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१३॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥

(पृष्ठ १५०)

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१५॥

(पृष्ठ २०६)

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१६॥

(पृष्ठ २२३)

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥१७॥

(पृष्ठ २४४)

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥१८॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥१९॥

(पृष्ठ २६९)

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥२०॥

(पृष्ठ ३३९)

ॐतत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥

●
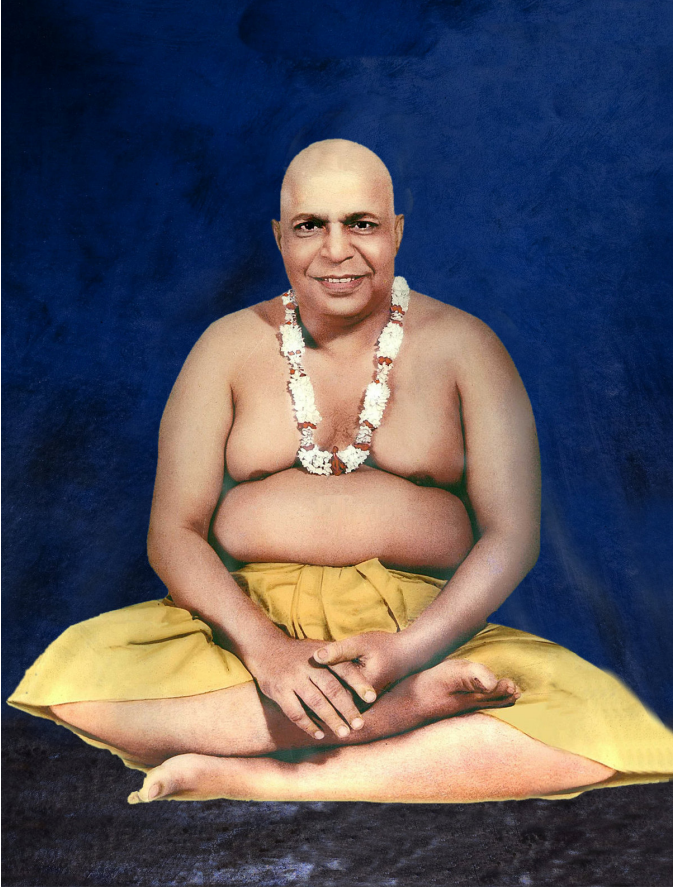
पूज्य अनन्त श्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

'एकं सद विप्रा बहुधा वदन्ति'

उपोद्घात

भगवान्ने गीताके ग्यारहवें अध्यायके[1] अन्तिम श्लोकमें भक्तिका सूत्र बतलाया है। बारहवें अध्याय में इसी सूत्रकी व्याख्या है। इस श्लोकमें पांच बातें कही गयी हैं। उनमें-से तीन भगवान्के सम्बन्धमें हैं—१. मत्कर्मकृत् २. मत्परमः ३. मद्भक्तः और दो बातें संसारके सम्बन्धमें हैं—१. सङ्गवर्जितः तथा २. निर्वैरः सर्वभूतेषु।

भगवान्ने यहां इस श्लोकमें बताया कि उनकी प्राप्तिका कौन

---

१. मत्कर्मकृन्मत्परमः मद्भक्तः संगवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥ ११.५५

अधिकारी है ? कौन उनके धाममें जा सकता है ? कैसे व्यक्तिको भगवत्-प्राप्ति होती है ?

१. मत्कर्मकृत् अर्थात् मदर्थकर्मकृत् भगवान्‌के लिए काम करनेवाला। देखना यह है कि मनुष्य किसके लिए कर्म करता है ? पुत्रके लिए ? स्त्रीके लिए ? धनके लिए ? अथवा अपने शरीरको सुख देनेके लिए ? कर्म होता है शरीर, मन तथा इन्द्रियोंके संयोगसे। जैसे झाड़ू लगानेका काम है। किसलिए झाड़ू लगाया जा रहा है ? क्या इसलिए कि झाड़ू लगानेसे पैसे मिलेंगे और उससे सिनेमा जायँगे अथवा उस पैसेसे पत्नी या पुत्रके लिए कुछ वस्तु घर ले जायँगे ? अथवा पैसेसे अभिमान बढ़ाना है ? बहुत लोग पैसेसे अपने या अपने परिवारके लिए कोई सुख-सुविधा नहीं प्राप्त करते। पैसे बैंकमें जमा करके उन्हें यह अभिमान होता है कि हमारे पास इतना धन है। ऐसा कर्म करनेवाले संसारी लोग हैं। भक्त कर्म करता है भगवान्‌के लिए। मकानमें झाड़ू देना है तो वह भी भगवान्‌के लिए। सभी रूपोंमें भगवान् ही हैं। वे किसी रूपमें यहाँ आयें तो उनके चरणोंमें काँटा-कंकड़ अथवा धूलि न लगे, उन्हें अस्वच्छ स्थान प्राप्त न हो, इसलिए वह झाड़ू लगाता है। यह निष्काम कर्मयोग हुआ।

२. मत्परमः दूसरी बात यह है कि आप श्रेष्ठ किसे मानते हैं और आपका भरोसा किसपर है ? विश्वास-भरोसा ईश्वरपर होना चाहिए और उसीको सर्वश्रेष्ठ तत्त्व समझना चाहिए। धन हो या स्त्री, आप उसपर निर्भर नहीं रह सकते। उसे आप सर्वश्रेष्ठ मान नहीं सकते। रोग आनेपर आप धनको शरीर-रक्षाके लिए कष्ट-निवारणके लिए लुटा देते हैं। स्त्री-पुत्र आदि सबको मनुष्य प्राणसंकटमें पड़नेपर छोड़कर भागता है। अतः आप देखें कि आपने जीवनमें सबसे बड़ी वस्तु किसे माना है ? प्रार्थना क्या है ?

प्रकृष्ट वस्तुको प्राप्त करनेकी इच्छा करना। भक्त वह है जो भगवान्‌को ही सबसे श्रेष्ठ मानता है। भगवान्‌पर ही भरोसा करता है। इस प्रकार यह शरणागतिका निरूपण हुआ।

३. मद्भक्तः आप प्रेम कहाँ, किससे करते हैं? भक्त केवल भगवान्‌से प्रेम करता है। जिसका स्त्री-पुत्र, धन-यश तथा देहमें प्रेम है, वह संसारी है।

यहाँ तक कि ये तीनों बातें भगवान्‌के सम्बन्धमें कही गयी हैं। अब आगेकी दो बातें संसारके सम्बन्धमें हैं।

४. संगवर्जितः आसक्ति कहीं मत करो। संसारके किसी पदार्थ या प्राणीमें राग करोगे तो फँसोगे।

५. निर्वैरः सर्वभूतेषु सम्पूर्ण प्राणियोंसे वैरहीन रहो। एक वृक्ष होता है, जिसका फल बेर (बदरीफल) है। इस वृक्षकी लकड़ीकी अग्नि दूसरी सब लकड़ियोंसे अधिक ताप देती है। अतः बहुत शीत लगनेपर लोग बेरकी लकड़ी जलाकर ठण्ड दूर करते हैं। शीत-निवारणके लिए बाहर बेरकी (बेरकाष्ठकी) अग्नि भले जला लो; किन्तु हृदयमें बेरकी अग्नि जलाओगे तो हृदय जलेगा। अतः राग और द्वेष दोनों यहाँ मत करो।

यह संसार मायिक है। मायिक अर्थात् मायाका। मायिक = माइ—का = पितृगृह, जैसे किसी लड़कीका मायका (पीहर-पितृगृह) होता है। लड़की भले पिताके घर आये, किन्तु उसका वास्तविक घर तो पतिका घर है। इसी प्रकार जीवका वास्तविक घर अपना स्थान परमात्मा है। अतः वहीं हमें जाना है, यह दृढ़ निश्चय रक्खो।

उस अपने घरमें कौन-से वस्त्र पहनकर जाना है? सन्तोंने प्रायः साड़ीकी चर्चा अपनी वाणियोंमें की है। बात यह है कि

अन्तःकरणकी वृत्ति स्त्रीभावापन्न है। कोई ज्ञानी हो या योगी, मूर्ख हो या विद्वान्, अन्तःकरणकी वृत्ति तो सबकी ही स्त्री-भावापन्न है। जैसे लता वृक्षके आश्रित रहती है, जैसे स्त्री पतिके आश्रित रहती है, वैसे ही वृत्ति आत्माश्रित रहती है। अतः यह वृत्ति कौन-सा वस्त्र, कौन-सी साड़ी पहनकर उस अपने परमपुरुषके यहाँ जाय ? यही बात इस श्लोकमें बतायी गयी है। चित्तमें प्रीति होनी चाहिए, यह बात **मद्भक्तः**के द्वारा कही गयी। मनमें भगवान्का विश्वास तथा बुद्धिमें भगवान् ही सर्वोत्कृष्ट हैं : यह निश्चय होना चाहिए। यह बात **मत्परमः**से बतायी गयी और शरीरसे भगवान्के लिए ही कर्म हों, यह **मत्कर्मकृत्** से सूचित किया गया। भक्तिके इसी सूत्रकी व्याख्या बारहवें अध्यायमें है।

भक्तिशास्त्रमें बारहकी संख्याका बहुत महत्त्व है। द्वादशीको हरिवासर कहते हैं। वैष्णवजन एकादशीका व्रत द्वादशीकी प्रधानतासे ही करते हैं। द्वादशाक्षर मन्त्र है और भागवतमें द्वादश स्कन्ध हैं। नारायणका आदित्य-स्वरूप द्वादशात्मा है और उसमें भी बारहवें आदित्य वामन हैं। भगवान् पहले वामन-रूपमें ही अदितिके यहाँ प्रकट होते हैं। दैत्यराज बलिसे तीन पद भूमि लेनेके पश्चात् वे त्रिविक्रम हो जाते हैं और बलिको रसातल भेजकर फिर त्रिविक्रम-रूप त्याग देते हैं। इस कथाका साधकके जीवनमें भी एक तात्पर्य है। भगवान् आपके चित्तमें पहले वामन-रूपमें छोटे-से होकर ही आते हैं। वे पहले बोलते-चलते, हँसते-खेलते, खाते-पीते नहीं हैं। आप अपने प्रेमसे, अपनी भावनासे उन्हें बोलता-चलता, हँसता-खेलता, खाता-पीता बनाइये। फिर वे त्रिविक्रम हो जायँगे। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओं-को व्याप्त कर लेंगे। सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणोंको क्रान्त कर

लेंगे। फिर इस त्रिविक्रम रूपका भी त्याग करके वे तुरीय-स्वरूप ही शेष रहेंगे।

इस प्रकार भक्तिशास्त्रमें जो द्वादश संख्याका महत्त्व है उसीकी परम्परामें गीताके बारहवें आध्यायको ही भक्तियोगका निरूपण करनेके लिए उपयुक्त चुना गया।

ग्यारहवें अध्यायमें भगवान्के तीनों रूपोंका वर्णन है। पहला विराट् रूप जो भगवान्ने अर्जुनको दिखलाया—वह रूप प्रत्यक्ष नहीं था। अर्जुनको दिव्य दृष्टि प्रदान करके भगवान्ने अपने इस रूपका दर्शन कराया—

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्॥ ११.८

भगवान् श्रीकृष्ण द्वारिकामें प्रायः चतुर्भुज-रूपसे ही रहते थे। श्रीमद्‌भागवतके दशम स्कन्धके रुक्मिणी-परिहासमें यह बात आयी है कि जब रुक्मिणीजी मूर्च्छित हो गयीं तो उन्हें चतुर्भुज भगवान्ने उठाया **तामुत्थाप्य चतुर्भुजः**। पौण्ड्रक वासुदेव (मिथ्या वासुदेव) श्रीकृष्णकी नकल करके दो कृत्रिम भुजाएँ लगाये रहता था। यदि श्रीकृष्ण चतुर्भुज न रहते तो उसे ऐसा नहीं करना पड़ता। उसके साथ युद्धमें भी श्रीकृष्णके चतुर्भुज-रूपका वर्णन है। महाभारतमें अर्जुनके रथपर भगवान् चतुर्भुज रूपमें ही सारथिके स्थानपर बैठते थे। इसलिए गीताके ग्यारहवें अध्यायमें स्तुति करते हुए अर्जुन कहता है—

तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते।
११.४६

अर्थात् हे सहस्रबाहु, विश्वमूर्ति ! आप जैसे पहले चतुर्भुजी रूपसे मेरे रथपर विराजमान थे, वैसी उसी चतुर्भुज रूपमें फिर

हो जाइये। अतः चतुर्भुज रूप अर्जुनके लिए सदा प्रत्यक्ष था। विराट् रूपको देखकर अर्जुन अत्यन्त विह्वल हो गया। इसलिए उसका धैर्य देनेके लिए करुणापरवश श्रीकृष्णने अपना द्विभुज रूप प्रकट किया। ग्यारहवें अध्यायमें वर्णित इन तीन सगुण रूपोंमें-से किस रूपकी उपासनाकी बात गीताके बारहवें अध्यायमें है, यह प्रश्न टीकाकारोंने उठाया है। इस कारण गीताके बारहवें अध्यायकी अर्थसंगति तीन प्रकारसे टीकाकारोंने की है।

श्रीशंकराचार्य आदि प्राचीन टीकाकार मानते हैं कि बारहवें अध्यायमें भगवान्‌के विराट् रूपकी—सम्पूर्ण विश्वात्मक रूपकी भक्तिका निरूपण है। क्योंकि भगवान्‌ने अर्जुनको **दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्** कहकर दिव्यदृष्टि-दान करके इसी रूपका दर्शन कराया।

कुछ अन्य टीकाकारोंका—श्रीरामानुजाचार्यादिका मत है कि इस अध्यायमें भगवान्‌के चतुर्भुज नारायण रूपकी भक्तिका प्रतिपादन है। विराट् रूप देखकर तो अर्जुन भयसे विह्वल हो गया था। अतः विराट् रूपकी भक्ति उसे क्यों समझायी जायगी। अर्जुनने स्वयं—**तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते** यह प्रार्थना की। अतः भक्तकी प्रार्थनापर जिस रूपका आविर्भाव हुआ, उस रूपकी उपासनाका आगेके अध्यायमें प्रतिपादन है।

कुछ श्रीकृष्ण भक्त टीकाकारोंका मत उक्त दोनों मतोंसे भिन्न है। वे कहते हैं कि स्वयं अनुग्रह करके अर्जुनको सम्पूर्ण रूपसे आश्वस्त करनेके लिए भगवान्‌के जिस द्विभुज मानुष रूपका प्राकट्य हुआ, बारहवें अध्यायमें उसकी उपासनाका प्रतिपादन किया गया है।

•

भक्तियोग

[श्रीमद्भगवद्गीताका बारहवाँ अध्याय]

: १ :

● *संगति*

बारहवें अध्यायके प्रारम्भमें अर्जुन यह प्रश्न नहीं कर रहा है कि ज्ञान श्रेष्ठ है या भक्ति ? निर्गुणतत्त्व श्रेष्ठ है या सगुणतत्त्व ? प्रश्न यह किया गया है कि उपासना किसकी सुगम है—सगुणकी या निर्गुणकी ? ग्यारहवें अध्यायमें जो तीन रूप भगवान्‌ने प्रकट किये, उन विराट्, चतुर्भुज तथा द्विभुज रूपोंकी उपासना सुगम है अथवा निराकार अक्षरकी ? उनमें विशेषको जाननेके लिए प्रश्न किया गया है ।

भगवान्‌ने ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् यह तो पहले ही कहा है। यहाँ ज्ञानकी बात है, निर्गुन-अव्यक्त, अक्षरतत्त्वकी उपासना तथा सगुणकी उपासना की। इसलिए उत्तर देते समय भगवान्‌ने कहा कि फल दोनोंका समान है। देहाभिमानरहितके लिए निर्गुणकी और देहाभिमानयुक्तके लिए सगुणकी उपासना सुगम है। देहाभिमानीके लिए निर्गुणकी उपासना कठिन है।

अथ द्वादशोऽध्याय:

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥१॥

अर्जुनने प्रश्न किया—इस प्रकार (जैसे ग्यारहवें अध्यायके अन्तिम श्लोकमें **मत्कर्मकृत्** आदिसे कहा गया है, वैसे) जो भक्त निरन्तर—सर्वदा आपकी उपासना करते हैं और जो अक्षर, अव्यक्तकी उपासना करते हैं, इन दोनों में योग को श्रेष्ठ स्थितिका ज्ञाता कौन है?

अर्जुन उवाच—प्रश्न अर्जुन कर रहा है। महाभारतके टीकाकारने अर्जुनका अर्थ किया है—सरलचित्त। प्रश्नकर्ताको सरल-हृदय होना चाहिए। जिस प्रश्नका उत्तर प्रश्नकर्ताको ज्ञात है अथवा जिसके सम्बन्धमें उसकी मान्यता निश्चित है, उसके विषयमें प्रश्न नहीं करना चाहिए। जब चित्तमें सचमुच जिज्ञासा हो, कोई शंका अथवा संशय हो, तभी प्रश्न करना चाहिए।

अर्जुनने भक्तका स्वरूप बतलाया है—**सततयुक्ताः** भक्त निरन्तर भगवान्‌से संयुक्त रहता है। भगवान्‌ने भी कहा है—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते। १२.२

भक्ति जीवको भगवान्‌से जोड़नेकी लाइन है। जैसे हमारे घरका बिजलीका बल्ब पावर हाउससे लाइनके द्वारा जुड़ा है। यदि लाइन कट जाय तो बल्बमें प्रकाश नहीं रहेगा। ऐसे ही भक्त भक्तिके द्वारा निरन्तर भगवान्‌से जुड़ा है। भक्तिका अर्थ है विभाग। सम्पूर्ण जगत्‌में व्याप्त परमात्माकी सत्ता, ज्ञान तथा आनन्द हमारे सम्बन्धको जगत्‌से विभक्त करके भगवान्‌के साथ सम्बन्ध कराती है, उसे भक्ति कहते हैं। अतः **सततयुक्ताः** अर्थात् भक्तिकी धारा कभी टूटे नहीं।

पर्युपासते परि—सर्वत्र अर्थात् सर्वत्र भगवान्‌को देखता है। यहाँ 'सतत'के द्वारा बताया गया कि सर्वकालमें उपासना करता है। 'पर्युपासते'के द्वारा कहा गया कि सर्वदेशमें उपासना करता है। इस प्रकार यहाँ भक्तिके गम्भीर स्वरूपका निरूपण है। निर्गुण उपासना तथा सगुण उपासनाकी यहाँ तुलना है। अतएव सगुण उपासनाके गम्भीर स्वरूपका ही विवेचन है।

'भक्ति' शब्द व्याकरणके अनुसार दो धातुओंसे बनता है **भज् सेवायाम्** तथा **भञ्जो आमर्दने। भजनं भक्तिः**—प्रेमपूर्वक भजन करना भक्ति है तथा **भज्यते अनया इति भक्तिः** भगवान्‌के अतिरिक्त दूसरे सबसे सम्बन्ध तोड़ देना भक्ति है।

हरि सों जोरि सबन सों तोरयौ।

संसारमें यदि किसीसे भी और कहीं भी सम्बन्ध है तो केवल भगवान्‌के नाते ही है। किसीसे अपना कोई स्वतन्त्र सम्बन्ध नहीं है। संसारमें पिता-पुत्र, पति-पत्नी आदिका सम्बन्ध स्वतन्त्र सम्बन्ध

होता है। लेकिन भक्तका किसीसे स्वतन्त्र सम्बन्ध नहीं होता। जैसे गुरुभाई या गुरुबहन आदि सम्बन्ध गुरुके नाते हैं। अब यदि कोई गुरुको तो छोड़ दे और गुरुभाई या गुरुबहनसे सम्बन्ध बनाये रखे तो यह स्वतन्त्र सम्बन्ध हो गया। अब पतिका छोटा भाई उसका देवर, पतिका पिता श्वसुर, पतिकी माता सास—इस प्रकार पतिके नाते उसके सब सम्बन्ध बन गये। यदि पतिके साथ विवाह-विच्छेद हो जाय तो फिर उस देवर, ससुर आदिका सम्बन्ध बनाये रखना कैसा है ?

जाके प्रिय न राम-वैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी-सम जद्यपि परम सनेही।
तजेउ पिता प्रहलाद, विभीषण बंधु, भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो, कंत ब्रजबनितनि भये मुद मंगलकारी॥
नाते नेह रामके मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं।
अंजन कहा आँखि जेहि फूटे बहुतक कहौं कहाँ लौं॥
तुलसी सो सब भाँति परम हितु पूज्य प्रान तें प्यारो।
जाते होइ सनेह रामपद एतो मतो हमारो॥

भगवान्‌के साथ सेवाका, विश्वासका तथा प्रेमका सम्बन्ध जोड़ लेना ही भक्तियोग है। योग अर्थात् लगे रहना। सतत = अखण्ड जैसे गंगाजीकी धारा अखण्डरूप से समुद्र में गिरती है।

हरि से लागा रहु रे भाई। तेरी बनत बनत बन जाई॥

द्रुतस्य भगवद्धर्माद्धारावाहिकतां गता।
सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते॥

भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, लीला, सौन्दर्य-माधुर्यका श्रवण करके चित्त द्रवित हो अर्थात् पहलेसे पकड़े हुए आकारको त्याग दे। लाख, जस्ता, चाँदी, सोनेको गलाते हैं तो क्या होता है ? पहले

उसमें जो आकार था वह नष्ट हो जाता है। सोना पहिले कंगन था; किन्तु पिघलाये जानेपर उसने कंकणाकार छोड़ दिया। इसी प्रकार चित्तमें जो पहले स्त्री, पुत्र, भवन, धन आदिका आकार था, द्रवित होनेपर चित्तने वह आकार त्याग दिया। अब उसे भगवान्के आकारवाले साँचेमें ढालो। नेत्र बन्द करनेपर पहले पुत्र-स्त्री, भवन-मोटर दीखती थी, अब मुरलीमनोहर श्यामसुन्दर अथवा धनुषधारी लक्ष्मणाग्रज या चतुर्भुज मेघवर्ण श्रीनारायण दीखते हैं। इसको भक्ति कहते हैं।

यह भक्ति सतत होनी चाहिए। 'सतत' शब्द गीतामें बहुत बार आया है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः। ८.१४

भगवान्को सतत चिन्तन करनेवाला प्रेमी चाहिए।

'सतत'का एक अर्थ और है। 'तत' कहते हैं तारको। 'सतत'का अर्थ तारवाली तन्त्री—वीणा। अतः वीणा बजाकर—गाकर रसमयी भक्ति करो। भक्तिमें छिपाव-दुराव नहीं है। वह तो डंका बजाकर—गाकर, कीर्तन करके की जाती है—

विलज्ज उद्गायति नृत्यते च मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति।

जो लोग छिपाकर भक्ति करते हैं उन्हें अनेक बार संकोचवश दूसरे जान न जायें, इस भयसे कीर्तन, भजन, सत्संगसे वञ्चित रहना पड़ता है। छिपाकर करनेके कार्य हैं चोरी, बेइमानी अनाचार आदि। भक्ति तो प्रकट करनी चाहिए।

सततयुक्ताःका अर्थ है कि भक्ति मनोवृत्तिमात्र नहीं है। मनोवृत्ति सतत नहीं रहती वह सुषुप्तिमें तमोगुणमें लीन हो जाती है। तमोगुणका अर्थ है स्थूल देह, हड्डी-मांस-चर्मादिसे बना यह देह तमोगुणका कार्य है। मनोवृत्तियाँ इसी द्रव्यात्मक शरीरमें

लीन हो जाती हैं। शरीरका स्पर्श करो, इसे हिलाओ-डुलाओ तो वे जागें। लेकिन भक्ति तो ऐसी वस्तु है जो मनोवृत्तियोंके लीन हो जानेपर भी रहती है। स्मृति तथा विस्मृति दोनोंमें वह रहती है, इसीसे उसे सतत रखा जा सकता है।

पुत्रका स्मरण होना एक बात है, उसे भूल जाना दूसरी और उससे प्रेम होना—इन दोनोंसे भिन्न बात है। कार्य करते समय पुत्रका स्मरण नहीं रहता; किन्तु इससे पुत्रमें जो प्रेम है, वह घट तो नहीं जाता। इसी प्रकार कार्यके समय तथा निद्रामें पति, पुत्र धन आदि सब भूल जाते हैं; किन्तु उनका प्रेम बना रहता है। प्रेम विस्मृतिसे भूल जानेसे नष्ट नहीं होता और स्मरण करनेसे उत्पन्न नहीं होता। वह स्मृति-विस्मृतिसे भिन्न है। वह रागात्मक संस्कार है। भक्ति रागात्मक संस्कार है। अतः ऐसी भक्ति करो कि वह तुम्हारी नस-नसमें समा जाय।

एक बार अर्जुन जब द्वारिकामें थे, श्रीकृष्णके राजभवनमें सो गये। सोते हुए उनके श्वाससे 'कृष्ण, कृष्ण'की ध्वनि निकलने लगी। जागते हुए लोगोंका नाम-संकीर्तन तो श्रीकृष्णचन्द्रने बहुत सुना था, किन्तु यह सोते हुए अर्जुनके श्वाससे निकलती नाम-ध्वनि पहली बार सुनायी पड़ी थी। भगवान् श्रीकृष्ण प्रेम-गद्गद शान्त होकर उसे सुनने लगे। उधर महारानी रुक्मिणीके राज-भवनमें कोई उत्सव था। उसमें पूजन, दानके लिए समयपर श्रीकृष्णचन्द्र नहीं आये तो रुक्मिणीजीको चिन्ता हुई। देवर्षि नारदने कहा 'मैं बुला लाता हूँ।'

देवर्षि पहुँचे तो श्रीकृष्णने संकेत कर दिया कि 'चुप रहिये! बोलिये मत!' अर्जुनके श्वाससे निकलती नाम-ध्वनि सुनकर देवर्षि भी प्रेम-विभोर हो गये और अपनी वीणापर धीरे-धीरे अँगुली चलाने लगे। जब देर तक नारदजी नहीं लौटे तो सत्यभामाजीजी बुलाने

आयीं। द्वारिकाधीशने उन्हें भी चुप रहनेका संकेत कर दिया। वे भी उस ध्वनिसे प्रेममग्न होकर तालो बजाकर ताल देने लगीं। इन्हें भी जब देर हुई तो स्वयं महारानी रुक्मिणी पधारीं; उन्होंने भी जब अर्जुनके श्वाससे निकलती 'कृष्ण, कृष्ण'की ध्वनि सुनी, देवर्षिको वीणा बजाते, सत्यभामाको ताल देते तथा श्रीकृष्णको प्रेम-विभोर देखा तो वे प्रेम-विह्वल होकर नृत्य करने लगीं। उन्हें नृत्य करते देखकर नटनागर भी नाचने लगे। प्रेमके इस आवेशमें सब यह भूल गये कि अर्जुन सो रहे हैं। इस नृत्य-संगीतके कोलाहलसे अर्जुन जागे तो चकित रह गये। उन्होंने पूछा—आज यह उत्सव कैसा ? भगवान् बोले—'अर्जुन ! आज तुम्हारे दिलका राज जाहिर हो गया, इसीलिए यह उत्सव हो रहा है।

इस कथाका तात्पर्य यह है कि भक्त भगवान्से सदा युक्त रहे। जागते-सोते, चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते सभी स्थितियोंमें कृष्णसे जुड़ा रहे।

सङ्गवर्जितः दूसरे किसीका चिन्तन नहीं, किसीमें राग आसक्ति नहीं होनी चाहिए। जो दूसरोंका चिन्तन करते हैं, वे रागसे चिन्तन करें या द्वेषसे वे संसारी पुरुष हैं। बिना राग-द्वेषके भी मनोराज्य होता है। भगवान्को छोड़कर अन्यका चिन्तन बिना-राग-द्वेषके भी संसारी पुरुष ही करता है। अतः जो अन्यका चिन्तन करता ही नहीं, केवल भगवान्का चिन्तन करता है और **पर्युपासते** जहाँ कहीं भी 'रनमें, वनमें' है, सर्वत्र चिन्तन करता है, ऐसा सब देशमें तथा सब कालमें उपासना करनेवाला भक्त है। ऐसा भक्त और जो अव्यक्त, अक्षरकी उपासना करता है, इन दोनोंमें योगका श्रेष्ठ ज्ञाता कौन है ? यह अर्जुनका प्रश्न है।

गीतामें दूसरे अध्यायसे लेकर दसवें अध्याय तक यह स्पष्ट नहीं होता कि उपासना साकारकी या निराकारकी। ग्यारहवें

अध्यायमें आकर ही साकारोपासना स्पष्ट होती है। इस ग्यारहवें अध्यायमें भगवान्‌ने बार-बार अपने साकार रूपको देखनेकी बात कही है।

> न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा। ११.८
> सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम। ११.५२
> नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
> शक्य एवं विधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥ ११.५३
> भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवं विधोऽर्जुन।
> ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥ ११.५४

अतः अर्जुन पूछता है कि एक तो वे भक्त हैं, जिनका वर्णन आपने ग्यारहवें अध्यायमें मत्कर्मकृन्मत्परमः आदिसे वर्णन किया है और दूसरे अव्यक्त, अक्षरके उपासक हैं। इनमें योगका श्रेष्ठ ज्ञाता कौन है ?

अक्षरका अर्थ है अविनाशी, जो क्षरित न हो। 'अ' यह अक्षर है। हिन्दी, गुजराती, बंगला, अंग्रेजी आदि चाहे जो भाषा हो, उसमें 'अ' लिखनेकी शैली तो भिन्न-भिन्न होगी। 'अ'का रूप, आकृति भिन्न-भिन्न बनेगी; किन्तु बोलना होगा तब उसे सब 'अ' कहेंगे।

अक्षरावगमे लभ्यते यथा स्थूलवर्तुलदृषत्परिग्रहः।

छोटे-छोटे पत्थरके टुकड़ोंसे 'अ'का आकार बना दो तो वे पत्थरके टुकड़े 'अ' नहीं हैं और न उन टुकड़ोंसे बनी आकृति 'अ' है। लिपि और अक्षरमें भेद है। अक्षर तो वह है जो मुखसे बोला जाता है।

संसारमें इसी प्रकार आकृतियाँ भिन्न-भिन्न हैं। देवी स्त्रीकी आकृतिमें, नारायण चतुर्भुज पुरुषाकार, सूर्य ज्योतिर्मय, गणेश

तुन्दिल शुण्डधारी, शंकरजी त्रिलोचन या लिङ्गमूर्ति; किन्तु सबमें जो ईश्वर है, वह एक है, अक्षर है। इसी प्रकार संस्कारके समस्त रूप चाहे वे उद्भिज्ज हों, स्वेदज हों, अण्डज हों या पिण्डज हों आकृति उनकी भिन्न-भिन्न है। लेकिन इन सब रूपोंमें जो इनसे परे रहता हुआ भी व्याप्त है, वह अक्षर है।

व्याकरणके महाभाष्यकार महर्षि पतञ्जलिने परिभाषा की है। **अश्नुते-इति अक्षरः** यहाँ **अनुश्ते व्याप्नोतिके** अर्थमें है। सबमें व्याप्त जो अविनाशी है वह अक्षर है। **क्षराद् व्यक्तिरिक्तः अक्षरः** जो क्षरसे भिन्न है, वह अक्षर है।

क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षरमुच्यते। १५.१५

ये तीन परिभाषाएँ अक्षरकी व्याकरणके अनुसार हैं। वेदान्ती कहते हैं—**नास्ति क्षरः यस्मिन् स अक्षरः** जिसमें क्षर सत्ता है ही नहीं केवल प्रतीयमान है, जो अव्यक्तसे व्यक्त होता ही नहीं, उसमें केवल व्यक्तका विवर्त होता है, उसकी उपासना अर्थात् कार्य-कारणका निषेध करके जो अकार्य अकारण तत्त्व है, द्रष्टा-दृश्यका निषेध करके जो आनन्दमात्र है, उसमें चित्तका तादात्म्य।

तेषां के योगवित्तमाः योगका अर्थ है परमात्माकी प्राप्तिका साधन। विद्=ज्ञाता और वित्तर=अच्छा ज्ञाता तथा वित्तम=श्रेष्ठ ज्ञाता। अर्जुन पूछता है कि जो आपके विराट्, चतुर्भुज अथवा द्विभुज रूपका सर्व देश, सर्व कालमें निरन्तर स्मरण करनेवाले हैं और जो विषयका बाध करके सत्तामात्रमें चित्तका तादात्म्य करनेवाले हैं, इन दोनोंमें-से परमात्माकी प्राप्तिका साधन जाननेमें कौन श्रेष्ठ है, जिसने उत्तम प्रकारसे परमात्माकी प्राप्तिके साधनको जाना है?

●

: २ :

● *संगति*

अर्जुनने एक ओर अक्षर-अव्यक्तको रखा और एक ओर सगुणको। इन दोनोंकी उपासनाका फल एक ही है, यह भगवान्ने प्रारम्भमें ही कह दिया। दोनोंके अधिकारी भिन्न-भिन्न हैं। अतः दोनोंमें योगको जाननेवाला श्रेष्ठ कौन ? यह प्रश्न होनेपर भी भगवान् उत्तर इस प्रकार देते हैं कि दोनों साधनोंमें-से देहाभिमानीके लिए सुगम साधन कौन-सा है ?

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥२॥

श्रीभगवान्ने कहा—जो परम श्रद्धालु नित्ययुक्त रहकर मुझमें अपना मन आविष्ट कर देते हैं और मेरी उपासना करते हैं, वे मेरे मतमें युक्ततम हैं।

मेरे एक मित्र थे। वे अच्छे फक्कड़ स्वभावके थे। वे कहते थे कि 'जो पहले जगत्को, फिर सगुण-साकारको, तदनन्तर-सगुण निराकारको चित्तसे हटाकर निर्गुण रूपकी उपासना करते हैं, उनको तो केवल निर्गुण रूपकी प्राप्ति होती है। लेकिन जो सगुण साकारकी उपासना करते हैं, उन्हें सगुण-साकार रूपकी प्राप्ति तो होती ही है, सगुण-निराकार तथा निर्गुण-निराकारकी प्राप्ति भी होती है। क्योंकि सगुण-साकारमें सगुण-निराकार तथा निर्गुण-निराकार भी हैं ही। जैसे कोई श्रीकृष्णकी उपासना करता है तो उसे श्रीकृष्णकी प्राप्ति तो होगी ही; किन्तु श्रीकृष्ण स्वयं श्रीनारायणके अवतार हैं। अतः उसे नारायणकी प्राप्ति भी हो गयी। अन्तर्यामी सगुण-निराकारकी भी उसे प्राप्ति हुई; क्योंकि

वह श्रीकृष्णमें है और निर्गुण-निराकार सर्वस्वरूप, सर्वव्यापक होनेसे, वह भी प्राप्त हो गया। अतएव श्रीकृष्णकी उपासनासे सबकी उपासना हो गयी।

यहाँ यह बात ध्यानमें रखनी चाहिए कि अध्यात्मविद्या राग-द्वेष मिटानेके लिए है। कोई भी आध्यात्मिक साधन हो, उसका प्रयोजन राग-द्वेषको दूर करना है, राग-द्वेषको दृढ़ करना नहीं। अतः सगुण या निर्गुणतत्त्वका चिन्तन इस बातको समझकर करना चाहिए। कहीं राग और द्वेष दृढ़ होने लगें तो समझना चाहिए कि अध्यात्मविद्याका तात्पर्य समझनेमें भूल हो रही है।

महात्माके पास जाकर हम पूछें कि परमात्मा कैसा है? तो महात्मा दो प्रकारसे उत्तर देते हैं। कोई महात्मा परमात्माके सगुण रूप, गुण, लीला आदिका वर्णन करके अथवा परमात्माके निराकार रूपको बताकर कहते हैं कि उसकी उपासना करो। दूसरे प्रकारके महात्मा कहते हैं कि मैं परमात्मा हूँ **अहं ब्रह्मास्मि** मेरी उपासना करो। श्रीकृष्णने कहा—'जो मेरी उपासना करता है, वह योगके रहस्यको ठीक-ठीक जानता है।'

अब कोई कहे कि जैसा हड्डी, मांस, चर्म आदिका शरीर आपका, वैसा ही शरीर मेरा। ऐसी अवस्थामें आप परमात्मा हैं और मैं नहीं हूँ; यह कैसे हो सकता है? इसके उत्तरमें श्रीकृष्ण कह सकते हैं—'मैं अपनेको जैसा जानता हूँ, जैसा बतलाता हूँ, वह मैं हूँ। तुम जैसा मुझे जानते हो, वैसा मैं नहीं हूँ। तुम्हारी दृष्टिमें जो यह हड्डी, मांस, चर्मका शरीर है, इससे ऊपर उठकर देखो।'

तात्पर्य यह है कि जिस महात्माने कहा कि परमात्मा ऐसा है, इस प्रकारका है, उसने तो परोक्ष रूपसे परमात्माको बतलाया, किन्तु जिसने कहा—'मैं परमात्मा हूँ' उसने तो प्रत्यक्ष रूपसे ही परमात्माको बतलाया। परमात्माको बतलानेकी दो ही रीतियाँ हैं। एक रीति

तो योगवासिष्ठमें है। उसमें वसिष्ठजी श्रीरामसे कहते हे—'हे राम, तुम्हीं ब्रह्म हो !' श्रुतिने **तत्त्वमसि** कहा है इस रूपमें। दूसरी रीति है **अहं ब्रह्मास्मि** मैं ही परमात्मा हूँ, यह बात गीतामें श्रीकृष्ण कहते हैं। एक बार यह कल्पना कर लो कि अर्जुनके रथपर सारथि बनकर जो काला-कलूटा गाँवका ग्वाला बैठा है, वह ब्रह्मविद् है। यह बात मैं उनकी दृष्टिसे कह रहा हूँ, जो श्रीकृष्णको ईश्वर नहीं मानते। उन्हें अवतार नहीं मानते। उन्हें महापुरुष योगीश्वर मानते हैं। उनकी दृष्टिसे ही हम बात प्रारम्भ करते हैं। श्रीउड़िया बाबाजी महाराजसे किसीने पूछा—'आपका आत्मा ब्रह्म है या यह जो आप हमें दीखते हैं, इसी रूपमें आप ब्रह्म हैं ?'

बाबा बोले—'अरे मूर्ख, यह देह ही ब्रह्म है।' क्योंकि नाम-रूपका निषेध तो जिज्ञासुको अपने अज्ञानकी निवृत्तिके लिए करना पड़ता है। **नाम-रूपात्मक जगत्में सत्यत्व-बुद्धि-निराकरणके लिए** जिज्ञासुको निषेधकी आवश्यकता है। ब्रह्मवेत्ताके लिए नाम-रूपके निषेधकी आवश्यकता नहीं है। उसके लिए तो श्रुतिने **सर्वं खल्विदं ब्रह्म ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्** आदि कहा है।

अब महापुरुषकी बात छोड़कर भगवान्‌की बात करें। यदि श्रीकृष्णका स्थूल देह तुम्हें ब्रह्म नहीं लगता तो उनका जो जगत्का-रण रूप भावनात्मक दिव्य देह है उसे ब्रह्म मान लो। यदि वह दिव्यदेह भी ब्रह्म नहीं लगता तो उनके आत्माको ब्रह्म समझ लो।

अर्जुनके रथपर सारथिके रूपमें यह जो मेघसुन्दर, पीताम्बर-धारी, मयूरमुकुटी बैठे हैं—ये साक्षात् भगवान् हैं। तुम सबके शरीररूपी रथमें भी वही सारथि बने बैठे हैं। सारथ्य ही भगवान्‌-का वास्तविक स्वरूप है। स्थूल, शरीरको रथ कहो तो इसका रथी मन; किन्तु स्थूल, सूक्ष्म, कारण इन तीनों शरीरोंमें रथी बन-कर—इस रथका स्वामी बनकर जीव बैठा है। सारथि—अन्तर्यामी

परमात्मा रथका स्वामी नहीं बनता। किन्तु रथका सञ्चालक वही है। जैसे कहीं अग्नि लगे तो जलानेका कार्य अग्नि करता है; किन्तु वायुकी सहायतासे करता है। वायुके बिना अग्नि जला नहीं सकता। फिर भी भस्म करनेकी क्रियाका कर्त्ता अग्नि ही माना जाता है। वायु तो उसका सारथि है। इसी प्रकार रथमें मुख्य होकर भी सारथि गौण-सा रहता है। देहमें अन्तर्यामी मुख्य है—सञ्चालक है किन्तु गौण-सा हो गया है। वह देहका स्वामी नहीं बनता। स्वामी तो रथी—जीव बनता है। इसलिए जीव ही कर्ता-भोक्ता होता है। अर्जुनके रथपर सारथि बना वह परमात्मा कह रहा है—**मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।**

'ये'का अर्थ है जो कोई भी। **ये केचित् अधिकारिणः।** भगवान्‌की भक्तिमें सबका अधिकार है। कोई किसी वर्णका, किसी आश्रमका, स्त्री या पुरुष कोई हो, किसी आयुका हो, जो भी भक्ति करना चाहता है, उसका भक्तिमें अधिकार है। शास्त्रमें जहाँ सर्वाधिकारकी बात आती है, वहाँ कहा जाता है—**हरिभक्तौ यथा नृप।**

राजाकी प्रशासनकी सेवामें समस्त प्रजाका—सभी नागरिकोंका अधिकार होता है। एक भंगी स्वच्छता करके, कृषक अन्नका उत्पादन करके, बुनकर वस्त्र बुनकर, शिक्षक पढ़ाकर प्रशासनकी सेवा करते हैं। इसी प्रकार जो कोई भी परमात्माकी सेवा करना चाहते हैं, उन्हें भगवान्‌के चरणोंमें अपनी सेवा समर्पित करनेका अधिकार है। श्रीमद्भागवतमें तो कहा गया है—

विप्राद् द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभ-
पादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम्। ७.९.१०

क्षमा-दयादि द्वादश गुणसे युक्त होकर भी ब्राह्मण यदि भगवान्‌से विमुख है और चाण्डाल होकर भी यदि एक व्यक्ति भगवान्‌का भक्त है तो उस गुणवान् किन्तु भगवद्विमुख ब्राह्मणसे वह

भगवद्भक्त चाण्डाल श्रेष्ठ है। अतएव 'ये'का अर्थ है कि जो कोई भी भगवान्‌की भक्ति करना चाहे सबका उसमें अधिकार है।

मय्यावेश्य मनः इसके द्वारा भगवान् अपनी उपासनापद्धति बतलाते हैं। लेकिन **मयि** शब्दका अर्थ ठीक-ठीक जबतक समझमें न आजाय तबतक **आवेश्य**का अर्थ ठीक समझमें नहीं आयेगा। किसमें मन लगाना है ? यह पहले समझ लेना चाहिए।

यह जो नामरूपात्मक पञ्चभूत-निर्मित विश्व है, यह भगवान्‌का विश्वरूप है। इस नाना आकार एवं नामवाले दृश्य जगत्‌में जो चैतन्यके रूपमें परिपूर्ण है, वह विराट् है। इस विराट्‌में मनको आविष्ट करो। आविष्ट करनेका अर्थ है कि तादात्म्यभावापन्न कराओ। ग्यारहवें अध्यायमें भगवान्‌ने जिस विराट्‌रूपका अर्जुनको दर्शन कराया; वह क्या है ?

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।

११.३९

वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, प्रजापति आदि सब देवता, भूमि आदि पञ्चभूत तथा पञ्चभूतोंमें कल्पित नाम-रूप भी वही है। अब भगवान्‌के इस विराट् रूपमें अपने मनको आविष्ट करो। इससे होगा क्या ? मन उस विराट्‌को अपना विषय बनाकर अपना मनपना खो दे या विश्वमें विद्यमान विराट् जो है, वह मैं हूँ—इस प्रकार तादात्म्यभावापन्न हो जाय, दोनों ही अवस्थाओंमें देहमें जो मैंपना था—अभिनिवेश था, वह छूट गया। देहाभिमानकी निवृत्तिसे त्वं पदार्थका शोधन हुआ और राग-द्वेष छूटनेसे अन्तःकरणकी शुद्धि हुई; क्योंकि जब 'मैं' सर्वरूप हूँ तो रागद्वेष रहेगा कहाँ ? इस प्रकार हम परमात्माकी प्राप्तिके समीप पहुँचेंगे।

मयिका अर्थ विराट् न करना हो तो ? क्योंकि अर्जुनने विराट् रूपके दर्शनसे व्याकुल होकर प्रार्थना की थी—**तेनैव रूपेण**

चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते। तो इस चतुर्भुज रूपमें मनको आविष्ट करो। इस विश्वको उत्पन्न करनेवाली जो संस्कारोंकी धारा है, वही विश्वका बीज है। उसीको कारणवारि या कारणार्णव कहते हैं। उस विश्वकी बीजरूपा संस्कारधारामें जो चैतन्य रूपसे विराजमान हैं, वे नारायण हैं। उन सर्वज्ञ, सर्व-शक्तिमान्, सर्वान्तर्यामीमें अपने मनको आविष्ट करो। जैसे लोगोंको प्रेतका, धनके लोभका, क्रोधका, कामका आवेश होता है। आवेशमें मनुष्य अपनेको भूल जाता है। जिसका आवेश होता है, वही रहता है। इसी प्रकार अपने व्यक्तित्वको भूल जाओ। अब देखो कि तुम्हारे हृदयमें एक कमल है। उस कमलपर चतुर्भुज शंख, चक्र, गदा, पद्मधारी श्रीनारायण खड़े-खड़े मुस्करा रहे हैं। मनसे अपनेको नारायणके चरणोंमें डालो और मनसे चिन्तन करो कि तुम्हारे मस्तकपर नारायण हाथ रखकर कह रहे हैं—**मयि भक्तिरस्तु ते।** यहाँ मनके ही दो भाग हुए। एक भागसे मन ही नारायणाकार हुआ और दूसरे भागसे मन उनके चरणोंमें पड़ा। इस चिन्तनसे बुद्धिकी शुद्धि हो गयी। बुद्धि सूक्ष्मग्राहिणी हो गयी। जगद्बीजके अन्तर्यामी नारायणको वह ग्रहण करती है।

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन। ११.५१

ग्यारहवें अध्यायमें भगवान्ने स्वयं कृपा करके अर्जुनको अपने द्विभुज-मनुष्य रूपका दर्शन कराया है। यह क्षर-अक्षरसे विलक्षण भगवान्का पुरुषोत्तम रूप है।

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥ १५.१८

भगवान्का यह मुरलीमनोहर, पीताम्बरधारी राधारमण रूप है। विराट् रूप तो सर्व रूप है और नारायण रूप है; किन्तु यह पुरुषोत्तम रूप भगवान्का पति रूप है। इस सगुण-साकार रूपके

लिए ही श्रीकृष्ण **मयि** पदका प्रयोग कर रहे हैं। सौकुमार्य, सौन्दर्य, सौशील्य, वात्सल्यादिनिखिलसद्गुणगणैकधाम आनन्दमात्र-करपादमुखोदरादि जो यह परम मनोहर रूप है, इसमें मनको आविष्ट कर दो। अर्थात् उनके सौन्दर्य, माधुर्य, हास्य, गति, लीला आदिके चिन्तनमें तन्मय हो जाओ। जैसे कोई नशेके आवेशमें होता है, वैसे ही बिना पिये यह प्रेमका नशा होता है।

नित्ययुक्ताः सावधान रहो और सदा उन भगवान्‌से ही जुड़े रहो। अपनेको कभी मर्त्य प्राणी मत मानो। जो भाव भगवान्‌के साथ धारण किया है, उसे छोड़ो मत। नाटकमें जो नट जिस पात्रका अभिनय कर रहा है, रंग-मञ्चपर वह उसी पात्रके रूपमें रहता है। उसी पात्रके समान वेश धारण करके हँसता-बोलता तथा चेष्टा करता है; किन्तु उसका यह अभिनय केवल रंगमञ्चतक ही रहता है। लेकिन भक्तका नाट्य नाट्य नहीं है। उसे तो स्वभाव बनाना है। सदा उसी भावमें रहना है।

जो विराट्‌में मन लगाये है, वह सबको अपना स्वरूप देखता है। सबमें भगवान्‌को देखता है। **सबके घटमें साइँ रमता, कटुक बचन मत बोल रे।** यह उसका स्वभाव बन जाता है।

यदि नारायणमें मनको आविष्ट किया है तो उस सर्वान्तर्यामी-की मर्यादा भी जीवनमें आयेगी। गुरु, पिता, माताके सामने रहने-पर संकोचका, शिष्टताका पालन होता है या नहीं? क्लर्क अपने मैनेजरके सामने कितना शिष्ट तथा विनम्र रहता है। अब नारा-यणमें मन आविष्ट करना है तो मनमें उसके अनुरूप शिष्टता, मर्यादा आनी चाहिए। किसी महात्माके पास गये और इच्छा है कि वे अपने प्रति कृपा करें, उनके मनमें करुणाका भाव उदय हो; किन्तु उनसे कहने लगे—'आपकी भौंहें तो खूब मटकती हैं।' यह क्या हुआ? यह हास्यकी बात हुई। हास्य तथा करुणा परस्पर

विरोधी भाव हैं ? इससे अन्तःकरणमें कोई भाव दृढ़ नहीं होता। चित्त डावाँडोल बना रहता है। अतः नारायणका चिन्तन करो तो उनके सामने नम्रताका भाव रखो।

स देवो यदेव कुरुते तदेव मङ्गलाय।

वे प्रभु जो कुछ करते हैं—उसीमें मेरा कल्याण है, ऐसा दृढ़ विश्वास रखो। इस आवेशसे सन्तोष होगा, राग-द्वेष मिटेंगे। सूक्ष्म शरीरसे नारायणके सम्मुख उपस्थित होते हो, अतः स्थूल-देहका अभिमान भी छूट गया।

अब पुरुषोत्तममें मनको आविष्ट करनेकी बात लो। मनको आविष्ट करनेका अर्थ है कि उनके गुणोंके चिन्तनमें तन्मय हो जाओ। किसी छोटे बच्चेके सामने उसकी माताको मारनेके लिए हाथ उठाओ तो माता भले परिहास समझकर हँस देगी; किन्तु बच्चा रोने लगेगा; क्योंकि बच्चेका मन मातामें आविष्ट है। कुतियाको मारनेके लिए डण्डा उठानेपर वह बिना डण्डा लगे ही चिल्लाने लगती है; क्योंकि उसमें देहावेश है। ऐसे ही तुममें भगवान्‌के प्रति आवेश—प्रेम होना चाहिए। गोपियोंके समान भगवान्‌से प्रेम करो।

नित्ययुक्ता उपासतेमें उपका अर्थ है समीप और आसतेका अर्थ है रहना। **नित्ययुक्ता** सदा सावधान—सावधानीका ही नाम साधना है। किसी भोजन कर रहे मनुष्यसे बात करते हुए यदि तुम अपने वमन-विरेचनका वर्णन करने लगो, कोई दुःखद समा-चार उसे दे दो अथवा कोई तीखा व्यंग्य कर दो तो यह उसकी सेवा तो नहीं हुई! देश, काल तथा व्यक्तिकी योग्यता एवं उसके सम्बन्धका ध्यान रखकर चलनेसे सेवा बनती है।

समूचे ईश्वरको तो पकड़ा जा नहीं सकता; किन्तु जब बच्चा

पिताकी अंगुली पकड़कर चलता है तो लोग यही कहते हैं कि वह पिताको पकड़कर चल रहा है। इसी प्रकार बोलते-चलते, खाते-पीते, हँसते-व्यापार करते तुम सदा भगवान्‌के साथ रहो। तुम्हारा ध्यान भगवान्‌में रहे। नित्ययुक्ताःका अर्थ है सदा सावधान और सदा भगवान्‌के साथ रहना। उपासते का अर्थ साथ रहना है। तुम्हारा घर कहाँ है ? भगवान् ही तुम्हारे घर--निवास होने चाहिए। हर देश, हर काल, हर क्रियामें सदा सावधान रहो और सदा भगवान्‌के साथ रहो। मनको सदा भगवान्‌में आविष्ट रखो। जैसे कोई ब्राह्मण है, उसमें ब्राह्मणत्वका आवेश है। अब उसे कोई अपवित्र वस्तु भोजन करनेको कहो तो उसे वह कभी स्वीकार नहीं करेगा। एक ब्रह्मचर्यनिष्ठसे व्याह करनेको कहो तो वह इसे नहीं मानेगा। इसी प्रकार ये जो सांसारिक मुहब्बती—मोहव्रती लोग हैं, इनका आवेश होता है किसीसे तो कहते हैं – 'तुम्हारे बिना हम रह नहीं सकते। तुम्हीं हमारे सब कुछ हो।' भगवान् कहते हैं कि मनको मेरे साथ आविष्ट रखो !

श्रद्धया परयोपेताः श्रद्धा चाहिए और वह भी साधारण नहीं, परा श्रद्धा। सर्वश्रेष्ठ श्रद्धा। शंका मत करो कि भक्ति करनेसे हमारे अन्तःकरणकी शुद्धि होगी या नहीं, हमें गुरुकी प्राप्ति भक्तिसे होगी या नहीं, भक्तिसे मुक्ति मिलेगी या नहीं, भक्ति करनेसे भगव-द्दर्शन होगा या नहीं ? ये सब शंकाएँ सदाके लिए त्याग दो। यह दृढ़ विश्वास रखो कि हमारा कल्याण भक्तिसे ही होगा।

इस जन्ममें हमारा कल्याण न हो तो हम नरक भी भोग लेंगे; किन्तु मन्त्र बदलेंगे नहीं। ऐसा दृढ़ निश्चय होना चाहिए। महाभारतमें भगवान् शङ्करके भक्त उपमन्युकी कथा है। उन्होंने एक बार देखा कि उनके सामने ऐरावतपर बैठे, वज्रहस्त देवराज इन्द्र खड़े हैं और कह रहे हैं—'जो इच्छा हो माँग लो।'

उपमन्यु बोले—'देवेन्द्र, आप वरदान देने क्यों पधारे' आपको तो मैंने बुलाया नहीं था।

अपि कीटः पतङ्गो वा भवेयं शङ्कराज्ञया।
न तु शक्र त्वया दत्तं त्रैलोक्यमपि कामये॥

भगवान् शङ्करकी आज्ञा हो, उनकी इच्छा हो तो मैं कीट-पतंग भी बननेको उद्यत हूँ, किन्तु इन्द्र! तुम्हारा दिया हुआ त्रिलोकीका आधिपत्य—इन्द्रपद भी मुझे नहीं चाहिए।

कोई पत्नी पतिसे कहे कि—'मैं आपसे निष्काम प्रेम करती हूँ।' तो पति पूछेगा 'अन्ततः तुम्हें भोजन-वस्त्र, आभूषणादि भी तो चाहिए।' अब यदि पत्नी कहे कि—'ये सब आवश्यकताएँ मैं पड़ोसीसे पूर्ण कर लूँगी तो वह भ्रष्ट हुई या नहीं?' इसलिए ईश्वरकी भक्तिका अर्थ है, उसीपर श्रद्धा रखना। परा श्रद्धाका अर्थ है कि वेद, शास्त्र, पुराणादिमें जो भगवान्‌की, उनके नाम, रूप, लीला, धामकी महिमा बतलायी गयी है, उसे स्तुति या अर्थवाद न मानकर यथार्थ मानना।

अब कहो कि अनेक स्थानोंपर तो स्पष्ट अर्थवाद लगता है, तो यह निष्ठाकी—श्रद्धाकी कमी है। मैंने साकेतवासी पं० श्री रामवल्लभाशरणजीसे एक बार पूछा—'सरयू-स्नानसे मुक्तिकी बात अध्योया-माहात्म्यमें आती है। लेकिन श्रुति तो कहती है—**ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।** ज्ञानके बिना मुक्ति होती ही नहीं। यह क्या बात है?'

वे बोले—'कोई ऐसा श्रद्धालु भी तो हो कि **श्रीसीतारामाभ्यां नमः** कहकर एक बार सरयूजीमें गोता लगाकर दृढ़ विश्वास कर ले कि उसकी मुक्ति हो गयी।'

कलित कन्ध धनु तून कटि कर सर सरयूतीर।
संग सखा बानक बहै बसतु दृगनि रघुवीर॥

यह अभिलाषा जिसके हृदयमें तीव्रतम हो और एक बार सरयूजीमें डुबकी लगाकर जो दृढ़ विश्वास कर ले कि मेरे समस्त शुभाशुभ कर्म नष्ट हो गये, मेरा पुनर्जन्म अब नहीं हो सकता। मैं मुक्त हो गया। उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जायगा। ऐसी श्रद्धा राग-द्वेष-आसक्तिरहित अन्तःकरणमें ही मिल सकती है।

हर स्थानपर हर समय भगवान्‌में मनको आविष्ट किये रखनेकी शक्ति श्रद्धामें ही है। यह अडिग श्रद्धा कि 'भगवान् मेरे हैं, जन्म-जन्मके मेरे हैं' होनी चाहिए। दुर्बलता तुम्हारे हाथमें ही आ सकती है, भगवान्‌के हाथमें नहीं। वे तो जिसे पकड़ लेते हैं, उसे छोड़ते नहीं। पकड़कर छोड़ना उन्हें आता ही नहीं। पूतनाको उन्होंने पकड़ा, तृणावर्तको पकड़ा या और जिसे पकड़ा--फिर नहीं छोड़ा। सदाके लिए उसे अपनेमें मिला लिया।

एक बार बादशाह अकबरने बीरबलसे कहा—'बीरबल, मैं ईश्वरसे बड़ा हूँ।'

बीरबल बोले—'जहाँपनाह दुरुस्त फरमाते हैं। आप ईश्वरसे जरूर बड़े हैं।'

बादशाह--'बीरबल, तुम तो बहुत झूठे और खुशामदी जान पड़ते हो।'

बीरबल—'ऐसा नहीं है। मैं ठीक कहता हूँ।'

बादशाह—'यह कैसे ?'

बीरबल—'जहाँपनाह चाहे जिसे अपने राज्यसे बाहर निकाल सकते हैं। मगर ईश्वरमें ऐसा करनेकी ताकत कत्तई नहीं है। वह चाहे तो भी किसीको अपने राज्यसे बाहर नहीं निकाल सकता।'

बादशाह चुप हो गया। वह समझ गया कि बीरबलने व्याज-स्तुति करके उसे उसका ओछापन समझाया है।

जैसे ईश्वर किसीको अपने राज्य से निकाल नहीं सकता, वैसे ही वह किसीका त्याग भी नहीं कर सकता; क्योंकि जो सर्वव्यापक है, वह किसीका त्याग कर कैसे सकता है !

ते मे युक्ततमा मताः । भगवान् युक्ततम किसे कहते हैं ?

योगिनामपि सर्वेषां मद्‌गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥ ६.४७

गीतामें यह अद्‌भुत बात है कि जो देखकर,जानकर भजन करे, वह युक्त और जो बिना देखे, बिना जाने श्रद्धासे भजन करे, वह युक्ततम कहा गया है ।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ ६.८

जो भगवान्‌को प्राप्त करके उनकी सेवा, उनका भजन करता है, उसमें क्या विशेषता है ? भगवान् तो निखिल सौन्दर्य माधुर्यके धाम हैं । उन्हें जो देख लेगा, प्राप्त कर लेगा, वह तो भजन किये बिना रह ही नहीं सकता । लेकिन जिसने देखा नहीं, पाया नहीं जाना नहीं, बिना मिले जो श्रद्धा करके अपनेको भगवान्‌के चरणोंपर चढ़ा देता है, विशेषता तो उसमें है । वह युक्ततम है ।

मे मताः श्रीकृष्ण कहते हैं कि सगुण-साकारकी उपासना करनेवाले युक्ततम हैं, यह मेरा मत है अथवा **मे मताः** मैं उनका सम्मान करता हूं ।

जो सगुण-साकार भगवान्‌में मनको आविष्ट कर देते हैं, भगवान् के साथ ही जिनका हँसना-बोलना, सोना-जागना, चलना-फिरना, उठना-बैठना, खाना-पीना आदि समस्त क्रियाएँ सदा होती हैं, जो नित्य सावधान हैं और यह सब भगवान्‌का अनुभव करके नहीं करते, परमश्रद्धासे करते हैं वे युक्ततम हैं ।

परम श्रद्धा—जैसे मृत्यु आयी और उससे डर भी लगा, किन्तु किसीने कह दिया—'मृत्यु तो भगवान्‌ने भेजी है।' अब उन्हें पता नहीं कि मृत्यु भगवान्‌ने भेजी या नहीं। मृत्यु डरावनी भी है, किन्तु उन्होंने श्रद्धा कर ली। अहा! यह मृत्यु हमारे श्रेष्ठ भगवान्‌ने भेजी है। तब तो यह अत्यन्त उत्तम है। यह परम मंगलकारी है। मृत्यु क्या है? शरीर बदलना ही तो है और शरीर एक वस्त्र मात्र है। यदि मेरे वस्त्रको बदलकर उन्हें प्रसन्नता होती है तो मैं दिनमें सहस्र बार ऐसे बदलूंगा।

एक भक्त दुःखी थे कि कभी-कभी भगवान् की विस्मृति हो जाती है। वे कभी-कभी भूल जाते हैं—भगवान्‌को। मैंने उनसे कहा—यह विस्मृति कहाँसे आती है? इसे भी तो भगवान् ही भेजते हैं। उन्होंने गीतामें कहा है—

मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनञ्च

वे बोले—'अच्छा, मेरे प्रभु भेजते हैं विस्मृति' इतना कहते ही उनके सारे शरीरमें रोमाञ्च हो गया। नेत्रोंसे झर-झर अश्रु गिरने लगे। यह हुई श्रद्धा। वे प्रभु सर्वज्ञ हैं, सर्वशक्तिमान् हैं और परम कृपालु हैं। ये तीन बातें मनमें बैठ जायँ तो भक्ति दृढ़ हो जाती है। वे अज्ञानी नहीं हैं, सर्वज्ञ हैं। अतः हमारी अवस्था तथा हमारे चित्तकी बात जानते हैं। वे असमर्थ नहीं हैं, सर्वशक्तिमान् हैं, अतः उसे पूरा करने में समर्थ हैं। वे निष्ठुर नहीं हैं, अनन्त कृपासिन्धु हैं, अतः कृपा किये बिना रह नहीं सकते। उनको अज्ञानी, असमर्थ एवं निष्ठुर मत मानो। उनकी सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता तथा दयालुतापर जिसके मनमें दृढ़ विश्वास आगया, वह युक्ततम है।

●

: ३-४ :

● *संगति*

अब प्रश्न उठा कि निर्गुणोपासना तथा सगुणोपासनामें अन्तर क्या है ? उपासना तो उपासना है। फिर वह निर्गुणकी हो या सगुणकी। यहाँ यह बात फिर स्मरण कर लेनी चाहिए कि **तत्त्वमसि** आदि महावाक्योंसे होनेवाले ज्ञान तथा भक्तिकी तुलना यहाँ नहीं की जा रही है। जो लोग निर्गुण या सगुण परमात्माके स्वरूपमें विश्वास करके उस रूपकी भावना-उपासना करते हैं, उनके अन्तरका यहाँ विचार किया गया है।

निर्गुण स्वरूप परमात्माके साधन और उस साधनके फलमें तथा सगुणस्वरूपकी उपासना एवं उसके फलमें अन्तर है। भगवान्ने ग्यारहवें अध्यायके अन्तमें दोनों उपासनाओंके फलमें जो अन्तर है, उसे बतलाया है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥ ११.५४

अर्जुन ! अनन्य भक्तिके द्वारा मुझे इस प्रकार जानना, देखना तथा तत्त्वतः मुझमें प्रविष्ट हो जाना सम्भव हो जाता है।

निर्गुण उपासना से ज्ञान तथा तत्त्वतः प्रवेश तो होगा किन्तु निर्गुणकी करो उपासना और दर्शन सगुण-साकारका हो ऐसा नहीं हो सकता। अनन्य भक्तिसे सगुण-साकारका दर्शन भी होता है और ज्ञान तथा प्रवेश तो होता ही है। यहाँ श्लोकमें एक साथ **ज्ञातुं द्रष्टुं** है। इसलिए **ज्ञातुं**का अर्थ है बुद्धिसे जानना तथा **द्रष्टुं**का

अर्थ है मन-इन्द्रियादिसे भगवान्‌के सगुण साकार रूपको प्रत्यक्ष करना। प्रवेष्टुंका अर्थ है आत्मरूपसे अभिन्न हो जाना। इन दोनों उपासनाओंके फलमें अन्तर है।

एक मनुष्य बम्बईसे दिल्ली पैदल चलकर जाता है और दूसरा वायुयानमें बैठकर जाता है। दोनोंको दिल्ली तो वही मिलेगी, किन्तु पैदल चलकर जानेवालेको चलनेका परिश्रम तो पड़ता ही है। शास्त्रोंने इस संसारको सागर कहा है। इस भवसागरमें जीव डूब रहा है। एक महात्मा कहते थे—यदि तुम्हें तैरना सीखना हो तो जलमें शिक्षकके साथ उतरो। तैरना जानते हो तो तैरकर पार करो और यदि तैरना आता न हो तथा सीखनेकी शक्ति या साहस नहीं है तो फिर नावपर बैठो। ऐसा नहीं करोगे तो डूब जानेका भय तो है ही।

यह संसार सागर है। जीव इसमें पड़ा हुआ है। इस पार करके उसे परमात्माके समीप जाना है। अब यदि तुम्हें असङ्गता, वैराग्य, विवेकादि प्राप्त है तो स्वयं तैरकर मनन, निदिध्यासन करके इसे पार कर लो। अभी पार करनेकी शक्ति नहीं है, तैरना नहीं आता है तो तैरना सिखलानेवाले शिक्षक-गुरुकी शरण लो। गुरुके साथ जलमें उतरो, बिना जलमें उतरे तो तैरना आयेगा नहीं। यह भी न हो तो नावपर बैठो। नाव है भक्ति और उसके खेवैया भगवान् हैं।

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥ १२.७

जिन्होंने अपने मनको भगवान्‌में आविष्ट कर दिया है, भगवान् उन्हें इस संसार-सागरसे हाथ पकड़कर उठाकर भक्ति नौकापर बैठा लेते हैं। 'समुद्धर्ता'का अर्थ ही यह है कि वे प्रभु स्वयं भक्तका उद्धार करते हैं। अब नौकापर आनन्दसे बैठे रहो। अपने सामने

बैठे उस सौन्दर्य-माधुर्य-धामको देखते रहो और तुम्हें संसार सागरके पार वह पहुँचा देगा।

निर्गुण उपासनामें स्वयं पार होना है; क्योंकि निर्गुणतत्त्व भक्तवत्सल अथवा प्रेमपराधीन नहीं है। सगुण ईश्वर भक्तवत्सल है, भक्ति के अधीन है। इसलिए सगुण उपासनामें ईश्वरका—समर्थका सहारा है। इस प्रकार दोनों उपासनाओंमें एक अन्तर तो यह है कि निर्गुण उपासनामें ज्ञान तथा अभेदकी प्राप्ति है; किन्तु सगुणका दर्शन नहीं है। लेकिन सगुण उपासनामें सगुण-साकार ईश्वरका दर्शन भी है और ज्ञान तथा अभेदकी प्राप्ति भी। दूसरा अन्तर दोनोंमें यह है कि निर्गुण उपासनामें अपने बलपर ही संसार-सागरको पार करना है और सगुण उपासनामें भगवान् पार कराते हैं। तीसरी अन्तरकी बात यह है कि निर्गुण उपासनामें जिज्ञासासे ज्ञानका प्रारम्भ होता है और अनावृत्तिमें ज्ञानवृत्तिकी समाप्ति होती है। लेकिन सगुण उपासनामें श्रद्धाकी विशेषता है श्रद्धाके सम्पुटमें भक्तिरत्न रहता है। इस बारहवें अध्यायका भी प्रारम्भ **श्रद्धया परयोपेताः** से करके श्रद्धासे ही इसे समाप्त किया गया है।

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥ १२.२०

एक कथा मैंने सुनी है। दो मित्र कहीं यात्रामें जा रहे थे। मार्गमें एक वृक्षके नीचे दोनों विश्राम करने बैठे। उनमें-से एक मित्र दूसरेकी गोदमें सिर रखकर सो गया। इतनेमें वहाँ एक सर्प आया। जागनेवालेने सर्पको रोका तो सर्प बोला—'इसने पहले मुझे लाठीसे मारकर मेरा रक्त निकाला है। मैं इससे अपना बदला अवश्य लूँगा।

मित्र बोला—'इसने तुम्हें मारा तो था नहीं, रक्त ही निकाला था। यदि इसका रक्त निकल जाय तो तुम्हारा बदला पूरा हो जायगा ?'

सर्प—'हाँ, मुझे रक्त ही चाहिए।'

उस मित्रने अपनी कमरसे छूरा निकाला और सोनेवाले मित्रके गलेपर लगाया। सोनेवालेके गलेका चर्म कटा तो उसकी नींद टूट गयी। उसने नेत्र खोले; किन्तु जब उसने देखा कि उसका मित्र ही छूरा गलेपर लगाये है तो नेत्र बन्द कर लिये। गलेसे थोड़ा रक्त निकालकर उस मित्रने सर्पको दे दिया। सर्पके चले जानेपर मित्रको जगाकर उसने जब पूछा तो सोनेवालेने बताया—'मुझे दर्द तो हो रहा था; किन्तु जब मैंने देखा कि छूरा तुम्हारे हाथमें है तो समझ लिया कि इसमें मेरे किसी हितकी बात ही होगी। इसलिए मैं निश्चिन्त हो गया।'

इसी प्रकारकी ईश्वर-विश्वासकी एक अद्भुत घटना और भी है। एक योरोपियन दम्पती किसी जहाजसे समुद्र-यात्रा कर रहे थे। समुद्रमें भयङ्कर तूफान आगया और ऐसा लगने लगा कि अब जहाज डूबने ही वाला है। जहाजके कर्मचारी तथा यात्री व्याकुल हो उठे। सब इधर-उधर दौड़ते या प्रार्थना करते तथा बार-बार व्याकुल होते। सुरक्षा नौकाएँ समुद्रमें उतार दी गयीं, किन्तु भयङ्कर तूफानके कारण उछलते जहाजसे उनपर उतरना भी सम्भव नहीं था। इस सब हलचलमें उस योरोपियन दम्पतीमें जो पुरुष थे, वे शान्त डेकपर खड़े थे और समुद्रको ऐसे देख रहे थे, जैसे कोई खेल देख रहे हों। उनकी पत्नीने उनसे कहा—'तुम देखते नहीं कि जहाज डूबनेवाला है ? ऐसे निश्चिन्त क्यों हो ? कुछ तो करो।'

उन्होंने हंसकर जेबसे पिस्तौल निकाली और उसकी नली पत्नीको ओर करके घोड़ेपर अंगुली रख ली। पत्नी झुंझलाकर बोली 'इस खिलौनेको जेबमें रख लो। यह भी कोई हँसी करनेका समय है ? यहाँ प्राण संकटमें हैं और तुम्हें हँसी सूझती है ?'

पुरुषने पूछा—'तुम्हें भय नहीं लगता ? तुम जानती हो कि यह पिस्तौल भरी है।

पत्नी—'पिस्तौल भरी होनेसे क्या होता है। वह तुम्हारे हाथमें है और मैं जानती हूँ कि तुम मुझसे बहुत प्रेम करते हो।'

पुरुष—'इसी प्रकार मैं जानता हूँ कि यह तूफान मेरे परम प्रियतम परमात्माके हाथमें है और वह मुझसे बहुत प्यार करता है। मुझे तो तुमपर क्रोध आ सकता है। मुझसे भूल हो सकती है; किन्तु उसे क्रोध नहीं आता, उससे भूल नहीं होती। इसलिए तूफानसे डरने-घबरानेकी क्या आवश्यकता ? ऐसी ही एक और घटना दिवंगत महाराज जयपुरके सम्बन्ध की है। जिस गोलमेज कान्फ्रेन्समें गांधीजी तथा मालवीयजी लन्दन गये थे, उसमें जयपुर-नरेशको भी जाना था। पहले तो उन्होंने यात्रा करना अस्वीकार कर दिया; किन्तु जब एक सर्वथा नवीन जहाज उनके तथा उनके कर्मचारियोंके लिए ही दिया गया तो उन्होंने लन्दन जाना स्वीकार किया। जहाजमें एक कक्ष महाराजके पूजाका था। उसमें नरेशके आराध्य श्रीगोविन्दजी विराजते थे। समुद्रमें तूफान आया और संकटकी स्थिति आगयी। ऐसे समय महाराजने कहा—'मैं श्रीगोविन्दजीके चरणोंमें बैठता हूँ। तूफान शान्त हो जाय तो मुझे सूचना देना। अन्यथा मै तो गोविन्दजीके पास हूँ ही।' यह कहकर महाराज पूजाके कक्षमें चले गये और उसका द्वार बन्द कर लिया। तूफान शान्त होनेपर सूचना पाकर ही उन्होंने द्वार खोला।

इस प्रकार सगुण उपासनामें श्रद्धाकी प्रधानता है। एक चौथा अन्तर भी दोनों उपासनाओंमें है और यह अन्तर उन्हें ही ज्ञात हो सकता है जो कोई उपासना करते हैं। जो दोनोंमें-से कोई उपासना नहीं करते, उन्हें इस अन्तरका पता नहीं लग सकता। जब वैराग्य हो, विवेक हो तब निर्गुण उपासना होती है। निर्गुण, निराकार, अस्थूल, अनणु, निष्क्रिय, निर्विकार आदि समस्त भावोंका 'नेति-नेति' करके निषेध करते हुए अन्तमें नाम, रूप, क्रियाहीन अवस्थामें वृत्तिको स्थिर करना पड़ता है। वृत्तिमें इस अवस्थाकी एक झलक भले आजाय; किन्तु आलम्बनहीन होकर वृत्तिका टिकना अत्यन्त कठिन है। लेकिन सगुण उपासनामें सगुण साकारका आलम्बन होनेसे वृत्तिका टिकाना बहुत सुगम है।

आजकल तो लोगोंको दूकानसे, धनसे, पत्नी-पुत्रसे वैराग्य होता नहीं और बात करते हैं कि हमें साकेत, गोलोक, वैकुण्ठ नहीं चाहिए। जबतक ब्रह्मलोकपर्यन्त छोटे-बड़े सब भोगोंसे, मायासे अपने शरीर तथा अन्तःकरणसे भी वैराग्य न हो जाय तबतक निर्गुणमें वृत्ति टिक नहीं सकती। निर्गुणकी उपासनामें दृढ़ वैराग्यकी आवश्यकता है। अतः यह जनसामान्यके लिए अत्यन्त कठिन है। श्रद्धा जनसाधारणमें होती है, इसलिए सगुणोपासना जनसाधारणके लिए सुगम है।

इस पूरे अध्यायमें आगे सगुण भक्तिका ही भगवान्‌को वर्णन करना है। अतः पहले संक्षिप्त रूपमें निर्गुण उपासनाकी बात समझाकर तब सगुण उपासनाकी चर्चा करेंगे।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥ ३.४

जो अधिकारी अपनी सब इन्द्रियोंको भलीभाँति नियन्त्रित करके एवं सर्वत्र समबुद्धि होकर सर्वभूतहितमें तत्पर रहते हैं और अक्षर, अनिर्देश्य, अव्यक्त, सर्वव्यापी, अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल एवं ध्रुव तत्त्वकी उपासना करते हैं, मुझे ही प्राप्त करते हैं।

निर्गुणमें उपासना किसकी की जाय? इसके उत्तरमें नौ बातें भगवान्‌ने बतलायीं। इनमें-से अक्षर, अनिर्देश्य, अव्यक्त, सर्वव्यापी, अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल एवं ध्रुव ये आठ तो विशेषण दिये, निर्गुणतत्त्वको और **पर्युपासते** यह विशेषता बतलायी उपासनाकी। अर्जुनने पूछा था—ये **चाप्यक्षरमव्यक्तम्** भगवान् अपने उत्तरमें उसीको स्पष्ट करते हुए–ये **त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तम्** आदि कह रहे हैं।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।

अक्षर कहते हैं परमात्माको। गीतामें निर्गुण ब्रह्मको अक्षर कहा गया है। पन्द्रहवें अध्यायमें **यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः** की टीकामें वैष्णवाचार्य कहते हैं कि यहाँ भी **अक्षरसे** निर्गुण ब्रह्मका ही वर्णन है। उस निर्गुण ब्रह्ममें उत्तम सगुण साकार पुरुषोत्तमका प्रतिपादन वैष्णव टीकाकार वहाँ मानते हैं। किन्तु श्रीशंकराचार्य आदि भाष्यकार एवं निर्गुणवादी टीकाकार यहाँ अक्षरका अर्थ प्रकृति करते हैं।

अक्षर—जिसमें क्षरण—विनाश नहीं है। संसारकी जितनी वस्तुएँ हैं, उन सबमें क्षरण होता है। सोने, चाँदी या किसी भी धातुका कोई आभूषण, बर्तन, मूर्ति आदि बनें, उसमें कुछ-न-कुछ घटता-घिसता रहता है। संसारकी सब वस्तुएँ घटने-बदलनेवाली हैं; किन्तु परमात्मा सदा एक-रस रहता है। वह कभी पुराना नहीं पड़ता।

ये 'अ-आ' आदि भी अक्षर हैं; किन्तु परमात्मा ऐसा अक्षर नहीं है कि उसे वाणीसे बोला जाय या रेखाओंके संकेतसे व्यक्त

किया जाय। वह **अनिर्देश्यम्** है। शब्द आदिसे उसका निर्देश नहीं किया जा सकता। किसी वस्तुका निर्देश-संकेत पाँच प्रकारसे किया जाता है १. जातिसे—जैसे यह मनुष्य है, यह पशु या पक्षी है। २. गुणसे—जैसे यह मीठा है, खट्टा है, लाल है, नीला है। ३. क्रियासे—यह रसोइया है, यह शिक्षक है। ४. रूढ़िसे—जैसे यह पंकज है। ५. सम्बन्धसे—जैसे ये अमुकके पुत्र या भाई हैं। परमात्माका निर्देश इनमें किसीके द्वारा नहीं हो सकता; क्योंकि निर्गुण परमात्मामें न जाति है—न गुण, न क्रिया है—न रूढ़ि और किसीसे उसका सम्बन्ध भी नहीं। परिचयकी आवश्यकता होती है संसारी लोगोंको; क्योंकि उन्हें अपना विज्ञापन करना होता है। उन्हें व्यापार चलाना तथा प्रसिद्धि पाना होता है। पूजा-प्रतिष्ठा, लाभ-यशकी इच्छा जिसे हो, उसको अपना विज्ञापन करना पड़ता है। यह सब परमात्माको तो चाहिए नहीं। वह तो—

पगु बिनु चलै सुनै बिनु काना।
कर बिनु करम करै बिधि नाना॥
आनन रहित सकल रस भोगी।
बिनु बानी बकता बड़ जोगी॥
तन बिनु परस नयन बिनु देखा।
गहै घ्रान बिनु बास असेखा॥
अस सब भाँति अलौकिक करनी।
महिमा जासु जाइ नहि बरनी॥

अव्यक्तम् वह सब कार्यका संचालक, सर्वरूप होकर भी प्रकट नहीं होता। छिपा रहता है। ऐसे निर्गुण परमात्माका जो **पर्युपासते** अर्थात् सर्वत्र उसीका चिन्तन करते हैं—जहाँ देखता हूँ, वहाँ तू ही तू है। उनकी उपासनाका अब ढंग बताते हैं कि वे परमात्माका चिन्तन कैसे रूपमें करते हैं—

सर्वत्रगम् सर्वत्र परिपूर्ण-सर्वव्यापक, देशसे अपरिच्छिन्न, **अचिन्त्यम्** बुद्धिसे परे, बुद्धिसे अपरिच्छिन्न, बुद्धिकी गति उसमें नहीं; **कूटस्थम्** अविनाशी, कालपरिच्छेद रहित, **अचलम्** स्पन्दन-हीन स्वगत भेदसे भी रहित 'ध्रुव' शाश्वत वह परमात्मा है।

अव्यक्तम् कहनेका तात्पर्य है कि वह नेत्र, कर्ण आदि इन्द्रियोंके रंगसे रंजित नहीं होता। इन्द्रियाँ अपने रागसे रँग करके जिसे देखती हैं, उसे व्यक्त कहते हैं। परमात्मा इन्द्रियातीत है, यह बात अव्यक्तसे बता दी। **सर्वत्रगम्**का तात्पर्य है कि वह जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिमें तथा उससे परे भी रहता है। सृष्टि, स्थिति, प्रलयमें और उससे परे भी विद्यमान है। देशका परिच्छेद उसमें नहीं हो सकता। 'यहाँ आना मना है' ऐसा बोर्ड परमात्माके लिए कहीं लगाया नहीं जा सकता; क्योंकि वह बोर्ड भी परमात्मामें ही रहेगा और परमात्मा रूप ही होगा। श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके सत्संगमें एक महात्मा बहुत बोलते थे। श्रीमहाराजने उनसे कहा—'चुप रहो!' उन महात्माने एक पट्टीपर १४४ बड़े-बड़े अक्षरोंमें लिखकर मुखपर पट्टी बाँध ली और तबतक मौन बने रहे, जबतक श्रीमहाराजने उन्हें फिर बोलनेकी आज्ञा नहीं दी। लेकिन इस प्रकार परमात्माके लिए 'प्रवेश-निषेध'का बोर्ड कहीं लगाया नहीं जा सकता। वह तो जाग्रत्, सुषुप्ति, समाधिमें तथा इनसे परे भी विद्यमान है।

अचिन्त्यम् अर्थात् वह मन-बुद्धिका विषय नहीं है। सूक्ष्म शरीरकी गति उसमें नहीं है। **कूटस्थम्** सबके भीतर रहकर भी वह असंग, निर्लिप्त, एकरस है। **अचलम्** वह निर्विकार है। उसमें परिणाम नहीं होता। **ध्रुवम्** वह शाश्वत है। कालपरिच्छेद उसमें नहीं है।

ऐसे निर्गुणरूप परमात्माकी उपासना कैसे की जाय? आज

तो लोग दो बार **सोऽहम्** अथवा **शिवोऽहम्** कह देते हैं और समझते हैं कि निर्गुणोपासना हो गयी; किन्तु उपासना ऐसे नहीं होती। निर्गुण उपासनामें तीन बातें होनी चाहिए—१. **सन्नियम्येन्द्रियग्रामम्** २. **सर्वत्र समबुद्धयः** और ३. **सर्वभूतहिते रताः**।

इन तीनों बातोंमें पहले वर्णित साकारोपासनाका भी समाहार हो जाता है। जैसे—यदि भगवान् विराट् रूप हैं और उनकी उपासना इस रूपमें की जाती है तो **सर्वभूतहिते रताः** अपने-आप होना पड़ेगा। जब सर्व रूप भगवान् ही हैं तो सर्वत्र उनकी सेवा करनी है। कहीं भी किसीमें भी दोष देखना तो प्रभुमें ही दोष देखना है और अपने प्रभुमें दोष देखना तो अपने अन्तःकरणको दूषित करना है, क्योंकि दोष प्रभुमें तो टिक सकते नहीं। वे अपने चित्तमें ही आयेंगे। सब प्राणियोंमें जो निहित है, सबमें व्याप्त है, उसमें रत होना, उससे प्रेम करना, **सर्वभूतहिते रताः**-का स्वरूप है।

सन्नियम्येद्रियग्रामम् अपनी इन्द्रियोंके समूहका भली-भाँति संयम करो अर्थात् उन्हें बाहर जानेसे रोको। तब हृदयस्थ नारायण—अन्तर्यामीमें उनका संयम हुआ। **सर्वत्र समबुद्धयः** परमात्माको—पुरुषोत्तमको छोड़कर सर्वत्र समान बुद्धि कर लो। सबके शरीर पञ्चभूतोंसे बने हैं—यह समबुद्धि है। सब प्राकृत हैं, मायाके खेल हैं—यह भी समबुद्धि है। सबमें ईश्वर ही भरपूर है। सब रूपोंमें वही क्रीडा कर रहा है,—यह भी समबुद्धि है। इस प्रकार भक्तिका समाहार इन तीनों गुणोंमें हो जाता है।

सन्नियम्येन्द्रियग्रामम् इसमें सम्पूर्ण योगका समाहार हो गया। **सन्नियम्य**का अर्थ है कि नियमन सम्पूर्ण रूपसे हो। जैसे यमराजके दूत उनके नियन्त्रणमें रहते हैं, वैसे इन्द्रियाँ तुम्हारे

नियन्त्रणमें रहें। सम्यक् रूपसे, नितरां = पूर्णतः, यम्य = वशमें करो और **इन्द्रियग्रामम्** इन्द्रियोंके पूरे गाँवको—समूहको, दसों इन्द्रियों-को। केवल नेत्र या कर्णको वशमें कर लेनेसे कुछ नहीं होता। बोलेंगे नहीं पर देखेंगे, ऐसा नियम बनानेसे लाभ नहीं है। इन्द्रियोंको बारी-बारीसे भी वशमें नहीं किया जाता। सब इन्द्रियों-को एक साथ और पूर्णतया वशमें करना है। यदि बहिर्मुख इन्द्रियाँ वशमें होकर शान्त नहीं होतीं तो मन बहिर्मुखसे अन्तर्मुख कैसे होगा ? मनके अन्तर्मुख हुए बिना निर्गुणकी उपासना कैसे सम्भव है ? योगका सार ही है इन्द्रियोंका सम्यक् सम्पूर्ण नियमन।

सर्वभूतहिते रताः इसमें धर्मका समाहार हो गया है। क्योंकि धर्मका सार यही बताया गया है—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥—महाभारत

धर्मका सर्वस्व सुनो और सुनकर इसे धारण करो ! इस कानसे सुनकर उस कानसे निकाल मत दो। धर्मका सर्वस्व यही है कि जो बात तुम्हारे प्रतिकूल है, वह दूसरेके साथ मत करो। गाली, अपमान, धनापहरण तुम्हें अप्रिय लगते हैं, अतः दूसरोंको भी गाली मत दो। दूसरोंका अपमान मत करो। किसीका स्वत्व मत छीनो। किसीको पीड़ा मत दो।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि मनुष्य तो अत्यन्त अल्पशक्ति, अल्प क्षमतावाला है और संसारमें भूखे, नंगे, रोगी, दुःखी, अभावग्रस्त प्राणी बहुत अधिक हैं। उन सबकी आवश्यकता कोई कैसे पूरी कर सकता है ?

लेकिन यहाँ यह गणना नहीं करनी है कि तुमने प्राणियोंको लाभ पहुँचाया। गणना यह करनी है कि तुम्हारा हृदय प्रत्येक समय दूसरोंकी भलाईके भावसे भरा रहा या नहीं। संसारमें

उपकारके इतने पात्र हैं कि सबका उपकार तो केवल ईश्वर ही कर सकता है। तुम यह गणना करोगे कि तुमने कितनोंका उपकार किया तो तुम्हें बड़ी निराशा होगी। सबकी भलाईकी जाय, यह बहिरंग धर्म है क्रियाके रूपमें, किन्तु सबकी करनेकी भावना अन्तःकरणमें होती है, यह अन्तरंग धर्म है। यही भक्तिका सार भी है। श्रीमद्भागवतमें आया है:—

सर्वभूतेषु मद्भावं पुंसो भावयतः चिरात्।
स्पर्धासूयातिरस्काराः साहंकारा वियन्ति हि॥

समस्त प्राणियोंमें भगवद्भाव करनेपर धीरे-धीरे स्पर्धा मिट जाती है; क्योंकि जब सब भगवान् हैं तो भगवान्से प्रतिद्वन्दिताका भाव कैसे रह सकता है? 'यह मुझसे आगे कैसे बढ़ जायगा' ऐसी भावना भगवद्भाव होनेपर रह नहीं सकती। असूया अर्थात् किसीके गुणमें दोष देखना भी नहीं बनेगा। किसीका तिरस्कार भी नहीं किया जा सकेगा और अहंकार भी नष्ट हो जायगा; क्योंकि भगवान्के सामने गर्व नहीं किया जा सकता।

सर्वत्र समबुद्धयः सब कहीं समता—समभाव रखना, यह ज्ञानका सार है और भक्तिका भी सार है। ज्ञानका सार गीतामें इसे कहा गया है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥ ४.१८

जो समतामें स्थित हैं, वे तो ब्रह्ममें स्थित हैं—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥ ४.१९

श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

ब्राह्मणे पुल्कसे स्तेने ब्रह्मण्येऽर्के स्फुलिङ्गके।
अक्रूरे क्रूरके चैव समदृङ् पण्डितो मतः॥ ११.२९

ब्राह्मणमें और कसाईमें, चोरमें और ब्राह्मणभक्तमें, सूर्यमें तथा चिनगारीमें, शान्तमें और क्रोधीमें, सर्वत्र जो समदृष्टि रखता है, उसे पण्डित समझना चाहिए।

इस प्रकार इसमें धर्म तथा भक्तिका सार सम्पूर्ण प्राणियोंमें रहनेवाले परमात्माका चिन्तन आगया। योगका सार सम्पूर्ण इन्द्रियोंका संयम आगया। जीवन्मुक्तिका सार सर्वत्र समबुद्धि करना आगया। लेकिन यह निर्गुण उपासना है, यह ज्ञान नहीं है। ज्ञान तो चरमावृत्ति है। ज्ञानमें आवृत्ति नहीं है।

अच्छा, यह सब करनेसे प्राप्त क्या होगा ? भगवान् कहते हैं— **ते प्राप्नुवन्ति मामेव** इस प्रकार निर्गुणकी उपासना करनेवाले मुझे ही प्राप्त करते हैं। यहाँ श्रीकृष्ण 'मैं'का प्रयोग ब्रह्मरूपसे कर रहे हैं। नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-अखण्ड-सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही श्रीकृष्ण हैं। यहाँ उन्होंने निर्गुण-सगुणका अभेद बतलाया है; क्योंकि जिसकी उपासना की जाती है, उसीकी प्राप्ति भी होती है। उपासना श्रीकृष्णकी की जाती है और प्राप्ति ब्रह्मकी होती है, यह बात गीतामें है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

क्योंकि श्रीकृष्ण ब्रह्म हैं। वे कहते हैं **ब्राह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहम्** तब सगुणोपासक तथा निर्गुणोपासककी भगवत्प्राप्तिमें अन्तर क्या हुआ ? निर्गुणोपासक अपने प्रयत्न—पौरुषमें साधनचतुष्टय-सम्पन्न होकर भगवत्प्राप्ति करता है यह बात **प्राप्नुवन्ति**से बताया। **प्राप्नुवन्ति** क्रियाका कर्त्ता 'त्वं' पदार्थ है। भक्त—सगुणोपासकको भगवान् स्वयं प्राप्त होते हैं, यह आगे बतलायेंगे।

●

: ५ :

● *संगति*

जब निर्गुणोपासना और सगुणोपासनाका फल एक हो है, दोनोंके लिए ही **ते प्राप्नुवन्ति मामेव** है तो इन उपासनाओंमें क्या अन्तर है ? इस प्रश्नका उत्तर इस अगले श्लोकमें भगवान् दे रहे हैं।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ५ ॥

उन अव्यक्तमें आसक्तचित्त लोगोंको क्लेश बहुत अधिक होता है; क्योंकि देहाभिमानियोंको अव्यक्त गति बड़े दुःखसे प्राप्त होती है।

अव्यक्तासक्तचेतसामधिकतरः क्लेशः निर्गुण उपासनामें जो विवेक-वैराग्य अपेक्षित है, वह सबके लिए सुगम नहीं है। मैंने ऐसे लोगोंको देखा है जो छः-आठ वर्षसे निर्गुणोपासनामें लगे हैं; किन्तु उनको विवेकशक्ति जाग्रत नहीं हुई है। उनको धारणा-शक्ति तो काम करती है। धारणा उनमें है; किन्तु विवेक नहीं है। उनसे पूछनेपर कहते हैं—'द्रष्टा, साक्षीका ध्यान करता हूँ।' द्रष्टा कहीं ध्यानका विषय होता है ? वह तो वृत्तिका, ध्यान तथा समाधिका भी द्रष्टा है। साक्षीको ध्येय बनाना सम्भव नहीं है। जो ध्येय होगा—ध्यानका विषय होगा, वह द्रष्टा नहीं रहेगा। अतः निर्गुणोपासनामें तो अचिन्तन ही चिन्तन है। चित्तको चिन्तनहीन दशामें रखना है।

निर्गुणोपासनामें नित्य-अनित्यका, सत्-असत्का, आत्मा-अनात्माका, सुख-दुःखका, जड़-चेतनका विवेक करना है। **विचिर पृथग्भावे** विवेक शब्दका अर्थ है पृथक्करण। जैसे तिल-चावल मिल गये हैं तो उनको चुनकर पृथक्-पृथक् कर दो। इसी प्रकार देह, इन्द्रियाँ, मन आदिमें जो आत्मा—चेतन मिला-जुला है, उसे बुद्धिसे पृथक् करो। देह, इन्द्रियादिसे उसे पृथक् पहचानो। जबतक बाह्यप्रपञ्चमें राग-द्वेष रहेगा तबतक न तो मन, इन्द्रियादिसे ठीक-ठीक आत्माका पृथक् विवेक होगा और न चित्त चिन्तनहीन दशामें स्थिर रहेगा। इसलिए निर्गुणोपासनामें वैराग्य-राग-द्वेषसे रहित होना आवश्यक है। विश्वके सब वैभव, सब विस्तार, सब सम्बन्ध तथा सभी संकल्पोंके सम्बन्धमें विचार करो तो वे अखण्ड सत्तामें तुच्छ प्रतीत होंगे। संसारके छोटे-से-छोटे भोगसे लेकर ब्रह्मलोक-पर्यन्त सभी स्थितियोंसे वैराग्य होना चाहिए। यह विवेक-वैराग्यकी पूर्णता जीवनमें शीघ्र नहीं आती और इसके आये बिना निर्गुणोपासना होती नहीं।

चित्त अव्यक्तमें आसक्त हो तो भी अव्यक्त तत्त्व क्षण भरके लिए भले झलक जाय; किन्तु उसमें चित्तकी स्थिति नहीं होती। जैसे चील भले उच्चाकाशमें उड़े; किन्तु उसे बैठना पृथिवीपर आकर ही है, वैसे ही वैराग्यहीन पुरुषकी वृत्ति भले क्षण भरको अव्यक्तमें लगे; किन्तु बैठना उसे राग-द्वेषके ही क्षेत्रमें है। यही क्लेश है। यह क्लेश साधारण नहीं है, अधिकतर है।

सगुण ईश्वर तो अपने मार्गमें चलनेवालेकी सहायता करता है; किन्तु निर्गुण सहायता कर नहीं सकता। गोस्वामी तुलसीदास-जीने रामचरितमानसमें श्रीरामसे कहलाया है—

मोरे प्रौढ़ तनय सम ज्ञानी।
बालक सुत सम दास अमानी॥
निजबल तिन्हहिं मोर बल ताही।
दुहुँ कहँ काम-क्रोध रिपु आही॥

सगुण उपासक तो भगवान्‌के नन्हें मुन्ने बालक हैं। उन्हें अँगुली पकड़ाकर या गोदमें उठाकर उनका दयामय भगवान् ले जाता है। लेकिन निर्गुणोपासक तो तरुण पुत्रके समान है। उन्हें अपने बलपर चलना है।

अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते।

अव्यक्तमें आसक्तचित्त लोगोंको बहुत अधिक क्लेश क्यों है? इसका उत्तर देते हैं—'हि' क्योंकि **देहवद्भिः** देहाभिमानीकी गति अव्यक्तमें दुःखसे—कष्टसे होती है।

ईश्वरके सम्बन्धमें सभी अपनी स्थितिके अनुसार विचार करते हैं। जीवात्मा साकार है या निराकार? जीव कभी मनुष्य, कभी पशु या पक्षी, कभी कीट-पतंगका शरीर पाता है। जब जो आकार उसे मिलता है, तब अपनेको उसी आकारवाला वह मान बैठता

है। वैसे जीवका कोई आकार नहीं। वह निराकार है। लेकिन जबतक तुम अपनेको निराकार नहीं समझते, तबतक परमात्माको निराकार कैसे समझ सकते हो ? तुम्हारा आकार कौन-सा है ? जो बचपनमें था वह या युवावस्थामें था वह अथवा बुढ़ापेमें है वह ? ये आकार तो बदलते रहते हैं। केश काले, श्वेत अथवा केशरहित खल्वाट मस्तक, यह तुम्हारा आकार तो नहीं है। ये तो आने-जानेवाली अवस्थाएँ हैं। इसी प्रकार जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिमें-से किस अवस्थावाले तुम हो ? ये अवस्थाएँ भी बदलती रहती हैं। तुम कहते हो 'मैं देहवान् हूँ' तो जीवात्मा देहवाला नहीं हो सकता।

संघातस्य परार्थत्वात्।

नियम यह है कि जो वस्तु अनेक वस्तुओंसे मिलकर बनी है, वह अपने लिए नहीं होती। वह दूसरेके लिए होती है जैसे मोटर अनेक पुर्जोंको जोड़कर बनी है तो वह दूसरेकी सवारीके लिए है। यह शरीर भी मोटर ही है। इसमें भी अनेक पुर्जे हैं। अतएव अपने लिए यह नहीं है। शरीररूपी यह जो भानुमतीका कुनबा एकत्र हुआ है, वह किसी एकके लिए है और वह इससे पृथक् है। जैसे मोटरका स्वामी मोटरसे पृथक् होता है। इसलिए ईश्वरमें साकारबुद्धि कबतक ?

साकारधीरात्मनि यावदस्ति साकारधीर्ब्रह्मणि तावदस्ति।

जबतक शरीरमें आस्था है, जबतक तुम अपनेको शरीर—स्थूल देह मानते हो, तबतक ईश्वरको भी साकार समझते हो। जब अपनेको सूक्ष्म शरीर समझोगे, तब ईश्वर भी हिरण्यगर्भके रूपमें समझमें आयेगा। जब अपनेको कारण शरीर मानोगे तो ईश्वर भी जगत्कारण अन्तर्यामी समझ पड़ेगा। जब अपनेको निराकार

समझोगे तो ईश्वर भी निराकार जान पड़ेगा। 'तत्' पदार्थ तथा 'त्वं' पदार्थका समान शोधन हो जानेपर दोनोंका एकत्व हो जायगा। लेकिन अभी अपने तो बने हैं शरीरधारी और ईश्वरको सोचते हैं निर्गुण, निराकार; ऐसी अवस्थामें अपना घर तो है साकार देहमें और पहुँचना चाहते हैं निराकारमें। होगा क्या? थोड़ी देर निर्गुण निराकारमें उड़ सकते हो; किन्तु फिर लौटकर देहमें ही बैठोगे। अतएव देहाभिमानीके लिए परमात्माका निर्गुण अव्यक्त रूप बड़े कष्टसे साध्य है।

निर्गुण निराकारकी उपासना तो सर्वथा ठीक है; किन्तु उनके लिए ठीक है, जो विवेक-वैराग्यसम्पन्न हैं। श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके यहाँ सब प्रकारके लोग रहते थे। वहाँ देवीके, शिवके, नारायणके, रामके, कृष्णके उपासक, आर्यसमाजी तथा वेदान्ती सभी प्रकारके लोग रहते थे। एक बार एक सेठजी श्रीमहाराजका दर्शन करने आये और दर्शन करके अपना कोट टाँगकर किसी कामसे नगरमें चले गये। लौटकर देखा तो कोटकी जेबसे किसीने सौ-सवा सौ रुपये निकाल लिये थे। आश्रमके लोगोंको पता लगा, खोज हुई और रुपये निकालनेवाला पकड़ा गया। रुपये मिल गये। सेठजीको रुपये दे दिये गये। वे चले गये। इसके बाद आश्रमके लोगोंकी श्रीउड़ियाबाबाजीके समीप बैठक हुई। सबकी सम्मति थी कि चोरी करनेवालेको आश्रमसे निकाल देना चाहिए, क्योंकि इससे आश्रम बदनाम होता है। श्रीमहाराज बोले—'जब इस आश्रममें ऐसे कर्म होते हैं तो मैं ही यहाँ से क्यों न चला जाऊँ?'

लोगोंने कहा—'आप क्यों जायँगे?'

श्रीउड़ियाबाबाजी—'आश्रममें तो बहुत-से मच्छर, मक्खी, चूहे, चींटियाँ तथा अन्य अनेक जीव-जन्तु रहते हैं। वे सब लोगोंको

सुख ही तो नहीं देते। वे तो इस आश्रमको अपना घर मानते हैं, किन्तु मैं तो इसे अपना मानता भी नहीं। अतः हटना ही हो तो मुझे हट जाना चाहिए।'

एक बार मैं एक महात्माके दर्शन करने गया। उनकी कुटियामें चार अंगुल ऊँची धूल भरी थी और ततैयोंने कई छत्ते बना रखे थे; किन्तु धूल-भरी कुटियामें रहनेवाले महात्माके मुख-पर जो ज्योति थी, वह साबुन, पाउडर, क्रीम लगानेवाले तथा बड़े-बड़े भवनोंमें रहनेवालोंके लिए दुर्लभ है। मैंने उनसे प्रार्थना की कि मैं कुटिया स्वच्छ कर दूँ तथा ततैयोंको भगा दूँ, तो बोले—'इसे मैं तो अपना घर मानता नहीं। ये जीव इसे अपना घर मानते हैं। इसलिए इनको भगा देना ठीक नहीं है।'

श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजसे उनके पास रहनेवाले भक्तोंने एक बार कहा—'महाराज! आप इन वेदान्ती लोगोंको भक्तिके मार्गमें क्यों नहीं लगाते? ये घट-पटकी खटपटमें ही फँसे हैं।'

महाराजश्रीने कहा—'बेटा! इन सबमें श्रद्धा तो है ही नहीं।'

इसी प्रकार वेदान्ती साधकोंने महाराजसे कहा—'उपासक लोग तो सच्चे तत्त्वको जानते ही नहीं। ये तो शृंगार-चिन्तनमें ही लगे हैं। इन्हें आप तत्त्वज्ञानका उपदेश क्यों नहीं करते?'

बाबाने कहा—'इन लोगोंमें वैराग्य तो है नहीं।'

तात्पर्य यह कि भक्तिके लिए श्रद्धा और निर्गुणोपासनाके लिए वैराग्य आवश्यक है।

: ६-७ :

● *संगति*

निर्गुणोपासना तो इसलिए कठिन है कि उसमें विवेक-वैराग्य-की अनिवार्य आवश्यकता है और विवेक-वैराग्य सुगमतासे प्राप्त नहीं होते। देहाभिमानीके लिए अव्यक्तमें स्थिति प्राप्त करना बहुत कष्टकर है। लेकिन सगुणोपासक भी तो प्रारम्भमें देहाभिमानी ही होता है। उसका मार्ग क्यों सुगम है? अब यह बात भगवान् बतला रहे हैं।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥६॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥७॥

'हे पार्थ ! जो लोग अपने समस्त कर्म मुझे अर्पित कर, मेरे परायण होकर अनन्य-योगसे मेरा ध्यान करते हुए मेरी उपासना करते हैं, उन मुझमें चित्त लगाये हुए लोगोंका इस मृत्युमय संसार-सागरसे मैं शीघ्र ही उद्धार कर देता हूं।'

मत्पराः भक्त वह है जो मेरे परायण हो। भक्तके जीवनमें भी सुख-दु:ख आते हैं; किन्तु वह सुख या दु:खको न देखकर यह देखता है कि इनको भगवान्ने भेजा है। जैसे किसीने पीछेसे चपत लगा दी। चपत लगनेसे पीड़ा हुई और एक व्यक्ति रोने लगा। लेकिन एकने पीछे सिर घुमाकर देखा कि चपत उसके प्रियने लगायी है। उसे इससे प्रसन्नता हुई कि मैं पीठ किये बैठा था, स्वागतके लिए नहीं उठा तो चपत लगाकर उन्होंने मुझे अपने अभिमुख कर लिया। अपने आनेकी सूचना बोलकर, गाकर देते या चपत लगाकर देते। इतना स्नेह, इतनी आत्मीयता मुझसे है कि चपत लगाकर आनेकी सूचना देते हैं। अतः मूल्य सुख-दु:खका नहीं है, मूल्य इसका है कि उसे देनेवाला कौन है। यदि देनेवालेका ही दिया दु:ख है तो वह दुःख भी प्रसन्नताका हेतु है।

श्रीहरिबाबाजी महाराजको एक सौ वर्षके सन्तने एक बात बतायी थी। अपनी युवावस्थामें एक विधवा स्त्रीसे उनका अनुचित सम्बन्ध हो गया था। उस स्त्रीके अपने पतिसे एक पुत्र था। जब वह दस वर्षका हुआ तो लोगोंसे अपनी माताके अनाचारकी बात जानकर दु:खी रहने लगा। स्त्रीको भी लड़का अपने काम-भोगमें बाधक प्रतीत होने लगा। अतः उस स्त्रीने एक दिन विष घोला और उसे शर्बतमें मिलाकर उन्हें दिया कि वे उस लड़केको पिला दें। उन्होंने लड़केको शर्बत दे तो दिया किन्तु ऐसा करते उनका हृदय काँप गया। वे अपनेको रोक नहीं

सके, बालकसे बता दिया कि शर्बतमें विष है। उस लड़केने पूछा—'विष किसने मिलाया है ?'

उनके यह बतलानेपर कि उसकी माताने विष मिलाया है, लड़का बोला—'जिस माताने मुझे नौ महीने पेटमें रखा, जिसने अपना दूध पिलाकर मेरा पालन किया, वही माता जब विष भेजती है तो मैं प्रसन्नतापूर्वक इस विषको पीऊँगा।'

इसी प्रकार भक्तकी दृष्टि इसपर नहीं होती कि उसे मिट्टी, पत्थर, कंकड़, काँटा या रत्न क्या मिलता है ? उसकी दृष्टि वस्तु या क्रियापर नहीं रहती। उसकी दृष्टि देनेवालेपर, कर्तापर रहती है। उस देनेवालेकी एक-एक क्रियामें कितना प्यार है, यह भक्त देखता है। मैं जब छोटा था तो माँ बलपूर्वक पकड़कर लिटाकर शरीरमें उबटन लगाती थी। साबुनका उपयोग तो तब हमारे यहाँ अपवित्र माना जाता था। उस समय मैं रोता था। ज्वर आनेपर कुनैन पीनी पड़ती थी। उस समय चीनी चढ़ी गोलियाँ नहीं थीं। मैं न पीता तो बलपूर्वक दवा पिलायी जाती थी। इसमें पिलानेवालेके हृदयमें कितना प्रेम था ? इसी प्रकार ईश्वर भी कभी-कभी हमारे हितके लिए हमें कड़वी ओषधि देता है।

एक बार मैं एक महात्माके पास सौ मील पैदल चलकर गया। तीन-चार दिन मार्गमें लगे। स्वयं भोजन बनाना आता नहीं था और छुआछूत बहुत मानता था, अतः चने-मुरमुरे तथा चिउड़ा खाकर ही रास्तेमें काम चला। उन महात्मासे कुछ आधे घंटेके लिए मिल सका और उन्होंने एक ही बात बतायी। रामचरित-मानसकी एक अर्धाली सुनायी उन्होंने—

उमा राम सुभाउ जिन जाना।
तिन्हहि भजन तजि भाव न आना॥

भगवान् शंकर पार्वतीसे कह रहे हैं—'उमा ! जिसने श्रीरामके परम कृपालु स्वभावको समझ लिया, उसे भजनको छोड़कर और कोई बात प्रिय नहीं लगती ।'

एक राजाका मन्त्री था । उसे यह स्वभाव पड़ गया था कि बात-बातमें 'भगवान्ने बड़ा अच्छा किया, बड़ी कृपा की'—यह वाक्य बोलता रहता था । एक बार राजाके दरबारमें कोई कारीगर तलवार बनाकर ले आया । राजाने तलवारकी धार देखनेके लिए उसपर अँगूठा फिराया तो अँगूठेका एक अंश कट गया । रक्तकी धारा बहने लगी । इसी समय मन्त्री दरबारमें आया । उसके मुखसे अभ्यासवश निकल गया—'भगवान्ने बड़ा अच्छा किया, बड़ी कृपा की ।'

मन्त्रीकी बातसे राजाको बड़ा क्रोध आया । उन्होंने उसे कारागारमें डाल दिया । थोड़े समयमें राजाका अँगूठा अच्छा हो गया और वे वनमें आखेट करने गये । संयोगवश आखेट करनेमें अपने साथियोंका साथ छूट गया । राजा अकेले वनमें भटक गये । वहाँ उन्हें वनवासी किरातोंने पकड़ लिया और चामुण्डाको बलि देनेके लिए पकड़ ले गये । लेकिन बलि-स्थानपर किरातोंके पुजारीने राजाका अँगूठा कटा देखा तो बोला—'यह तो अंग-भंग पशु है । इसका बलिदान नहीं हो सकता ।' किरातोंने राजाको छोड़ दिया । अब उसे स्मरण आया कि अँगूठा कटनेपर मन्त्रीने ठीक ही कहा था कि—'भगवान्ने बड़ा अच्छा किया, बड़ी कृपा की ।' नगर लौटकर मन्त्रीको कारागारसे मुक्त करके राजाने पूछा—'अँगूठा कटना मेरे लिए तो भगवान्की कृपा थी; किन्तु आपको कारागारमें डाला गया, तब भी आपने कहा था कि 'भगवान्ने बड़ा अच्छा किया, बड़ी कृपा की । आपपर कृपा कैसे हुई ।'

मन्त्री बोला—'राजन् ! आपको तो किरातोंने अँगूठा कटा होनेसे छोड़ दिया। यदि मैं कारागारमें न होता तो आपके साथ रहता और मुझे वे नहीं छोड़ते। इसलिए मुझे बन्दीगृहमें भेजकर भगवान्ने मुझपर भी कृपा की।'

प्रह्लादको सर्पोंसे डँसवाया गया, पर्वतसे गिराया गया, समुद्रमें डुबाया गया, हाथीसे कुचलवाया गया; किन्तु वे सर्पोंमें, पर्वतमें, समुद्रमें, हाथीमें, सर्वत्र भगवान्को ही देखते थे। यह भगवत्परायणता है।

ईश्वर ही हमारा रक्षक है, ईश्वर ही हमारा घर है—ऐसा दृढ़ विश्वास होना चाहिए। गीतामें **अस्मद्** शब्दका श्रीकृष्णने बार-बार प्रयोग किया है। **मयि, मां, मया** आदिके रूपमें। यह अस्मद् शब्दका प्रयोग किसके लिए है ? उसके लिए, जिसके मुखसे गीता निकल रही है। उसी पार्थसारथिके परायण होनेकी बात यहाँ है।

ये तु सर्वाणि कर्माणि इसमें 'तु' पहले दो श्लोकोंमें बताये गये **अव्यक्तासक्तचेतसाम्** लोगोंसे भिन्न लोगोंको सूचित करनेके लिए आया है। जब किसी वस्तुका ज्ञान प्राप्त करना है तो उसका बारीकीसे निरीक्षण करना होगा। हाथ-पैर शान्त करके एकाग्रतापूर्वक देखेंगे तभी सूक्ष्म निरीक्षण होगा। कानमें कथा पड़ती जाती है और हाथसे बत्ती बनती जाती है, इसमें कथा कानमें बस पड़ती जाती है। उसके कारण पुण्य तो होता है; लेकिन कथाका तात्पर्य हृदयमें नहीं बैठता। अतः ज्ञान-प्राप्तिके लिए कर्म-विक्षेपका त्याग अनिवार्य है। लेकिन भक्तिमें कर्मका त्याग करना आवश्यक नहीं है। भक्तिकी विशेषता प्रेमपूर्वक भगवान्की सेवा करनेमें है। चलनेकी इच्छा हो तो परिक्रमा कर सकते हैं, हाथ जोड़ सकते हैं, मुखसे स्तुति-कीर्तन कर सकते हैं। भक्तिमें कर्म त्यागना नहीं पड़ता।

सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य जो भी कर्म करो खाना-पीना, चलना-बैठना, बोलना-सुनना सूँघना-छूना आदि सबको भगवान्‌के लिए ही करो। ज्ञानमें तो इतनी तन्मयता अपेक्षित है कि सब कर्म छूट जायँ; किन्तु भक्तिमें इतनी तन्मयता अपेक्षित नहीं है।

आप घरमें घण्टे-आध घण्टे पूजा करते हैं और दूकानपर जाकर छः-सात घण्टे व्यापार करते हैं। आध घण्टेकी पूजा भगवान्‌के लिए और छः घण्टेका व्यापार धन कमाकर अपनी तथा अपने परिवारकी सेवाके लिए, इसका नाम भक्ति नहीं है। लेकिन केवल पूजा ही भक्ति नहीं है। स्नान करते समय यदि तुम स्नानमें सावधानी न रखकर कीर्तन-ध्यान करने लगो तो यह भी भक्ति नहीं होगी। स्नान करो इसलिए कि शरीर स्वच्छ करके पूजा करोगे। अतः स्नानके समय शरीरको भली प्रकार स्वच्छ करो। यह स्नान भगवत्पूजाके लिए होनेसे भक्ति है। इसी प्रकार रात्रिमें जागकर जप करते रहना और दिन भर ऊँघना भक्ति नहीं है, यह नासमझी है। रात्रिमें भली प्रकार निद्रा लेना और इसलिए लेना कि उठनेपर शरीर स्वस्थ तथा स्फूर्तियुक्त रहेगा तो भगवान्‌की ठीक सेवा करेंगे। यह निद्रामें भी भक्ति है। इसी प्रकार जीवनके सब कर्म—शौचादि भी भगवत्सेवा निमित्त ही करने हैं। भगवान्‌के लिए पहनना है। घरमें भोजन भगवान्‌को अर्पित करनेके लिए बनाना है। जल पीनेको उठाओ तो भगवान्‌को अर्पित करके पीओ।

इस प्रकार यह देखो कि तुम चौबीस घण्टोंमें कितना समय भगवान्‌के लिए देते हो। भगवान् थोड़े-से सन्तुष्ट नहीं होते। उन्हें छः घण्टे दो तो बारह माँगते हैं। पूरा जागरणका समय दो तो स्वप्न-सुषुप्तिका समय भी माँगते हैं। उन्हें तो पूरे चौबीस घण्टे

चाहिए। स्थूल शरीरके सब कर्म दे दो तो मन-बुद्धिके कर्म— संकल्प तथा चिन्तन भी माँगते हैं। वे तो अँगुली पकड़कर पहुँचा पकड़नेवाले हैं। यदि तुम्हें अपने लिए भी कुछ बचा रखना हो तो इस मार्गमें मत आना। यह आत्म-बलि देनेका मार्ग है।

अब देखो, कुछ असामाजिक कर्मोंकी बात कहता हूँ। एक सज्जन एक महात्माके पास गये। महात्मासे उन्होंने कहा—'मुझे तो जुआ खेलनेका व्यसन है। मैं इसे छोड़ नहीं पाता हूँ।'

महात्मा बोले— यह तो बड़ा उत्तम कर्म तुम्हें आता है। इसे छोड़नेकी क्या आवश्यकता है? बस इतना नियम बना लो कि किसी सांसारिक मनुष्यके साथ जुआ नहीं खेलना है। भगवान्की मूर्तिके सम्मुख चौपड़ बिछाकर बैठ जाओ। एक बार अपनी ओरसे चलो और एक बार यह मानकर चलो कि वे अन्तर्यामी अपनी ओरसे चलने की प्रेरणा दे रहे हैं।'

एक दूसरे व्यक्ति गये महात्माजीके पास और बोले—'मुझसे झूठ बोले बिना रहा नहीं जाता।'

महात्माने कहा—'तुम्हें तो बड़ा उत्तम कर्म आता है। ऐसी कला क्या संसारके लोगोंको दिखाने की है। तुम मान लो कि भगवान्की सभाके भाँड़ (विदूषक) हो। उनका दरबार लगा है। अब डटकर गप्प हाँको। ऐसी गप्प हाँको कि हँसते-हँसते भगवान् भी लोट-पोट हो जायँ। चिन्तन करो कि तुम्हारी गप्प सुनकर कैसे हँसते-हँसते वे दुहरे हुए जाते हैं और उनका मुख लाल हो गया है। उनके विशाल नेत्रोंमें हर्षाश्रु आगये हैं।'

किसीको चोरी करनेका व्यसन है तो माखनचोर उसे मित्र बनानेको प्रस्तुत हो है। तात्पर्य यह है कि भक्तिके मार्गमें कर्म छोड़ने या परिवर्तित करनेकी आवश्यकता नहीं है। जो भी कर्म करते हो, वही भगवान्के लिए करो। उसको ही भगवान्में

लगाओ। **मयि संन्यस्य**का बड़ा मधुर अर्थ है। तुम कर्मरूपी पकौड़े जो एक-एक बनाते चलते हो, उसे भगवान्‌के सामने परोसते चलो।

नारद भक्ति-सूत्रमें इसीको निरोध संज्ञा दी गयी है—

सा न कामयमाना निरोधरूपत्वात्।

भक्ति कामनास्वरूप नहीं है। उसमें अपने लिए कुछ करना-चाहना नहीं है; क्योंकि वह निरोधस्वरूप है। अब निरोध शब्दका अर्थ बतलाते हैं—

निरोधस्तु लोकवेदव्यापारन्यासः।

लौकिक तथा वैदिक समस्त कर्मोंको भगवान्‌को अर्पित कर देनेका नाम निरोध है। एक व्यक्ति गेहूँ या चावल स्वच्छ कर रहा है। अब प्रश्न है कि वह यह कर्म क्यों कर रहा है? कर्मके लिए तो कर्म होता नहीं। गेहूँ साफ करनेके लिए गेहूँ साफ नहीं किया जायगा। कर्मका कोई प्रयोजन होना चाहिए। प्रयोजनरहित कर्म निष्फल होता है।

प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते।

मूर्ख व्यक्ति भी बिना प्रयोजन कोई काम नहीं करता। अब यदि कर्म गेहूँ स्वच्छ करना अपने भोजनके लिए, सम्बन्धियोंके लिए, अपने स्वामीके लिए है तो यह लौकिक कर्म है। माता-पिताकी सेवाके लिए कर्तव्य मानकर यह कर्म हो रहा है तो यह धर्म है। यदि इन्द्र आदि देवताओंके पूजन-यज्ञके लिए कर्म हो रहा है तो यह आधिदैविक—वैदिक कर्म है। यह भी दो प्रकारका हो सकता है। उस पूजन अथवा यज्ञसे वर्षा कराने, धन या पुत्रादि पानेकी इच्छा है तो वह सकाम कर्म है। यदि शास्त्रकी आज्ञा मानकर बिना कुछ पानेकी इच्छा एवं आशाके कर्म कर

रहे हैं तो वह निष्काम कर्म है। उससे अन्तःकरणकी शुद्धि होगी। लेकिन भक्तिमें लौकिक या वैदिक उद्देश्यसे कर्म नहीं किया जाता। कर्म किया जाता है केवल भगवान्के लिए।

कुछ लोग भगवत्पूजन, दर्शनको भी अपना लौकिक कर्म बना लेते हैं। ऐसे लोग हैं जो संकल्प कर लेते हैं—'हमारा अमुक काम जबतक विहारीजी पूरा नहीं करेंगे, हम उनका दर्शन करने नहीं जायेंगे।' यह क्या है? जैसे विहारीजीको बहुत अपेक्षा है कि वे उनका दर्शन करें अतः विहारीजी विवश होकर उनका काम कर दें। इस प्रकारका संकल्प विरोधी संकल्प है।

सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य सब कर्म भगवान्को दे दो। सब कर्मका अर्थ है प्रारब्ध, सञ्चित, क्रियमाण—सबके सब। अब इसमें प्रश्न उठा कि प्रारब्ध कर्म तो पूर्व जन्ममें किये गये। उनका संस्कार भी बन गया और उस संस्कारने फल भी दे दिया। प्रारब्धके अनुसार ही तो जन्म मिला, आयु निश्चित हुई और इस जीवनके भोग—सुख-दुःख आते हैं। अब इतना सब हो जानेपर प्रारब्धको कैसे भगवान्को अर्पित किया जा सकता है?

पहली बात यह कि भक्त प्रारब्ध मानता ही कहाँ है? वह तो कहता है कि सब प्रभु देते हैं—उनका ही सब दिया है। दूसरे, प्रारब्ध एक हो या सहस्र, उसका फल तो भगवान् ही देते हैं। शरीर प्रकृतिसे या माता-पिताके रज-वीर्यसे उत्पन्न हुआ, यह भौतिकवादी मानते हैं। शरीर कर्मसंस्कारसे बना यह अधिदैविकताको माननेवाले कहते हैं और भक्त मानता है कि शरीर भगवान्ने दिया है। पूर्वकृत कर्मको देखना आध्यात्मिक दृष्टिकोण है। कर्मका फल स्वयं नहीं होता। वेदान्त शास्त्र भी कहता है कि फल ईश्वर देता है—**फलमत उपपत्तेः** (ब्रह्मसूत्र)। अतः शरीर देकर उसको आयु तथा भोग देनेवाला ईश्वर ही है।

सञ्चित कर्म दो प्रकारके हैं। एक तो पूर्व-पूर्व जन्मके और दूसरे जो इस जन्ममें किये गये हैं। अब इस जन्मके कर्मोंके स्मरणसे जो सुख-दुःख होता है, वह सञ्चितसे आता है। इसे ईश्वरसे जोड़ते जाओ और क्रियमाण कर्मोंको ईश्वरके लिए ही करो। इस प्रकार अपने सब कर्म जो भगवान्‌को अर्पित करता है, उससे यदि भ्रम-प्रमादवश कोई अपकर्म हो भी जाय तो उसे प्रायश्चित नहीं करना पड़ता। भक्तके लिए प्रायश्चितका विधान नहीं है; क्योंकि प्राय-श्चित करनेमें लगनेपर चित्तमें कर्मकी महत्ता बढ़ती और भक्तिकी महत्ता विस्मृत होती है। इसलिए भक्त प्रायश्चित नहीं करता। वह भजनसे, नाम-जपसे ही शुद्ध हो जाता है।

कर्मका संन्यास अर्थात् कर्मका विषय—जिसके लिए कर्म किया जा रहा है, वे भगवान् हैं और कर्मके आश्रय भी भगवान् ही हैं। वही तो भीतर बैठकर कर्म करनेकी प्रेरणा तथा शक्ति दे रहे हैं। कर्ता-कारयिता, भोक्ता-भोजयिता ईश्वर ही है। अतः सम्पूर्ण कर्म ईश्वरमें ही अर्पित हैं, ऐसा देखना कर्मका संन्यास है।

मत्परः समस्त कर्म भगवान्‌के लिए करो और भरोसा भग-वान्‌पर रखो। **मत्परः** का अर्थ है, केवल भगवान्‌पर ही भरोसा करना, भगवान्‌का ही विश्वास करना।

मोर दास कहाइ नर आसा। करइ तौ कहहु कहाँ विस्वासा॥

एक कथा है—भगवान् नारायण एक बार गरुड़पर बैठकर कैलास गये। श्रीनारायणको आया देखकर भगवान् शंकर उनका स्वागत करने उठ खड़े हुए। लेकिन शंकरजीके कण्ठमें लिपटा सर्प बड़े क्रोधसे फूत्कार करके गरुड़की ओर लपका; मानो वह गरुड़को डस लेना चाहता हो। यह देखकर गरुड़को हँसी आगयी। इससे चिढ़कर वह सर्प बोला—'हँसते क्यों हो? मुझे जानते नहीं?'

गरुड़ने उत्तर दिया—'नागराज, मैं आपको भली प्रकार जानता हूँ; किन्तु तभी तक, जबतक आप भगवान् शंकरके कण्ठमें लिपटे हैं।

स्थानं प्रधानं न बलं प्रधानं स्थाने स्थितः कापुरुषोऽपि धीरः।
जानामि नागेन्द्र तव प्रभावं कण्ठं विना गर्जसि शंकरस्य॥

'नागराज ! प्रधानता स्थानकी होती है, बलकी नहीं। ठीक, सुरक्षित स्थानपर रहकर कायर व्यक्ति भी धैर्यवान् बन जाता है। इस समय आप भगवान् शिवके गलेमें लिपटे होनेसे मुझे फुफकार रहे हैं। उनसे पृथक् होकर जब फुफकारेंगे, तब मैं आपको देख लूँगा।'

तात्पर्य यह कि जीवमें जो शक्ति है, वह भगवान्के आश्रयकी ही है। भगवान्का आश्रय छोड़कर यदि संसारमें जाकर गर्जना करोगे तो संसार तुम्हें नरकमें पटककर छोड़ेगा। अतएव **मत्परः**का अर्थ है भगवान्का आश्रय—हृदयमें भगवान्का दृढ़ विश्वास।

लोग भजन तो भगवान्का करते हैं; किन्तु चाहते हैं संसार। भजनका फल वे धन, आरोग्य, पुत्र आदि चाहते हैं। भगवान्की बात तो दूर, मेरे पास लोग आते हैं। पूछनेपर कहेंगे—'केवल आपका दर्शन, आपकी सेवा करने आया हूँ।' 'घरमें कौन-कौन हैं'—यह पूछनेपर परिवारका वर्णन करके कहेंगे—'एक कन्या है, विवाह योग्य हो गयी है। उसके विवाहके लिए पाँच हजार रुपये-की आवश्यकता है। इसलिए तो मुझे आना पड़ा है।' यह या ऐसी ही कोई दूसरी सांसारिक माँग—यह संसारके परायण होना है। भगवत्परायण अथवा सन्तके परायण होना तो यह नहीं है। अतः भजन करो, पर वह भी अपने किसी स्वार्थकी पूर्तिके लिए नहीं, भगवान्की प्रसन्नताके लिए भजन करो।

एक बार श्रीकृष्णचन्द्र और किसी गोपीके यहाँ रात्रि व्यतीत करके श्रीराधारानीके यहाँ सबेरे पहुँचे। जबतक श्रीकृष्ण आये नहीं थे, श्रीराधा उनके वियोगमें व्याकुल थीं। रुदन-क्रन्दन कर रही थीं; किन्तु श्रीकृष्णको आते देखकर वे अत्यन्त क्रोधमें भर गयीं। रूठकर उन्होंने द्वार बन्द कर लिये। ललिताजी उन्हें समझाने लगीं—'सखी! तुम तो नन्दनन्दनकी सर्वश्रेष्ठ प्रेमकी मूर्ति हो। प्रेमका आदर्श संसार तुमसे सीखेगा। प्रियतमके सुखमें तुम्हें सुखी होना चाहिए। यदि माधवको कहीं और किसीके द्वारा सुख प्राप्त होता है तो तुम्हें अप्रसन्न क्यों होना चाहिए?'

श्रीराधारानी बोलीं—'ललिते! मैं इसलिए रुष्ट तथा दुःखी नहीं होती हूँ कि प्यारे मेरे पास नहीं आये और इससे मुझे सुख नहीं मिला।'

ललिता—'तब आपके दुःखी होनेका कारण?'

श्रीराधा—'मैं प्रियतमकी नस-नस पहचानती हूँ। मुझे पता है कि मेरे पास आये बिना उन्हें कितनी व्याकुलता, कितनी पीड़ा होती है! लेकिन लोग तो अपना सुख, अपना स्वार्थ देखते हैं। अपने आनन्दके लिए इन्हें रोक लेते हैं और ये श्यामसुन्दर इतने कृपालु, इतने मृदुल चित्त, इतने संकोची हैं कि जहाँ प्रेमका किञ्चित् लेश-किञ्चित् छाया भी है, वहाँ उस हृदयकी पुकारको ये अनसुनी नहीं कर पाते। स्वयं व्याकुल रहते हैं। मेरे पास आनेको इनका हृदय छटपटाता रहता है और फिर भी उसे सुख देनेके लिए वहीं रुके रहते हैं। मेरे कष्टका कारण तो यह है।'

यह परायणताका आदर्श है। प्रियके कष्टको मिटानेके लिए, उन्हें सुखी करना भले न हो, उनका कष्ट किञ्चित् कम हो सकता हो तो उसके लिए हम अपने को नरकमें लाख-लाख वर्ष रखेंगे।

भक्तिकी रीति ही अटपटी है। श्रीराधाको दृढ़ निश्चय है कि श्रीकृष्ण उनके समीप आये बिना सुखी होते ही नहीं हैं। भक्तके लिए ऐसा दृढ़ विश्वास अपेक्षित है।

अनन्येनैव योगेन योगमें अनन्यता—यह क्या बात हुई? योगका वर्णन करते समय प्रेमकी चर्चा तो की नहीं जा सकती, तब भक्तिके प्रसंगमें यह योगकी चर्चा भगवान् क्यों कर रहे हैं? यहाँ भगवान् योगकी वात नहीं कहते हैं। अनन्यतारूप योगकी वात करते हैं। योगका अर्थ है जुड़ना। ऐसी अनन्यता, जिससे हम अपने इष्टसे निरन्तर जुड़े रहें, जैसे पतिव्रता पत्नी अपने पतिसे जुड़ी रहती है। वह परपुरुषका चिन्तन भी नहीं करती।

अनन्यताको न समझकर जो अपराध होता है, उसे भी समझ लेना चाहिए। लोग सरकारी कर्मचारियोंको, अपने अधिकारियोंको, अपरिचित-परिचित अपनेसे बड़ोंको हाथ जोड़ते हैं, प्रणाम करते हैं, 'जय रामजी' या 'जय श्रीकृष्ण' करते हैं; किन्तु मार्गमें शिव-मन्दिर मिले तो मुख दूसरी ओर घुमा लेते हैं। अब उनसे पूछो कि जिन सरकारी या अन्य लोगोंको तुम दिनमें छत्तीस बार नमस्कार करते, हाथ जोड़ते हो, शंकरजी या अन्य देवता उन मनुष्योंसे भी छोटे हैं? मनुष्योंको प्रणाम करनेमें तो तुम्हारी अनन्यता नहीं घटती; किन्तु देवताको हाथ जोड़ने, सिर झुकानेसे तुम्हारी अनन्यता नष्ट हुई जाती है? मैं ऐसे परिवारको जानता हूँ, जिसके सदस्य किसीकी निन्दा करनी-सुननी हो तो उत्साहसे सुनते है; किन्तु कथा सुनने आनेकी बात उठे तो कहेंगे—'अन्याश्रय हो जायगा!' यह मूर्खता है। राजनीतिक चर्चा, व्यापारकी बातें, परनिन्दा कहने-सुननेमें तो अन्याश्रय होता नहीं और कथा-सत्संगमें जानेमें अन्याश्रय होता है। इस प्रकार जिससे अपनी ही हानि होती हो ऐसी विवेकहीन बात नहीं माननी चाहिए।

अनन्येनैव योगेन में एव शब्द पड़ा है जो ध्यान देने योग्य है। अनन्यतारूप योगसे ही—भक्तको दूसरे किसी योगकी आवश्यकता नहीं है, यह बात 'एव' सूचित करता है। 'एव' यह भी सूचित करता है कि भक्त भगवान्‌से एक हो जाता है। भक्तकी दृष्टिमें या तो सब परमात्माके स्वरूप हैं अथवा सब भक्त हैं। तीसरी दृष्टि भक्तकी नहीं हो सकती। भक्तकी दृष्टिमें अभक्त कोई है ही नहीं। भक्तका तादात्म्य या तो भक्तिसे रहता है अथवा भगवान्‌से। ज्ञानयोगमें नानारूपका निषेध करके व्यापक निर्गुण तत्त्वसे तादात्म्यभावापन्न होना है; किन्तु भक्तिमें नाम-रूपका निषेध किये बिना ही भगवान्‌के नाम, रूप, लीलासे अपने चित्तका तादात्म्य किया जाता है। अपने चित्तको वृन्दावन बना दो। अपने चित्तको—अपने मनको गौ, ग्वाल, गोपी, श्रीकृष्ण बनाकर भगवान् तथा उनकी लीलासे चित्तका तादात्म्य करो। श्रीशंकराचार्यने लिखा है कि जैसे इस समय तुम संसारके नाम-रूपमें आसक्त हो, वैसे ही भगवान्‌के नाम-रूपमें असक्ति कर लेनी है। जैसे इस समय जो हमारा नाम है और उसमें जो आसक्ति है, यदि माता-पिता इसके बदले कोई दूसरा नाम रख देते तो उस नाममें भी तो ऐसी ही आसक्ति होती। संन्यास लेनेके पश्चात् तो नाम गुरु बदल देते हैं तो उनके रखे नाममें ही आसक्ति हो जाती है। इसी प्रकार बचपनका रूप अब नहीं है। इसलिए नाम और रूप दोनों परिवर्तनशील हैं। इसमें जो हमारी आसक्ति है, बस भगवान्‌के नाम-रूपमें हो जाय, यह भक्ति है।

मां ध्यायन्त उपासते : शरीरसे तो भगवान्‌के लिए कर्म हो रहे हैं। मनमें भगवान्‌का विश्वास और चित्तमें भगवान्‌का ध्यान होना चाहिए। ध्यान कैसा ? योगमें भी ध्यान होता है, लेकिन भक्तके लिए योग आवश्यक नहीं है। यम-नियमकी प्रतिष्ठा

भक्तके जीवनमें अपने-आप हो जाती है। इनके लिए उसे प्रयत्न करना नहीं पड़ता। आसनको उसे केवल उतनी आवश्यकता है, जितनी भगवान्‌के अर्चन-पूजनमें बैठनेमें सहायक हो। चौरासी आसनोंका व्यायाम उसके लिए अनावश्यक है। प्राणायाम और प्रत्याहार भी उतना ही, जितना पूजनमें आवश्यक है। जिससे इन्द्रियाँ पूजनको छोड़ इधर-उधर न जायँ। अतः हठयोगका ध्यान तो भक्तके लिए बताया नहीं जा सकता। मन्त्रयोग एक प्रकारका टोना-टोटका है और प्रेममें टोने-टोटकेको स्थान नहीं। मन्त्रोंके वशमें तो वह सर्वेश्वर होता नहीं। सच्चा प्रेमी प्रेमास्पदको सुख पहुँचाना चाहता है, उसे अपने पराधीन नहीं बनाना चाहता। लययोगका भला भक्तिसे क्या सम्बन्ध ? जब लीन ही हो गये तो प्रेम तथा सेवा कैसे होगी ?

अयोध्यामें एक बार सन्तोंकी सभा हो रही थी। एक सज्जन हाथमें बड़ा पंखा लेकर सन्तोंको झलने लगे। पंखा झलते समय उनके मनमें विचार आया—'आज मेरे कैसे सौभाग्यका उदय हुआ है, प्रभुने कितनी कृपा की है मेरे ऊपर कि मुझे इतने सन्तोंके मध्य खड़े होकर इनके दर्शन तथा सेवाका अवसर मिला है?' इस विचारके आनेसे उनके शरीरमें रोमाञ्च हुआ। नेत्रोंमें आँसू आये और विह्वलता ऐसी बढ़ी कि पंखा हाथसे छूट गया। वे मूर्च्छित होकर गिर पड़े। कुछ साधुओंने उन्हें उठाया। बाहर ले जाकर मुखपर जलके छींटे दिये। सावधान होनेपर उन्होंने फिर पंखा लेना चाहा तो साधुओंने रोकते हुए कहा—'तुम आराम करो। पंखा झलनेका काम सावधान पुरुषका है। तुमने तो सत्संगमें विघ्न ही डाला।' सेवा लीन होनेके लिए नहीं है। लययोगके ध्यानमें अपनेको सुख मिलता है, प्रियतमको सुख नहीं मिलता। अतः भक्तिमें लययोग नहीं चल सकता।

अब राजयोगकी बात करो। राजयोग है अपने 'अह'की विशालताका चिन्तन। **शुद्धोऽहम्, मुक्तोऽहम्** यह चिन्तन तो प्रेमका मार्ग नहीं है। अतः भक्तिमें अष्टाङ्गयोग, लययोग, मन्त्रयोग, राजयोग, पूर्णयोग, राजाधिराजयोग, सविकल्प समाधि अथवा निर्विकल्प समाधि आदि किसीकी आवश्यकता नहीं है। दूसरे सभी योगोंमें चित्तको शान्त करना है; किन्तु प्रेममें शान्ति नहीं है। ईश्वरसे प्रेम होगा तो दूसरे किसी साधनमें चित्त नहीं जायगा। लेकिन प्रेममें तो मिलन-वियोग—दोनोंमें अशान्ति है।

जों मैं ऐसा जानती, प्रीति किये दुःख होय।
नगर ढिंढोरा पीटती, प्रीति करै जनि कोय।।

मीराकी यही बात दूसरे प्रेमियोंने भी अपने शब्दोंमें कही है--

प्रीति करि काहू सुख न लह्यो।
प्रीति पतंग करी दीपक सों पावक माहिं दह्यो।।

प्रीति सरोज करी सूरज सों—

लेकिन प्रेममें होनेवाला यह दुःख भी सुखस्वरूप ही है। इस दुःखमें, पीड़ामें अमृतसे अधिक मधुरता है।

मां ध्यायन्तः इसमें **ध्यायन्तः** शत्रन्त प्रयोग है। इसका तात्पर्य है कि ध्यान चौबीस घण्टे अखण्ड चलता रहता है। अष्टाङ्ग योगमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार-धारणा करते-करते तब कहीं **तत्रैकतानता ध्यानम्** की प्राप्ति होती है। लेकिन भक्तका ध्यान ऐसा नहीं है। **अनन्येनैव योगेन** भक्तकी अनन्यता ही उसका योग है और इस अनन्यतासे ही उसका ध्यान चौबीस घण्टे अखण्ड चलता है। अब प्रश्न उठा कि जो अनन्यताके विरोधी भाव हैं, उनके साथ कैसे व्यवहार किया जाय? इसका उत्तर नारद-भक्तिसूत्रमें दिया गया है—

तस्मिन् अनन्यता तद्विरोधिषूदासीनता च।

भगवान्में अनन्यता क्या है ? भगवद्विरोधी भावोंसे उदासीन हो जाना ही भगवान्में अनन्यता है। भगवद्विरोधी भावोंका स्मरण ही मत करो। उदासीनका अर्थ है 'उत्—ऊपर, आसीन' उनसे ऊपर उठ जाओ। अपने प्रियतम प्रभुके और समीप चले जाओ। हमें दूसरोंसे कोई प्रयोजन ही नहीं। भगवान्के अतिरिक्त हमें दूसरा कुछ नहीं चाहिए। यह अस्पर्शयोग है, मनसे भगवान्के अतिरिक्त दूसरी किसी वस्तुका स्पर्श ही नहीं करना। अपनेको सर्वथा भगवान्के अधीन कर देना।

मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना।
मम जीवन तिमि तुम्हहि अधीना॥

ऐसे भक्तके जीवनमें ये तीन बातें अवश्य आजाती हैं— १. ईश्वरका जीवन ही उसका जीवन हो जाता है। ईश्वरकी इच्छासे भिन्न जन्म-मरण उसके लिए रहता ही नहीं। ईश्वरमें जो 'सत्' है, वही उसका जीवन बन गया है। २. ईश्वरकी बुद्धि ही उसकी बुद्धि हो जाती है। उसके सब विचार भगवान्के दिये हैं और भगवान्के लिए हैं। भगवत्प्रेरणा ही उसकी बुद्धिमें व्यक्त होती है। ईश्वरका 'चित्' ही उसमें बुद्धि बनकर प्रकट होता है। ३. ईश्वर-का आनन्द ही उसमें सुख होकर प्रकट होता है। प्रेमास्पदके सुखमें उनकी प्रसन्नतामें ही वह सुखी-प्रसन्न रहता है। ईश्वरके सुखसे अपना सुख वह एक कर देता है—

राजी हैं हम उसीमें जिसमें तेरी रजा है।

जिससे प्रेम होगा, उसका ध्यान होना स्वाभाविक ही है। गोपियाँ कहती हैं—**जित देखौं तित श्याममयी है**। पहले निश्चय होता है कि हम भगवान्के विशेषण हैं। विशेषणका अर्थ है

आभूषण। इस निश्चयमें तल्लीनता होनेपर हम अपने आपको भूल जाते हैं; किन्तु जब तल्लीनता भंग होती है, तब पता लगता है कि हम इतनी देर भगवान्‌के विशेषण बने रहे। भगवान् स्वतन्त्र हैं और हम उनके परतन्त्र, उनके हाथके खिलौने हैं। इस भावनामें तन्मय होनेके पश्चात् जब तन्मयता टूटेगी, तब पता लगेगा कि तन्मयताके समय हम भगवान्‌के खिलौने बने रहे। लेकिन ध्यान करना चाहिए चेष्टासहित शरीरका। चेष्टारहित शरीरका ध्यान नहीं करना चाहिए। जैसे भगवान्‌के नेत्रका ध्यान करना है तो पलकोंके ऊपरके बालों (बरौनी)का, नेत्रोंके श्वेत भाग तथा उनमें पड़े लाल डोरोंका, नेत्रके काले भाग तथा उसके मध्य नेत्र-तारकका ध्यान करते हुए यह भी ध्यान करो कि नेत्रमें कैसे-कैसे भाव परिवर्तन होते हैं। कैसे नेत्रोंमें ही हास्य, कृपा, याचना, शृंगार, वर्जन आदिके भाव आते हैं। इसी प्रकार भगवान्‌के हाथ कैसे हिलते हैं, श्वास लेते समय उदर कैसे ऊपर-नीचे होता है, केश, माला एवं वस्त्रोंमें कैसे कम्पन होते हैं, आदिका ध्यान करना चाहिए।

ध्यान करते समय पहले धामका चिन्तन करना चाहिए। यह यमुना है, यह कदम्बका वृक्ष है, यह पुलिन है अथवा यह सरयू है, अयोध्यापुरी है अथवा यह वैकुण्ठ है। धामके चिन्तनके पश्चात् भगवान्‌के आगमनकी प्रतीक्षा करना चाहिए। फिर उनकी वंशी-ध्वनिका ध्यान करो। उनके शरीर तथा वनमालासे आती सुगन्धिका ध्यान करो। उनके चरणोंमें बजते नूपुरोंके रुनझुन शब्दका ध्यान करो। तब आते हुए भगवान्‌का ध्यान करो। वे कभी सखाके कन्धेपर भुजा रख लेते हैं, कभी किसी बछड़ेके पीछे दौड़ते हैं, कभी वंशी बजाते हैं, कभी किसी गोपीको छेड़ते हैं। इस प्रकार उनकी चेष्टाका, लीलाका ध्यान करो।

भक्ति-मार्गमें ध्यान कहते हैं दर्शनसमानाकारवृत्तिको। जैसे मैं आप लोगोंको देख रहा हूँ और आप लोग मुझे देख रहे हैं। यह देखना सच्चा लगता है। ऐसा नहीं लगता कि हम स्वप्न देखते हैं या मनोराज्य कर रहे हैं। ऐसे ही भगवान्का ध्यान करें तो भगवान् हमारे सामने बैठे हुए लगें। वे हँसते-बोलते, खाते-खेलते दिखायी पड़ें। जाग्रत् अवस्थामें जैसे संसारके दृश्य और काम हमें सच्चे जान पड़ते हैं, ऐसे ही भगवान्का हँसना-बोलना भी सच्चा जान पड़े। इतनी तन्मयता ध्यानमें हो कि यह संसार भूल हो जाय। स्वप्न तो जागनेपर स्मरण भी आता है; किन्तु संसारकी कोई बात स्मरण भी न आये। भगवान्का स्वरूप कि वे व्यापक, अविनाशी, सच्चिदानन्दघन हैं, भगवान्के गुण दयालुता, उदारता, कृपा, वात्सल्य आदि, भगवान्का परम मनोहर सौन्दर्य-श्यामरूप, चेष्टा—शरीरका हिलना आदि, उनकी लीला, उनका नाम, वृन्दावन-वैकुण्ठ आदि धाम—ये सब ध्यानमें आयें और संसारके दृश्योंके समान ही प्रत्यक्ष एवं सत्य लगें।

एक सन्तकी कथा इस विषयकी कही जाती है। वे एक धनी व्यक्तिके यहाँ हल जोतनेकी नौकरी करते थे। हल जोतते जाते और नेत्र बन्द करके भगवान्का ध्यान करते जाते थे। इससे कभी-कभी कुछ भूमि बीच-बीचमें जोतनेसे छूट जाती थी। लोगोंने उनके स्वामीसे शिकायत की—'आपका हलवाहा खेत नहीं जोतता।' वे धनी सज्जन एक दिन खेत देखने आये तो देखा कि बैल चल रहे हैं। हलकी मूठ पकड़े हलवाहा भी चल रहा है; किन्तु उसके नेत्र बन्द हैं। उन्होंने हलवाहेको धक्का दे दिया—'हल चलाता है या सोता है?' धक्का लगते ही एक कटोरा गरम-गरम कढ़ी कहींसे वहाँ गिर पड़ी। धनी सज्जनने चौंककर पूछा—'यह कढ़ी कहाँसे, कैसे आगयी?'

हल चलानेवाले सन्तने बड़े संकोचसे बतलाया—'मैं ध्यानमें भगवान्‌को नैवेद्य अर्पित कर रहा था। कढ़ी परोसनेको मैंने उठायी ही थी कि आपने मुझे हिला दिया, इससे वह मेरे हाथसे छूटकर गिर पड़ी।'

यदि तुमको इस घटनाके सम्बन्धमें शंका होती है कि मनमें संकल्पित कढ़ी स्थूल रूप धारण करके बाहर कैसे गिर सकती है तो इसका यही अर्थ है कि तुम्हें मनकी शक्ति ज्ञात नहीं है। यह मनकी ही शक्ति है जो तुम्हारे हाथको, जिह्वाको और वाणीको गति दे रही है। मनका ठीक संयम हो, संकल्प दृढ़ हो तो मनमें सोचा पदार्थ स्थूल रूप धारण कर सकता है। मनमें भगवान्‌के लिए जो कुछ सोचोगे, वह होता जायगा। यह संसार ब्रह्माजीने मनके संकल्पसे ही बनाया है। भगवान् नारायणने मनके संकल्पसे ही उर्वशी अप्सराको प्रकट किया था। योगी अपने मनके ही संकल्पसे अनेक रूप (कायव्यूह) बना लेते हैं।

तुम्हारा मन ध्यानमें नहीं लगता तो एकान्तमें बैठ जाओ। मनके द्वारा एक सौ आठ तुलसीदल जलमें धोकर स्वच्छ करो। फिर उसपर भगवन्नाम लिखो और फिर अपना इष्ट-मन्त्र बोलते हुए क्रमशः एक-एक दल भगवान्‌के चरणोंपर चढ़ाओ। मनके द्वारा चन्दन घिसो और मन्त्र बोलकर भगवान्‌के मस्तकपर एक-एक बिन्दु लगाते जाओ। एक सौ आठ किसमिस मनमें स्वच्छ कर लो और मन्त्रजपके साथ एक-एक किसमिस भगवान्‌के मुखमें दो, साथ ही ध्यान करो कि वे कितने प्रेमसे उसे खाते हैं! उनके नेत्रोंमें, मुखपर कैसी तृप्ति एवं प्रसन्नता झलकती है!

मां ध्यायन्त उपासते 'उप'का अर्थ है समीप और 'आसते'का अर्थ है बैठना। इस प्रकार ध्यान करते हुए भक्त सदा भगवान्‌के समीप बैठता है। खाते-पीते, सोते-जागते, उठते-बैठते सदा वह

भगवान्‌के ही साथ रहता है। अब ऐसे भक्तके लिए अन्तःकरणकी शुद्धि और मोक्षका तो प्रश्न ही नहीं उठता। चित्त भगवान्‌में लगा है, यही अन्तःकरणकी शुद्धि है और संसारमें तो वह कहीं बँधा है नहीं। संसारमें उसका राग-द्वेष रहा नहीं। वह तो भगवान्‌के साथ बँधा है और भगवान्‌के साथसे मोक्ष चाहनेका भला क्या अर्थ हो सकता है? अब कोई कहे कि तत्त्वज्ञानसे होनेवाली अविद्या-निवृत्तिरूप मोक्ष उस भक्तका कैसे होगा? तो इसीके उत्तरमें भगवान्‌ने कहा—

मय्यावेशितचेतसां तेषां मृत्युसंसारसागरात् अहं न चिरात् समुद्धर्ता। इसमें पार्थ सम्बोधनके द्वारा भगवान् अर्जुनको यह सूचित करते हैं कि तुम तो मेरी बुआके लड़के—मेरे भाई हो, मेरे अत्यन्त प्रिय हो। इसलिए मैं बिल्कुल सत्य बात बता रहा हूँ।

समुद्धर्ता—सम् = सम्यक् प्रकारसे, उत्–ऊपर, धर्ता = स्थापित करनेवाला। उनको भली प्रकार ऊपर-सर्वोपरि गुणातीत ब्रह्ममें स्वयं मैं स्थापित करता हूँ।

समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्—समुद् = आनन्दके सहित, हर्ता = निकालनेवाला हूँ, मृत्यु = मरण, संसार = जन्म, सागरात् = समुद्रसे। उनको जन्म-मरणरूपी संसारसागरसे मैं बड़े आनन्दसे—प्रसन्नतापूर्वक निकालता हूँ।

जैसे समुद्रमें एक तरंग उठकर बैठती है तो दूसरी उठती है, तरंगोंका उठना-गिरना अनवरत चलता रहता है, वैसे ही संसारमें जीवका जन्म-मरण क्रम अनादिकालसे चल रहा है। इस संसार-सागरसे निकालकर भगवान् जगत्‌के मूलतत्त्वमें—ब्रह्ममें स्थापित करते हैं। संसार तो मृत्युमय है—

जो फरा सो झरा, जो बरा सो बुताना।

जो फल वृक्षमें लगेगा, वह अवश्य गिरेगा। जो दीपक जलेगा, वह अवश्य बुझेगा। जिसका जन्म होगा, उसे एक दिन मरना पड़ेगा। जब श्रावण-भाद्रपदमें गंगाजी बढ़ती हैं तो पक्के तैराक भी तुम्बी लेकर धारामें उतरते हैं। तैरते हुए थक जानेपर तुम्बीके सहारे विश्राम कर लेते हैं। इस संसारसागरमें सहारा अपने प्रियतम प्रभुका है। भगवान् कहते हैं—'मैं स्वयं उसका उद्धार करता हूँ। मैं उसका हाथ पकड़कर उठाता हूँ।' भगवान्का ध्यान करनेवाला भक्त अपने उद्धारकी चिन्ता छोड़कर उनके पास बैठा रहता है। उसका उद्धार तो उसके प्रभु स्वयं करते हैं। जो अपने उद्धारकी चिन्ता करता है, उसे अपना उद्धार स्वयं करना पड़ता है। लेकिन जो अपने उद्धारकी चिन्ता छोड़कर भगवान्की उपासनामें लग गया, भगवान् कहते हैं—'उसका उद्धार मैं करता हूँ मय्या-वेशितचेतसामहं समुद्धर्ता अपनेमें लगाये चित्तवालोंका मैं अपहरण कर लेता हूँ।' वे मुझे इतने प्रिय लगते हैं कि डाकू बनकर मैं उनका हरण कर लेता हूँ। अथवा धर्ताका अर्थ है रक्षक-पालक। जो अपना चित्त मुझमें लगाये हैं, उनकी रक्षा तथा पालन मैं करता हूँ। रक्षा कहाँसे? मृत्युसंसारसागरात्। आप रसोइया रखते हैं तो उसके भोजनकी व्यवस्था भी तो करते हैं। पत्नी पतिकी सेवा करती है तो पति पत्नीका पालन तथा रक्षण भी करता है। ऐसे ही भगवान् भक्तकी रक्षा तथा पालन करते हैं। इस संसारमें जैसे खटमल-जुएँ और दूसरे अनेक सूक्ष्म कीट कुछ घण्टे या दिनकी आयुवाले होते हैं, एक दिन जीकर मर जाते हैं, वैसा ही मनुष्य भी है। मनुष्यकी आयु ब्रह्माके एक दिनके शत-सहस्र भाग जितनी भी नहीं है। अतः इस मनुष्यका गर्व मिथ्या है। जो लोग कहीं मोह—आसक्ति कर लेते हैं, वे तो जीवनमें पता नहीं कितनी बार मरते-जीते हैं। भगवान् कहते हैं कि मैं अपने

भक्तको इस मोहसे, राग-द्वेषसे, आसक्तिसे, बचा लेता हूँ। उसे इनसे ऊपर उठा लेता हूँ।

न चिरात् भक्तको संसारसागरसे ऊपर उठा लेनेमें भगवान् देर करते होंगे—ऐसा नहीं है। **न चिरात्** विना विलम्ब किये उसका उद्धार करते हैं। भगवान्में देरी नहीं है, दूरी नहीं है और परायापन नहीं है। वे दूसरे नहीं हैं, अपने हैं। दूर नहीं हैं, समीप हैं—अपने हृदयमें ही हैं।

दिलके आइनेमें है तस्वीरे यार
जब जरा गर्दन झुकाई, देख ली।

परमात्मा तो अपने हृदयमें ही है; किन्तु उसे देखनेके लिए गर्दन झुकानी पड़ती है। गर्दन झुकानेका अर्थ है अभिमानका त्याग करना। एक बार द्वारिकामें भगवान्ने एक साथ अपने तीन पार्षदोंका अभिमान दूर किया। सत्यभामाको अभिमान था कि उनसे सुन्दर कोई स्त्री है ही नहीं। गरुड़को अभिमान था कि उनके वेगकी कोई समानता नहीं कर सकता। चक्रको अभिमान था कि वही द्वारिकापुरीकी रक्षा करता है। श्रीहरि तो गर्वहारी हैं। उन्होंने इन तीनोंके गर्वको दूर करनेका निश्चय किया। गरुड़को उन्होंने आज्ञा दी—'हनुमान्जीको बुला लाओ।'

गरुड़ मन्दराचलपर पहुँचे और उन्होंने हनुमान्जीसे कहा—'आपको भगवान्ने द्वारका बुलाया है। झटपट मेरी पीठपर बैठ जाइये।'

हनुमान्जी बोले—'आप चलिये, मैं आ रहा हूँ। आपसे मैं पहले ही पहुँच जाऊँगा।'

गरुड़—'आप समझते तो हैं नहीं। द्वारका यहाँसे बहुत दूर है। कूदते-फाँदते भी आप चलेंगे तो मार्गमें कई दिन लग जायँगे। मेरी गति वायुसे भी तीव्र है। मैं आपको अभी पहुँचा दूँगा।'

हनुमान्—'आप हठ मत करें। मैं कुछ क्षण पीछे चलूँगा। मुझे वाहनकी आवश्यकता नहीं पड़ा करती।'

गरुड़—'भगवान्ने मुझे आज्ञा दी है कि आपको बुलाकर लाऊँ। आप चुपचाप पीठपर नहीं बैठेंगे तो मैं आपको बलपूर्वक पकड़कर ले जाऊँगा।'

गरुड़की बातसे हनुमान्जी समझ गये कि इन्हें गर्व है और मेरे प्रभु मेरे द्वारा ही इनका गर्व दूर करना चाहते हैं। अतः उन्होंने पंख पकड़कर गरुड़को जो फेंका तो वे समुद्रमें जाकर गिरे। हनुमान्जीने छलाँग लगायी और द्वारका पहुँच गये।

उधर श्रीकृष्णचन्द्रने चक्रसे कहा था कि नगरमें वह किसीको आने न दे और सत्यभामाजीसे कहा—'आज हनुमान्को बुलाया है। उनके सम्मुख तो मुझे श्रीराम रूपमें रहना है; किन्तु अकल्पनीय सौन्दर्यमूर्ति श्रीजानकीके स्थानकी पूर्ति कैसे होगी?' सत्यभामाने कहा—'मैं सीता बनकर आपके साथ बैठूँगी।'

हनुमान्जी द्वारिका पहुँचे तो चक्रने उन्हें नगरमें जानेसे रोका। हनुमान्जीने कहा—'मुझे भगवान्ने बुलाया है। गरुड़ पीछे आ रहे हैं। तुम उनसे पूछ लेना।' लेकिन चक्रने जब इतनेपर भी मार्ग नहीं छोड़ा तो उसे पकड़कर पवनपुत्रने अपने मुखमें रख लिया। वहाँसे भगवान्के निज सदनमें गये। सिंहासनासीन श्रीकृष्ण-सत्यभामाको देखकर हनुमान्जीने श्रीकृष्णचन्द्रके चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम किया; किन्तु सत्यभामाकी ओर ध्यान ही नहीं दिया।

श्रीकृष्णचन्द्रने पूछा—'हनुमान्! आज तुम चुप क्यों हो?'

हनुमान्जीने मुखसे चक्रको बाहर निकाला और बोले—'यह मार्गमें मुझे रोक रहा था। अतः इसे मुखमें रखना पड़ा; किन्तु

प्रभु ! आज आपने महारानी श्रीविदेहनन्दिनीके स्थानपर यह किस दासीको बैठा लिया है ?'

सत्यभामाजी तो यह सुनते ही सिंहासनसे उठ गयीं। श्याम-सुन्दर हँसे और बोले—यह तो हमारे घरकी अपनी बात है। लेकिन तुम्हें कोई बुलाने भी तो गया था !'

हनुमान्—'गरुड़ बहुत मन्दगामी हैं। इसलिए वे पीछे आ रहे होंगे।' इसी समय जलमें भीगे गरुड़ भी आगये। हनुमान्‌जीके शब्द उन्होंने सुन लिये थे। लज्जासे उनका मस्तक झुक गया था।

प्रेमके मार्गमें अभिमान नहीं चलता है—

तस्यापि अभिमानद्वेषित्वाद्दैन्यप्रियत्वाच्च। ना० भ० सू०

भगवान्‌को भी अभिमान अप्रिय लगता है और दीनतासे वे प्रेम करते हैं, इसलिए अभिमान त्यागकर मनको भगवान्‌में आविष्ट कर दो। अपने मनको ही भावनासे भगवान् बना दो। मनसे उनके रूप, लीला, धामकी निरन्तर कल्पना करते रहो। यह मत सोचो कि यह कल्पना है, मिथ्या है। जब भगवान् देखेंगे कि यह हमारी कल्पनामें, हमारे सम्बन्धमें मनोराज्य करनेमें इतना तन्मय है तो तुम्हारे चित्तमें वे अपने धाम, रूप लीला आदिको प्रकट कर देंगे। भक्ति तो भगवान्‌की कृपासे ही प्राप्त होती है।

पहले अपने चित्तको भगवान्‌के द्वारा भगवदाकार, भगवद्-धामाकार बनाओ। जब तुम्हारे चित्तका साँचा भगवान्‌के धाम तथा रूपका हो जायगा, तब उसमें भगवान् कृपापूर्वक स्वयं आ जायँगे। यदि तुम पहले कल्पितमें नहीं लगोगे तो वास्तविकको कभी पाओगे ही नहीं।

एक सज्जन एक महात्माका दर्शन करने गये। महात्माजीके स्थानपर पहुँचे तो वहाँके सेवकोंने बतलाया—'अभी भजनमें बैठे हैं। अभी कई घण्टे उनका दर्शन नहीं हो सकता।'

उन सज्जनने श्रद्धापूर्वक महात्माजीकी कुटियाकी सात परिक्रमा की। कुटियाके द्वारके सम्मुख दण्डवत्-प्रणाम करके वहाँकी धूलि सिरसे लगायी और लौट गये। महात्माजी जब भजनसे उठे तो उनके सेवकोंने समाचार दिया—'एक सज्जन आपका दर्शन करने आये थे।'

महात्माजीने पूछा—'वे कौन थे?'

सेवक— कौन थे, यह तो पता नहीं; किन्तु थे बहुत श्रद्धावान्। उन्होंने आपकी कुटियाकी सात परिक्रमा की। द्वारके सामने दण्डवत् करके वहाँकी धूलि सिरपर चढ़ायी। वे यहाँ धर्मशालामें ठहरे हैं।'

महात्माजी—'ऐसे श्रद्धालु हैं वे तो चलो, हम स्वयं उनसे मिलने चलते हैं।'

मैंने एक घरमें देखा कि एक कटोरा बड़े सम्मानसे रखा है। पूछनेपर पता लगा कि कभी उस गृहस्थके गुरुदेव उसके घर पधारे थे और उस कटोरेमें उन्होंने जल पिया था। अब वह कटोरा उस घरमें गुरुदेवकी स्मृति तो कराता ही है, कटोरेके प्रति जो सम्मानकी भावना है, उससे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है।

इसी प्रकार भगवान्‌के प्रति सम्मान-भावना, मनसे उनके रूप, गुण, लीलाका चिन्तन कल्पित होकर भी चित्तको शुद्ध करता है। इससे अन्तःकरण निर्मल हो जाता है और अन्तःकरणके निर्मल होनेपर कृपासिन्धु भगवान् स्वयं कृपा करके भक्तके हृदयमें अपनेको प्रकट कर देते हैं। उसमें भगवद्धामका आविर्भाव हो जाता है।

•

: ८ :

• *संगति*

अब भगवान् अबतक कही हुई कुल बातोंका तात्पर्य एक श्लोकमें बतलाते हैं—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥ ८॥

'मनको मुझमें ही रख दो! बुद्धिको मुझमें प्रविष्ट कर दो! इसमें कोई सन्देह नहीं है कि ऐसा करनेके पश्चात् मुझमें ही निवास करोगे।'

मय्येव में जो **एव** है, उसका अन्वय **मयि बुद्धि** के साथ भी करके **मय्येव बुद्धिं निवेशय** ऐसा समझना चाहिए।

मय्येव मन आधत्स्व भगवान्में ही मन कैसे रखा जाय? यदि भगवान्के कोई तिजोरी, जेब आदि स्थान होते और मन पैसा, अक्षत, भोजनके समान पदार्थ होता तो मनको भगवान्में रख दिया जाता। वह कोई पदार्थ तो है नहीं कि उसे एक स्थान से उठाकर दूसरे स्थानपर रखा जा सके। अतएव मनको पहले समझना चाहिए।

जो पदार्थों को प्रकाशित करे, उन्हें ज्ञानेन्द्रिय कहते हैं। जैसे, जो रूपको दिखाये, उसे नेत्र कहते हैं। यह पुरुष, यह स्त्री, वह पुस्तक आदिका ज्ञान हम नेत्रके द्वारा प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार जो संकल्प-विकल्प करे, उसे मन कहते हैं। 'गंगा-स्नान करने चलें, वहाँके निर्मल पवित्र जलमें स्नान करके बड़ा आनन्द आयेगा'—यह इच्छा संकल्प है। अब मनमें दूसरी बात उठी—'घरपर कोई नहीं है। कई लोग मिलने आनेवाले हैं! इस समय घर छोड़कर गंगा-स्नान करने कैसे जाया जा सकता है?'

ऐसे ही मनमें विक्षेप वृत्ति आती है। आपसे किसीने कहा—'अमुकके यहाँ आपकी चर्चा हो रही थी। आपके प्रति उनके

भाव अच्छे नहीं जान पड़े ।' आप इस बातको सुननेसे पहले शान्त बैठे थे । इस बातको सुनकर जो चित्तमें बेचैनी हुई, वह विक्षेप है ।

मन संकल्प-विकल्प किये बिना रह नहीं सकता । संकल्प-विकल्प करते रहना ही मनका स्वरूप है । अतएव संकल्प और विकल्प भगवान्‌के ही सम्बन्धमें करो । जैसे, यह मनसे चिन्तन करो कि यमुनाजी हैं, उनके किनारे सघन लताकुञ्ज है । कुञ्जमें स्वच्छता करो । कोमल पल्लव बिछाओ । पल्लवोंपर पुष्पोंकी सजावट करो, संकल्प करो कि भगवान् आयेंगे । मन ही मन उनके आगमनकी प्रतीक्षा करो । मनमें विकल्प उठे तो वह भी भगवान्‌के सम्बन्धमें ही कि प्रभु क्यों नहीं पधारे ? क्या उन्होंने मुझे अपनी कृपाके योग्य नहीं समझा ? तब मनसे ही प्रार्थना होगी । फिर संकल्प करो—सोचो कि भगवान्‌के पधारनेपर मैं इस प्रकार उनके चरणोंपर मस्तक रखूँगा । वे इस प्रकार मुझे अपनी लम्बी भुजाओं-से उठाकर हृदयसे लगा लेंगे । मैं इस प्रकार उनके चरण धोऊँगा । ऐसे तिलक लगाऊँगा । इस प्रकार माला पहिनाऊँगा । इस प्रकार अमुक-अमुक पदार्थ उन्हें खिलाऊँगा ।

इस प्रकार जब भगवान्‌के ही सम्बन्धमें संकल्प-विकल्प होने लगें तो तुम्हारा मन भगवान्‌में रखा गया । उनके विषयमें जो पढ़ा-सुना है, उसका चिन्तन करो । वर्तमानमें भगवान्‌के साथ खेलो । उनके साथ आगे कैसे रहोगे, कैसे उनका सत्कार करोगे, इसकी योजना बनाओ । इस प्रकार भूत, वर्तमान और भविष्य—तीनों कालोंको उनके चिन्तनसे भर दो । त्रिकालमें मनका सम्बन्ध भगवान्‌से जोड़ देना, मनको भगवान्‌के समीप रख देना है ।

मुसलमान धर्मके अन्तिम पैगम्बर मुहम्मद साहबसे बहुत पहले हजरत मूसा एक पैगम्बर हुए हैं । एक बार वे कहीं जा रहे थे । मार्गमें उन्होंने देखा कि एक गड़रिया एक पत्थरपर आँखें बन्द

करके बैठा है और कह रहा है—'ऐ खुदा ! अगर तू मेरे पास आ जाय तो मैं तेरी दाढ़ीमें कंघी कर दूँ और तेरे सिरमें तेल लगा दूँ।'

हजरत मूसा उस गड़रियेके पास गये और डाँटकर बोले—'यह तू काफिरों के समान क्या कुफ्र बकता है। खुदाके कहीं शक्ल है और उसके क्या दाढ़ी और सिर है कि तू कंघी करेगा और तेल लगायेगा ? यह तू कसूर कर रहा है।'

गड़रिया घबड़ा गया। उसने हजरत मूसाके कदमोंपर सिर रखकर माफी माँगी और बोला—'मैं तो बेवकूफ गड़रिया हूँ। हुजूर बता दें कि मैं खुदाका खयाल किस तरह करूँ ?'

मूसाने दो क्षण सोचकर कहा—'आफताब (सूर्य) की रोशनीकी तरह खुदा रोशन है और उसका नूर सब कहीं फैला है। उसमें कोई शक्ल नहीं है।'

गड़रियाको उपदेश देकर मूसा आगे बढ़े तो आकाशवाणी हुई—'मूसा ! तुम दुनियामें किसलिए भेजे गये हो ?'

हजरत मूसा—'बन्दोंको खुदामें लगानेके लिए।'

आकाशवाणी—'मगर तुम तो ठीक उलटा काम करने लगे हो। जो लोग मुझमें लगे हैं, उनको तुम मुझसे दूर करते हो। वह गड़रिया जो कुछ कह रहा था, वह गलत था तो तुमने जो खुदा-को रोशनीकी तरह बताया, क्या वह ठीक है ?' क्या करोड़ों आफताबोंकी रोशनी मिलकर भी मेरा मुकाबला कर सकती है ?'

मूसा—'नहीं मेरे मालिक ! आफताबोंकी रोशनी भी आपकी कभी बराबरी नहीं कर सकती।'

आकाशवाणी—'जब तुम्हारा बतलाना भी गलत ही है तो उस गड़रियेको तुमने डाँटा क्यों ? वह भले ही कुछ भी सोच रहा हो लेकिन मेरे बारेमें ही तो सोच रहा था। गुनाह वह नहीं कर रहा था, तुमने किया है।

हजरत मूसाने लौटकर उस गड़रियेसे क्षमा माँगी। इसलिए जिसका भगवान्के जिस रूपसे प्रेम हो, जिसकी भगवान्के सम्बन्धमें जो मान्यता हो, उसे उसीके अनुसार चिन्तन करना चाहिए। मत्स्य, कच्छप, वाराह, नृसिंह आदि चाहे जिस रूपमें, साकार या निराकार—चाहे जैसा मानकर चिन्तन करो; किन्तु करो भगवान्का ही।

बहुत-से लोग भजन तो भगवान्का करते हैं; किन्तु उनसे चाहते हैं संसारके पदार्थ—धन, स्त्री, पुत्र, सम्मान, पद आदि। यह मनको भगवान्में नहीं, संसारमें रखना है। भगवान्को ऐसा उपासक भक्त नहीं लगता। उनको भी ऐसा लगता है कि द्वारपर कोई भिक्षुक आगया है। अतः भगवान्से किसी सांसारिक पदार्थकी कामना मत करो। भगवान्से केवल भगवान्को चाहो, उनका प्रेम चाहो।

संसारी लोगोंका सहज स्वभाव है कि वे मनको अनेक स्थानोंपर लगाये रखते हैं। धन, पुत्र, स्त्री, परिवार, मित्र, व्यापार, प्रतिष्ठा आदि बहुत-से स्थानोंपर उनका मन लगा होता है। यह नियम है कि मन जितने अधिक स्थानोंपर लगा होगा, व्यक्तिको उतनी ही अशान्ति—उतना ही अधिक दुःख होगा।

यह जु एक मन बहुत ठौर करि, कहु कौनै सचु पायो।

भटकते हुए मनको शान्ति कैसे मिल सकती है? अतः भगवान्ने कहा—**मय्येव मन आधत्स्व** मनको मेरे घरमें रख दो। जब कोई बालक बिगड़ जाता है और घरके लोगोंके प्रयत्नसे सुधर नहीं पाता तो उसे किसी छात्रावासमें, किसी बड़े अनुभवीके निरीक्षणमें रखा जाता है। भगवान् कहते हैं कि यदि तुम अपने मनको ठीक नहीं कर सकते तो उसे मेरे पास रख दो।

अब कोई अपने मनको ठीक न करना चाहता हो, शान्त करनेमें असमर्थ हो तो जो सर्वसमर्थ है, सबसे बड़ा और तुम्हारा

परम हितैषी है, उसके पास रख दो। मनको भी दो-चार दिनके लिए नहीं, सदाके लिए रखना है।

मनकी वृत्तियाँ बहुत हैं। उनमें सबसे महत्त्वकी वृत्ति है **श्रद्धा**। किसी वस्तु, व्यक्ति या भावको बड़ा मानने लगना ही—जीवनको मोड़नेका प्रारम्भ है। अतएव भगवान्‌को ही सर्वश्रेष्ठ, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, परम सुहृद्, **मृदुर्दयालुः** चिन्तन करो।

यदि मनमें विकल्प प्रधान हो तो भगवान् सगुण या निर्गुण, निराकार या साकार, अवतार लेते हैं या नहीं—इन बातोंपर विचार करो। पूर्णपुरुष श्रीकृष्ण या श्रीराम—वे मुझपर भी कभी कृपा करेंगे या नहीं? जीवनमें वह दिन कब आयेगा जब कि प्रभु मुझपर कृपा करेंगे—

कबहुँ सो करसरोज रघुनायक धरिहौ नाथ सीस मेरे ?

मनमें दुःखवृत्ति आये तो उसे यह समझकर सहन कर लो कि उसके अन्तमें भगवान् मिलनेवाले हैं। जूट और रुईकी मिलोंके मजदूर कितनी धूलि-गर्दमें दिनभर कितने कष्ट और श्रमका जीवन व्यतीत करते हैं? यह कष्ट वे इस आशामें सहते हैं कि महीने अथवा सप्ताहके अन्तमें उन्हें मजदूरीके पैसे मिलेंगे। भविष्यके सुखकी आशासे कष्टसहनकी शक्ति आती है। वे मजदूर उस गर्द, धूलिके कारण बीमार पड़ते हैं और डाक्टरके पास जाकर दवा कराते हैं; किन्तु स्वस्थ होकर फिर उसी कामपर आजाते हैं। देवी कुन्तीने तो श्रीमद्भागवतमें प्रार्थना करते हुए भगवान्‌से विपत्तिका वरदान माँगा—

विपदः सन्तु नः शश्वत् तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत् स्यादपुनर्भवदर्शनम्॥ १.८.२५

'हे जगदीश्वर श्रीकृष्ण! मुझे तो तुम बार-बार विपत्ति आती रहे, ऐसा वरदान दो।'

श्रीकृष्ण बोले—'बुआजी ! आप यह क्या माँगती हैं ? कहीं विपत्ति भी कोई माँगनेकी वस्तु है ।'

कुन्ती देवीने कहा—'विपत्तियोंके अन्तमें, क्योंकि तुम आते हो, इसलिए मुझे तो विपत्तियाँ ही प्रिय हैं। लाक्षागृहमें हमें जलानेका प्रयत्न हुआ तो तुम वनमें आये। कौरवोंकी द्यूत-सभामें द्रौपदीका चीरहरण होने लगा तो वस्त्रावतार लेकर तुम प्रकट हुए। वनमें दुर्वासा मुनि संकट बनकर पधारे तो तुम आये। विपत्ति आती है तो उसके अन्तमें तुम भी तो आते हो।'

ह्रीर्धीर्भीरित्येत्सर्वं मन एव।

लज्जा, धैर्य, भय आदि वृत्तियोंका नाम ही मन है। लज्जा भगवान्से—'हम बुरा काम करेंगे तो वे प्रभु देखेंगे।' भय लगे तो भगवान्का स्मरण—'हम भगवान्की गोदमें हैं।' सन्देह हो तो भगवान्से पूछो। इस प्रकार मनकी सब वृत्तियोंको भगवान्में ही लगाओ। काम, क्रोध, लोभादिका सम्बन्ध भी भगवान्से ही हो।

कामक्रोधादिकमपि तस्मिन्नेव करणीयम्।—नारदभक्तिसूत्र

देखनेकी इच्छा हो तो उस नवघनसुन्दर भुवनमनमोहनको छोड़कर भला दूसरा कौन देखने योग्य है ? सुननेकी इच्छा हो तो उसके स्वर, उसकी वंशीध्वनिका माधुर्य अन्यत्र कहाँ मिलेगा ? सूँघना चाहते हो तो वह पद्ममय है। उसके नेत्रद्वय, करद्वय, चरणद्वय, मुख—सब कमल हैं। उसके शरीरसे नीलपद्मकी सुरभि आती है। दिव्य सौरभकी मूर्ति है वह। स्पर्श चाहिए तो उसके श्रीअंग-जैसा कोमल मञ्जु स्पर्श अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं। रस लेना है तो रस और कहीं है ही नहीं। श्रुतितकने **रसो वै सः** कहा है। इस प्रकार मनमें जितनी इच्छाएँ, जितनी वृत्तियाँ आती हैं, उन सबका सम्बन्ध भगवान्से जोड़ लो।

मनको भगवान्‌में लगाये रखनेकी युक्तियाँ होती हैं। बिना युक्तिके मन नहीं लगता। इसीलिए गुरुकी तथा सत्संगकी आवश्यकता है। **विना युक्तिमनिन्दिताम्** बिना निर्दोष युक्तियोंके काम चलता नहीं है। वे युक्तियाँ क्या हैं ?

अध्यात्मविद्याधिगमः साधुसंगतिरेव च।
वासनासम्परित्यागः प्राणस्पन्दनिरोधनम्॥
एतास्ता युक्तयः पुष्टाः सन्ति चित्तजये किल॥

अध्यात्मविद्याको जानना : शरीरमें नासिका, कर्ण, नेत्र और मुख ये जो सात द्वार हैं, इनमें जो प्रकाश बाहरकी वस्तुका पड़ता है, उसकी सूचना ये मनको देते हैं। इसपर विचार करो कि इन्द्रियाँ कैसे काम करती हैं ? मन कहाँ बैठा है ? मनका स्वामी-मनको शक्ति देनेवाला कौन है ? इसीका नाम अध्यात्मविद्या है। इसके द्वारा अन्तर्यामी रूपसे भगवान् तक पहुँचोगे और मन भगवान्‌में लग जायगा। तुममें जहाँ यह अहं-अहं होता है, उस स्थानको ढूँढ़ो—वहाँ प्रभु विराजमान मिलेंगे।

मयि बुद्धिं निवेशय लोग मन तो भगवान्‌में लगाना चाहते हैं; किन्तु बुद्धिको बचाये रखना चाहते हैं। बुद्धि लगाना चाहते हैं घरमें, व्यापारमें, राजनीतिमें। इस प्रकार मन भी भगवान्‌में नहीं लगेगा। ईश्वरकी प्राप्तिके उपाय जानने-समझनेमें बुद्धिको लगाओ। यह देखो कि मन जाता कहाँ है ? जानी हुई वस्तुमें मन जाता है या अनजानी वस्तुमें ? अज्ञात वस्तुकी कल्पना मन नहीं करता—

अदृष्टादश्रुताद्भावान्न भाव उपजायते।

जिसे देखा नहीं और जिसके विषयमें कुछ सुना भी नहीं, उसके सम्बन्धमें मनमें कोई भाव उत्पन्न नहीं होता। जब हम

संसारमें किसीको प्रिय जानते हैं तो उससे राग होता है और किसीको अप्रिय—शत्रु जानते हैं तो उससे द्वेष होता है। इसलिए यदि बुद्धि ठीक हो तो मन भी ठीक रहेगा।

लोग कहते हैं—'हम बुद्धिसे तो समझते हैं कि झूठ बोलना बुरा है; किन्तु मन झूठ बोलनेसे रुकता नहीं है।'

बात यह है कि तुम झूठको बुरा समझते ही, यह बात तो ठीक है; किन्तु झूठ बोलनेसे सुख होगा, धन मिलेगा, सम्मान बचा रहेगा, यह भी समझते हो। इसलिए सुख, धन तथा सम्मान-का लोभ तुमसे झूठ बुलवाता है। बुद्धिने ठीक समझा ही नहीं है कि झूठ बोले बिना भी तुम्हारा काम चल सकता है। तुम्हारे सामने बहुत स्वादिष्ट और तुम्हें प्रिय लगनेवाला उत्तम भोजन परोस दिया गया हो और एक बालक आकर चुपकेसे कह दे—'सन्देह है कि इस भोजनमें विष मिला है।' तुम तुरन्त वह भोजन त्याग दोगे। बात बच्चेने कही और वह भी पक्की सूचना नहीं दी। केवल सन्देह व्यक्त किया; किन्तु तुमने भोजन छोड़ दिया। दूसरी ओर वेद, शास्त्र, पुराण तथा महात्मा लोग और तुम्हारे माता-पिता, श्रद्धेय जन कहते हैं कि झूठ बोलना बुरा है; किन्तु तुम झूठ बोलना छोड़ते नहीं हो। इसका यही अर्थ है कि झूठ बोलनेमें सुख नहीं है, यह बात तुम्हारी बुद्धिने मानी नहीं है।

ज्ञानकी निश्चयात्मक दशाको बुद्धि कहते हैं। बुद्धिको ठीक दिशामें ले जाओ। सच्चा ज्ञान, सच्चा सुख, सच्चा हित भगवान्में है। जन्म-जन्मसे जीव भटक रहा है। किस-किससे हमने आशा नहीं की। किस-किसके द्वारपर नहीं भटके। यह भिखारी-जैसा जीवन कबतक व्यतीत करते रहोगे? तुमने क्या-क्या नहीं किया; किन्तु बुद्धि भटक गयी। भगवान् कहते हैं—'इस बुद्धिको मुझमें सुला दो।' एक निश्चय कर लो भगवान्के सम्बन्धमें और उसमें

फिर उधेड़-बुन बिल्कुल मत करो। श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि केवल एक निश्चय करो कि 'हमारे जीवनमें प्राप्तव्य एकमात्र भगवान् हैं।'

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।

(केनोपनिषद्)

इस जीवनमें भगवान्‌को जान लिया तो जीवन सफल हुआ और उन्हें यदि जीवनमें नहीं जाना तो महान् हानि हुई।

तुम्हें सर्वत्र भगवान्‌को देखना है। अब बुद्धि लगाओ कि मन कैसे उनमें लगे और वे सर्वत्र कैसे दीखते रहें। जैसे गड़ेरियेकी भेंड़ें एकके पीछे एक भागती जाती हैं, वैसे क्षणके पीछे क्षण भागता जा रहा है। काल बीता जा रहा है। इस कालमें चिह्न कर दो—यह एकादशी, द्वादशी, अमावस्या, पूर्णिमा, शिवरात्रि, जन्माष्टमी भगवत्स्मरणके दिन हैं। कार्तिक, मार्गशीर्ष, माघ, चैत्र, श्रावण ये भगवदुपासनाके महीने हैं। दोनों नवरात्र उपासनाके दिन हैं। प्रातः, सायं उपासनाका काल है। इस प्रकार दिनमें, सप्ताहमें, महीनेमें, वर्षमें भगवान्‌के स्मरणके लिए कालमें अवकाश निकालो। सब काल भगवान्‌की उपासनाका है, यह तर्क ठीक है; किन्तु इसे प्रारम्भमें मान लोगे तो उपासना चलेगी नहीं। कालमें चिह्न करो। उसमें भगवान्‌के स्मरणकी खिड़कियाँ—अवकाश निकालो। इस प्रकार भगवान् रहेंगे और काल मिट जायगा।

देशमें भगवान्‌के स्मरणका स्थान निश्चित करो। सब देश स्मरणके हैं—इसपर निश्चिन्त होकर मत बैठो। तुम्हारे कमरेमें अमुक स्थान जप करनेका, घरमें अमुक कमरा पूजाका, नगरमें अमुक-अमुक मन्दिर और समय निकालकर देशमें जो भगवद्धाम हैं, तीर्थ हैं—वृन्दावन, द्वारका, डाकोरजी, पंढरपुर, अयोध्या, काशी, रामेश्वर आदि उनकी यात्रा करो।

व्यक्तिमें तथा पदार्थमें चिह्न करो—माता-पिता और गुरु भगवान्के स्वरूप हैं। गौ, तुलसी, पीपल, शालग्राम, नर्मदेश्वर अथवा मन्दिरकी मूर्ति ये भगवत्स्मरण करानेवाली हैं। इनको देखकर प्रणाम करो। भगवान्का रूप मानकर इनका पूजन करो।

महात्माओंको सर्वं खल्विदं ब्रह्म इस श्रुतिका पता था; किन्तु उन्होंने भगवान्का स्मरण करनेकी ये युक्तियाँ निकाली हैं। तुम क्रियामें भी भगवान्का स्मरण करनेकी युक्ति करो! फूल चुनते हैं भगवान्के लिए, माला बनाते हैं भगवान्के लिए, घरमें भोजन बनता है भगवान्को नैवेद्य लगानेके लिए।

ऐसे ही सीमा बनाओ—'इस इतने स्थानसे बाहरकी कोई बात दो मिनटतक स्मरण नहीं करनी है।' देशके समान कालमें सीमा बनाओ—'अब दो मिनट केवल भगवान्का स्मरण करना है।' वस्तुमें सीमा बनाओ—'दो मिनटतक इस कमरेके भीतरकी इतनी सामने रखी वस्तुओंको छोड़कर और कुछ स्मरण नहीं करना है।' इस प्रकार बुद्धि लगाकर क्रम-क्रमसे मनको भगवान्के चिन्तनमें लगाओगे, तभी मन भगवान्में लगेगा।

अभी तुम्हारा मन कहाँ लगता है ? जगत्के चिन्तनमें। यह जगत् कैसे बना है, जगत्का मूलतत्त्व एक है या दो, इन विषयोंमें तो आचार्योंमें मतभेद है; किन्तु इस विषयमें किसी सम्प्रदायाचार्यका मतभेद नहीं है कि विश्वके मूल कारण भगवान् ही हैं। श्रीशंकराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य, श्रीविष्णुस्वामी, श्रीनिम्बार्काचार्य आदि सभी आचार्य यही मानते हैं कि जगत्के रूपमें ईश्वर ही व्यक्त हो रहा है। जैसे घड़ा मिट्टीसे बना है और घड़ेको फोड़नेपर मिट्टी ही रह जाती है, वैसे ही यह शरीर, पुष्प आदि भी गल-सड़कर मिट्टी हो जाते हैं। इसी प्रकार महाप्रलयमें जब ब्रह्माण्डरूपी घट फूट जाता, नष्ट हो जाता है, तब ये सब नाम-रूप परमात्मामें ही समा जाते

हैं। मयि बुद्धि निवेशयमें निवेशयका अर्थ है कि जगत्के मूल मसालेका चिन्तन करो। यह चिन्तन करनेसे पता लग जायेगा कि परमात्माके अतिरिक्त कुछ नहीं है। ऐसा ज्ञान हो जानेपर—

यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः।

ईश्वरके सम्बन्धमें सोचो कि वह जगत्का कैसे अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है? वह विवर्ती कारण है, परिणामी कारण है, अविकृत परिणामी कारण है, अन्ततः वह जगत्के रूपमें कैसे व्यक्त हुआ है? जब तुम स्वर्णसे बने हार, कुण्डल आदिके कारणका विचार करने लगते हो तो तुम्हें हार आदिमें सर्वत्र स्वर्ण दीखता है। इसी प्रकार जगत्के कारणका विचार करने लगोगे तो जगत्में सर्वत्र ईश्वर दीखेगा। इस प्रकार लगाओगे तो बुद्धि परमात्मामें लग जायगी।

निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः।

इस रीतिसे भगवान्में मन तथा बुद्धि लगा देनेके पश्चात् तुम भगवान्में ही निवास करोगे, इसमें कोई सन्देह नहीं है। जैसे सम्बन्ध बन्धनका ही नाम है, वैसे सन्देह देहके ही कारण है। देह बीचमें आनेसे सन्देह शब्द बना है। बन्ध और सम्बन्ध एक वस्तु हैं। इसी प्रकार देह और सन्देह एक वस्तु है। जहाँ देहका चिन्तन छोड़कर मन-बुद्धि भगवान्में लगे, वहाँ सन्देह गया।

कई आचार्य अत ऊर्ध्वंका अर्थ करते हैं कि 'इस देहके त्यागके पश्चात् जब तुम ब्रह्मलोक वैकुण्ठ, गोलोकादिमें जाओगे तब भगवान्में तुम्हारा निवास होगा।' लेकिन अत ऊर्ध्वम्का अर्थ मरनेके पश्चात् नहीं है। धर्मानुष्ठान यहाँ करो तो उसका फल मरनेके पश्चात् स्वर्गमें मिलता है। उपासना करो और जीवनमें वह फलवती न हो तो देहत्यागके अनन्तर ब्रह्मलोक, वैकुण्ठ, गोलोकादिमें उसका फल मिल सकता है। लेकिन प्रेम तो

वर्तमानमें ही हृदयको रसमय बनानेवाला है। ज्ञानपूर्वक प्रेम किया जाय तो वही जीवन्मुक्तिका विलक्षण सुख है। बिना ज्ञानके हो तो वह रसात्मक प्रेम कहलाता है। अतः **अत ऊर्ध्वम्**का अर्थ है कि जब तुम भगवान्‌में अपना मन रख देते हो और उनमें अपनी बुद्धि प्रविष्ट कर देते हो, **तदनन्तरमेव** उसके दूसरे ही क्षणमें तुम भगवान्‌में निवास प्राप्त कर लेते हो।

यह बात इतनी प्रत्यक्ष है कि इसे आप स्वयं करके देख सकते हैं। नेत्र बन्द कर लीजिये और चिन्तन कीजिये कि आपके हृदयमें श्यामसुन्दर, मदनमोहन, मुरलीमनोहर, मयूरमुकुटी, पीताम्बरधारी ललितत्रिभंगी ही वंशी बजा रहे हैं। दो सेकेण्ड, पाँच सेकेण्ड, आप यह चिन्तन कीजिये और देखिये कि जब आप यह चिन्तन कर रहे थे, तब घरके दुःख, अभाव, कलह, कष्टको भूल गये थे या नहीं? दुःख तथा अशान्तिको दूर करनेका आपको यह मार्ग मिल गया। इस रीतिसे दुःख-अशान्तिको दो सेकेण्डके लिए दूर कर सकते हैं तो पाँच सेकेण्ड, पाँच मिनट, पाँच घण्टे भी दूर कर सकेंगे।

अत् ऊर्ध्वम् अर्थात् **मय्येव मन आधानानन्तरं, मयि बुद्धिनिवेशनानन्तरमेव** मुझमें मन तथा बुद्धि लगानेके तुरन्त बाद ही **निवसिष्यसि मय्येव** मुझमें ही तुम्हारा निवास हो जायगा। निवास तो हमारा आज भी भगवान्‌में ही है। हम सब उस सर्वव्यापक परमात्माकी गोदमें ही बैठे हैं; किन्तु इसे जानते नहीं, इसलिए इसका आनन्द हमें नहीं आता। एक शाक-सब्जी बेचनेवालेके पास पारस पत्थर था। लेकिन वह जानता नहीं था कि यह पारस है, इसके स्पर्शसे लोहा सोना हो जाता है। वह उस पारससे तौलकर शाक बेचा करता था। पारस पासमें होनेपर भी पहचान न होनेके कारण वह कंगाल था। एक किसानको हीरोंसे भरा थैला मिल गया। वह हीरेको पहचानता नहीं था, इसलिए ज्वारके

खेतमें आनेवाली चिड़ियोंको वह हीरे फेंक-फेंककर भगाता रहा। इसी प्रकार हम सब परमात्मामें स्थित हैं; किन्तु जानते नहीं, इसलिए दु:खी हैं।

जैसे चलते समय हमारा प्रत्येक पग पृथिवीपर ही पड़ता है, वैसे ही हमारी समस्त क्रियाएँ परमात्मामें ही हो रही हैं। जगत्का अभिन्न निमित्तोपादानकारण परमात्मा ही है। जीवोंकी जीवन-रूपी तरंगें परमात्मारूपी समुद्रमें ही उठती-गिरती हैं।

आत्माम्बुराशौ निखिलोऽपिलोको मग्नोऽपि नाचामति नेक्षते च।
आश्चर्यमेतन्मृगतृष्णिकाभे भवाम्बुराशौ रमते मृषैव॥

× × ×

आनंद सिन्धु मध्य तव बासा। बिनु जाने तैं मरसि पियासा॥

× × ×

धोबिया जल बिच मरत पियासा।
जल बिच ठाढ़ पियत नहिं मूरख, अच्छा जल है खासा॥

मनमें दो अंश होते हैं—ज्ञानांश और संकल्पांश। वेदान्ती कहते हैं कि संकल्पांशका अपवाद कर दो, उसे बट्टेखाते छोड़ दो। ज्ञानांश तो परमात्माके ज्ञानसे भिन्न नहीं है। अतः ज्ञान-ज्ञानको एक कर दो। ज्ञानका एकत्व हो जानेपर परिच्छिन्नता कट जाती है। अतएव संकल्प-विकल्प सब बाधित हो जाते हैं और परमात्मा ही रह जाता है। भक्तोंकी रीति है कि वासनाको, संस्कारको, प्रियताको भगवान्के साथ जोड़ा जाय। ज्ञान तो आत्मरूप है ही। अतः **मय्येव मन आधत्स्व**का अर्थ है कि मनके ज्ञानांशको आत्मरूप जानो और मनकी वासना, प्रियताको भगवान्में जोड़ दो।

मयि बुद्धिं निवेशय बुद्धिमें एक तो ज्ञान होता है और दूसरे बाहरसे इन्द्रियोंके द्वारसे आये विषयोंके आकार होते हैं। वेदान्ती कहते हैं कि बाहरसे आये विषयोंके आकारका तिरस्कार

कर दो। बुद्धिमें जो ज्ञानमात्र है, वह परमात्माका स्वरूप ही है। इस ज्ञान-स्वरूपमें परमात्माको जान लिया तो बुद्धि भगवान्में लग गयी। लेकिन सगुण-साकार उपासनामें थोड़ा अन्तर है यहाँ। भक्त कहते हैं कि आकार बाहरसे नहीं आता। वह बुद्धिमें ही है। इन नाना आकारोंके रूपमें परमात्मा ही है। लेकिन इन नाना रूपोंमें जबतक परमात्माको हम नहीं पहचानते, तबतक हमें चाहिए कि उसे किसी एक आकारमें पहचाननेका प्रयत्न करें। राम, कृष्ण, शिव, नृसिंह, देवी आदि अपने इष्ट रूपमें बुद्धिको लगायें। उस एक रूपमें यदि परमात्माकी ठीक पहचान हो गयी तो फिर सभी रूपोंमें ईश्वरकी पहचान अपने-आप हो जायेगी। इसलिए पहले एक आकारमें बुद्धिको स्थिर करो।

एक तीसरी प्रक्रिया है बुद्धिको लगानेकी। एक वकील मेरे पास आते हैं इन दिनों। वे पन्द्रह दिनसे प्रतिदिन दो माला फेरते हैं और प्रतिदिन कहते हैं—'इतने दिन तो हो गये। माला फेरता हूं; फिर भी मन नहीं लगता।' ऐसी माला फेरनेसे क्या लाभ? जिस मनको लगाना है, वह क्या है और जिसमें लगाना है, वह क्या है, यह बात बिना समझे मन कैसे लगे? जब दो धातुओंको परस्पर जोड़ना होता है तो दोनोंका गुणधर्म जानकर ही उन्हें जोड़ा जा सकता है। अतः यह देखो कि मन है क्या? नेत्र हरा, लाल, पीला आदि रूप देखते हैं; किन्तु किसीको पकड़ते नहीं हैं। जो रूप सामने आया, उसे दिखला देना उनका काम है। रूप अच्छा या बुरा, प्रिय या अप्रिय—यह नेत्र नहीं कहते। यही बात नाक, कान, त्वचा तथा जीभकी है। ज्ञानेन्द्रियोंका काम अपने विषयको प्रकाशित करना मात्र है। नेत्रसे देखे हुए विषयका संस्कार पकड़कर मन उसमें प्रिय-अप्रिय, सुरूप-कुरूपकी कल्पना करता है। मन ही शत्रु-मित्रकी कल्पना करके राग-द्वेष करता

है। मनमें ही स्मृति तथा संस्कार रहते हैं। अब देखो कि तुम बैठे कहाँ हो?

वृन्दावनके मेरे एक परिचित भक्त कहते थे कि 'जब कोई व्यक्ति बोलता है तो मैं यह देखता हूँ कि वह कहाँ बैठकर बोल रहा है। वह क्या बोलता है, यह मैं नहीं देखता। वह धनमें, मानमें बैठकर बोलता है या परमात्मामें बैठकर बोलता है।'

अब देखो कि नेत्रके—इन्द्रियोंके पीछे मन है और मनके पीछे परमात्मा है। आत्मदृष्टिसे वस्तुको देखनेपर उसमें वासना, स्मृति तथा संस्कारके आधानकी योग्यता नहीं है। जब केवल इन्द्रिय-दृष्टि रहती है, तभी वस्तुमें वासनाके संस्काराधानकी योग्यता होती है। अत: अपनेको पीछे हटा लो। बुद्धि और मनको प्रकाश देनेवाला कौन है? उसमें प्रवेश करो।

दुनियासे 'जौक' रिश्तये उल्फतको तोड़ दे।
जिस सरका है ये बाल उसी सरमें जोड़ दे॥

यह मन-बुद्धि जिस परमात्मासे निकलकर आती है, उसीमें इनको लगा दो। मन-बुद्धिकी उपाधिसे ही यह ईश्वरसे पृथक् होकर जीव प्रतीत होता है। अत ऊर्ध्वम् मन-बुद्धिको ईश्वरमें लगा देनेके बाद—इन्हें परमात्मामें दफना दिया तब जीव की पृथक्ता रही ही नहीं। निवसिष्यसि मय्येव तब तो परमात्मामें ही रहोगे।

अत ऊर्ध्वम्‌का अर्थ अनेक आचार्य देहपातानन्तरम् करते हैं। मन-बुद्धि भगवान्‌में लग जायँ तब उसके बादकी चिन्ता तो भक्त करता ही नहीं। वह जन्मकी भी चिन्ता नहीं करता—

जनम कोटि लगि रगरि हमारी।
बरउँ संभु न त रहउँ कुमारी॥

भक्तश्रेष्ठ प्रह्लाद कहते हैं—

नाथ योनिसहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम् ।
तेषु तेष्वच्युता भक्तिरच्युतास्तु सदा त्वयि ॥

× × ×

जेहि जेहि जोनि करमबस भ्रमहीं ।
तहँ तहँ नाथ देहु यह हमहीं ॥
सेवक हम स्वामी सियनाहू ।
होहु नाथ एहि नात निबाहू ॥

भक्तको जन्म होनेकी चिन्ता क्या है । वह जहाँ जायेगा, उसके परम प्रियतम भगवान् उसके साथ रहेंगे । यदि तुम पत्थर होगे तो श्रीकृष्ण तुमपर चरण रखकर खड़े होंगे । यदि तुम वृक्ष बनोगे तो नटनागर उसपर बैठेंगे। यदि तुम पशु बनोगे तो गोपाल तुम्हारे पीछे-पीछे चलेंगे। भगवान् तुम्हारा साथ छोड नहीं सकते । वैसे यह बात केवल कही भर जाती है, भक्त क्षुद्र योनियोंमें जन्म पाता नहीं है।

आचार्यगण ऐसा मानते हैं कि औपनिषद उपासना करनेवाले ब्रह्मलोक जाते हैं और सगुण साकार ईश्वरके उपासक अपने इष्टके लोकमें—वैकुण्ठ, साकेत, गोलोकादिमें जाते हैं। यदि कदाचित् वहाँ जाकर भक्तके हृदयमें कैवल्य-मोक्षको प्राप्त करनेकी इच्छा हो तो भक्तको वहाँ गुरुकी आवश्यकता नहीं होती । उसे तत्त्वमस्यादि महावाक्यका श्रवण-मनन-निदिध्यासन नहीं करना पड़ता । जैसे मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंको समाधिमें श्रुतिके मन्त्रोंके दर्शन होते हैं, वैसे ही भगवान्के लोकमें श्रुतियाँ साकार होकर रहती हैं और वे अपना अर्थ स्वयं भक्तको बताती हैं। निवसिष्यसि मय्येव शरीर छूटनेपर भक्त भगवान्के धाममें ही प्रवेश करता है और धाम भगवत्स्वरूप ही है ।

न संशयः भक्त शरीर छूटनेपर भगवान्के धाममें जायगा—इसमें सन्देहकी तो कोई बात है ही नहीं ।

: ९ :

● *संगति*

सब बात ठीक; किन्तु कोई भगवान्‌के धाममें तो तब जायगा—भगवान्‌में तो तब प्रवेश करेगा, जब मन और बुद्धि भगवान्‌में प्रवेश कर लें। यह काम तो बहुत कठिन है। यह कैसे हो ? इसका उत्तर देते हुए पहले जो **मय्येव मन आधत्स्व** इस श्लोकमें भगवान्‌के स्वरूपकी प्रधानतासे मन लगानेकी बात कही गयी थी, अब भगवान्‌में गुणकी प्रधानतासे मन-बुद्धि लगानेकी बात कही जा रही है।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।

अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय ॥९॥

हे धनञ्जय! यदि तुम अपने चित्तको मुझमें स्थिर रूपमें स्थापित नहीं कर पाते हो तो अभ्यासयोगके द्वारा मुझे प्राप्त करनेकी इच्छा करो।'

धनञ्जय धनका अर्थ साधन। रुपया, भवन आदि सच्चे धन नहीं हैं। मरनेपर धन तिजोरी या बैङ्कमें रह जाता है। स्त्री घरके द्वारतक और पुत्र तथा सम्बन्धी श्मशान तक जाते है; किन्तु परलोकमें केवल धर्म साथ जाता है—

जीवानुगो गच्छति धर्म एकः।

जीवके साथ परलोकमें उसका साधन ही जाता है। अतएव वही मनुष्यका सच्चा धन है। उस साधनरूपी धनको जिसने जीता है, उपार्जित किया है, उसका नाम धनञ्जय है।

अथ चित्तं समाधातुम् इसमें 'चित्त' वही चित्त है, जिसे आप अखाड़ेकी भाषामें चित्तपट्ट कहते हैं। अखाड़ेमें मल्लयुद्ध करते हुए, भूमिपर गिरकर भी यदि एक पहलवान पेटके बल पट्ट गिरा है तो वह पराजित नहीं है। पराजित तब होगा जब उसकी पीठ भूमिपर लगे, उसको चित्त कर दिया जाय। जो कर्मसंस्कार जीवको संसारके अखाड़ेमें पटके हुए हैं, उनको चित्त कहते हैं। चित्, चित और चित्त, इन तीनोंका अन्तर समझ लेना चाहिए। चित् कहते हैं चेतनको। चितका अर्थ है सञ्चित—एकत्र किया हुआ। चित्तका अर्थ है कर्मसंस्कारोंकी राशि।

पहले श्लोकमें भगवान्‌ने **मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धि निवेशय** कहा था। अब यहाँ मन तथा बुद्धिके सम्मिलित रूपको चित्त कह रहे हैं। योगमें चित्तका निरोध नहीं होता है, चित्तवृत्तिका योगमें निरोध होता है। भगवान् गीतामें चित्तको अपनेमें लगानेको कहते हैं—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥१०.९-११॥

मच्चित्ता अपना चित्त मुझमें लगाकर **मद्गतप्राणाः** हो जाओ। यहाँ देखना है कि **मद्गतप्राण** का क्या तात्पर्य है? कलियुगमें प्राण अन्नमें रहता है—**कलावन्नगताः प्राणाः**। पुत्रसे बड़ा प्रेम, पत्नी बहुत प्यारी; किन्तु दो-तीन दिन कुछ भोजनको न मिले तो यह पुत्र या पत्नीका प्रेम टिका रहेगा? जैसे अन्नके बिना नहीं रह सकते वैसे ही भगवान्का चिन्तन किये बिना जिसके प्राण शरीरमें न रह सकें वह **मद्गतप्राण** है।

घरमें कोई अतिथि आजाय तो आप एक दिन भोजन छोड़ देते हैं? किसी मेहमानके आनेपर तो अधिक तैयारीसे भोजन बनता और किया जाता है; किन्तु मेहमान आगया, इसलिए भगवान्का भजन, मन्दिरमें दर्शन करने जाना, कथा-सत्संगमें जाना आप बड़ी सरलतासे स्थगित कर देते हैं। वर्षा चाहे जितनी हो, फिर भी बम्बईमें लोग अपने आफिस, अपनी दुकानपर अवश्य पहुँच जाते हैं; किन्तु मन्दिर जाना, कथामें जाना वर्षाके कारण सरलतासे रुक जाता है। जैसे संसारकी कोई बाधा, भोजन, निद्रा, धनोपार्जनको रोक नहीं पाती है, वैसे ही जब कोई बाधा भगवान्के भजन-पूजन, कथा-सत्संगको रोक न पाये, तब कहा जायगा कि आपके प्राण भगवान्में लगे हैं। जीवनमें रस-आनन्द भगवान्के सम्बन्धसे आना चाहिए।

मन भगवान्में क्यों नहीं लगता ? इसलिए नहीं लगता कि मनमें स्थिरता नहीं है। भगवान्ने तो कहा—**मय्येव मन आधत्स्व** लेकिन जब कोई वस्तु तुम्हारे अधिकारमें होगी तब तो उसे दूसरेको दोगे ! जो वस्तु तुम्हारे अधिकारमें ही नहीं है, उसे दूसरेको तुम दे कैसे सकते हो ?

देशमें जमींदारी उन्मूलन होनेसे कुछ ही पहले मध्यप्रदेशके एक जमींदार मेरे पास आये। वे बोले—'मैं एक गाँव आपको देना चाहता हूँ।' मुझे गाँव लेकर क्या करना था; फिर भी मैंने पूछा—'जमींदारी उन्मूलन होनेपर उस गाँवका क्या होगा ?'

वे बोले—'उस समय तो उसे सरकार ले लेगी।'

मैंने कहा—'गाँव सरकार ले लेगी; किन्तु उसका मुआवजा तो देगी ?'

उन्होंने कहा—'वह गाँव मेरे कुलमें माफीका है। उसका कोई कर हम लोग नहीं देते हैं। इसलिए उसका कोई मुअवजा नहीं मिलेगा।'

गाँव जानेवाला है और उसका कोई मुआवजा मिलता नहीं है, ऐसे गाँवको किसीको देनेका क्या अर्थ है ? इसी प्रकार आप कहते हैं—'मैंने अपना मन भगवान्को अर्पण कर दिया।' मन आपके वशमें है कि आप उसे अर्पण कर रहे हैं ? मन तो सब इन्द्रियोंका स्वामी है, महत्त्वकी वस्तु है। आप उससे बहुत कम महत्त्वकी एक इन्द्रियको भगवान्के अर्पण क्यों नहीं करते ? ज्ञानेन्द्रियाँ आपके वशमें नहीं भी हो सकती हैं; किन्तु कर्मेन्द्रियाँ तो आपके वशमें हैं। आप हाथ भगवान्को अर्पण कर दीजिये। संकल्प कर लीजिये कि हाथसे अपने लिए—संसारके लिए कोई काम नहीं करेंगे। केवल भगवत्सेवाके काम ही हाथसे करेंगे। यह कठिन लगता हो तो पैर भगवान्को अर्पित कर दीजिये।

अपने लिए या संसारके लिए किसो कामके लिए पैर नहीं चलेंगे। केवल भगवान्‌के लिए—भगवत्सेवाके लिए, परिक्रमाके लिए, तीर्थयात्रा तथा मन्दिरमें दर्शन करनेके लिए उन्हें काममें लेंगे।

जो इन्द्रियाँ आपके वशमें हैं, उन्हें तो भगवान्‌को अर्पित नहीं करना चाहते और जो मन आपके वश नहीं, उसे आप भगवान्‌को अर्पित करना चाहते हैं। अब आप कहें—'स्वामीजी! वनमें एक बन्दर है, उसे मैं अर्पित करता हूँ।' इस अर्पणका क्या अर्थ हुआ? उस बन्दरपर तुम्हारा क्या स्वामित्व है कि तुम उसे अर्पण करते हो? वह तुम्हारा पालतू होता, कम-से-कम तुमने उसे पकड़कर बाँध लिया होता तो उसके अर्पणका एक अर्थ भी था, किन्तु वनके स्वतन्त्र बन्दरको अर्पण करनेवाले तुम होते कौन हो? इसी प्रकार जब चित्तमें स्थिरता होगी, वह तुम्हारे वशमें होगा, तब तुम उसे प्रभुको अर्पित कर सकोगे।

मन दो प्रकारका होता है—चञ्चल और स्थिर। मन चञ्चल है तो चिन्ता मत करो। घरका बच्चा चञ्चल स्वभावका हो जाता है तो उसे सहना—सुधारना पड़ता है। जैसे शौच जाना, रोगी होना आदि विवशता है, वैसे ही मनका चञ्चल होना भी तुम्हारी विवशता है। अतः मनको स्थिर बनानेके लिए अभ्यास करो। मद्रास, दिल्ली, कलकत्ता, बम्बई जाता है। ऐसा करो कि मन एक स्थानपर जाकर लौटे तो एक बार भगवान्‌के चरणोंमें लगे। मद्राससे लौटे तो भगवान्‌के चरणोंमें, दिल्लीसे लौटे तो भगवान्‌के चरणोंमें। इस प्रकार मनको भगवान्‌के चरणोंमें तो बार-बार लगना पड़ेगा और मद्रास, दिल्ली आदि स्थानोंमें, दूसरे विषयोंमें वह एक-एक बार जा सकेगा। जहाँ मन जाय, वहाँसे लौटाकर उसे भगवान्‌के चरणोंमें लगाओ। इस

प्रकार मन देखेगा कि बार-बार भागनेपर जब यहीं लौटना पड़ता है तो यहीं बैठो।

अभ्यासका अर्थ है दुहराना। संस्कृतमें 'भू' धातुको जब दो बार 'भू-भू' कहना होता है तो 'बभूव' शब्द बन जाता है। इसे अभ्यास कहते हैं। अभ्यासका दूसरा अर्थ है आस-पास मँडराना। अभि=चारों ओर, आस=रहना। जिससे किसीका प्रेम हो जाता है, उसके आस-पास ही वह प्रेमी चक्कर काटता रहता है। यदि तुम अपने चित्तको स्थिर करके भगवान्में स्थापित नहीं कर सकते तो अभ्यास करो। भगवान्का एक चित्र सामने रख लो। उसे चरणोंसे लेकर मस्तकतक खूब ध्यानपूर्वक देखो। एक-एक रेखा, वस्त्रका एक-एक मोड़, आभूषणोंकी एक-एक सूक्ष्म बनावट, भगवान्के अंगोंकी गठन, उनका रंग, उनका हास्य, उनकी दृष्टि आदि सबको चरणसे मस्तकतक ध्यानपूर्वक देखो। इसके बाद नेत्र बन्द करनेपर कुछ सेकेण्डतक वह चित्र प्रत्यक्षके समान दिखायी पड़ेगा। आकृति दीखना बन्द हो जाय तो फिर नेत्र खोलकर देखो। बार-बार ऐसा करते रहनेसे नेत्र बन्द करके चित्र देखते रहनेका समय बढ़ता जायेगा। योगदर्शनकार कहते हैं—

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः।

जहाँ तुम मनको रखना चाहते हो, वहाँ उसे रखनेके प्रयत्नका नाम अभ्यास है। देवर्षि नारद प्रायः द्वारकामें रहते थे। भगवान् श्रीकृष्ण उन्हें बीच-बीचमें अन्यत्र भेजते थे—'देवर्षि, तनिक व्रजका समाचार ले आइये!' नारदजीको जानेमें कितनी देर लगती थी। गये और फिर लौट आये। भगवान्ने कभी इन्द्रप्रस्थ भेजा तो कभी ब्रह्मलोक; लेकिन जहाँ भेजे गये, वहाँ जाकर बहुत शीघ्र

भगवान्‌के पास लौट आये। इसी प्रकार तुम अपने मनको नारद बना दो। वह जहाँ जाय, वहाँसे लौटकर भगवान्‌के पास आजाया करे। नारदजी भगवान्‌के मनके ही रूप हैं। अपने मनको तुम उनके समान बनाओ। श्रीहरिदासजी कहते हैं—

ज्यों ही ज्यों ही राखत हौ त्यों ही त्यों ही रहियत हौं हे हरि।

श्रीसूरदासजीने कहा है—**जैसे राखौ वैसे रहौं।**

इन दोनों महात्माओंके इन वचनोंमें भी अन्तर है। श्रीहरिदासजी अपनी इच्छा भगवान्‌की इच्छामें मिला चुके हैं और सूरदासजी अपनी इच्छा भगवान्‌की इच्छामें मिलानेको प्रस्तुत हैं। जो अपनी इच्छा भगवान्‌की इच्छामें मिला चुका उसे सोचने-समझनेको, बुद्धि लगानेकी क्या आवश्यकता है?

तत्रास्मदीय विमृशेन कियानिहार्थः।

जब बच्चेने पिताके हाथमें अँगुली पकड़ा दी, तब किधरसे जाना, कहाँ मुड़ना, कहाँ बचना आदि सोचनेकी उसे क्या आवश्यकता? जहाँ ले जाना होगा, पिता ले जायेगा। जहाँ ठोकर या नालीसे बचाना होगा, पिता बचायेगा। अब कहो कि इतनी निर्भरता तो नहीं है। मन सोचे बिना मानता नहीं।' तब भगवान्‌के विषयमें सोचो—

ऐसो कब करिहौ मन मेरौ।
कर करवा हरवा गुंजनि कौ, कुंजनि माँहि बसेरौ॥
भूख लगै तब माँगि खाइहौं गिनौं न साँझ-सबेरौ।
व्रजबासिनके टूक जूठ अरु घर-घर छाँछ महेरौ॥

यह रहनी ज्ञानी हो या अज्ञानी, सबके लिए उत्कृष्ट है। भक्तिका अर्थ है एक देहकी रहनी। शरीर तो शरीर है, वह ज्ञानीका हो या भक्तका। मनुष्यके पास यह चित्त ही वित्त है। **चिति**

संज्ञानेसे चित्त शब्द **बना है। वित् लाभेसे वित्त शब्द बनता** है। चित्त ही मनुष्यका सबसे बड़ा वित्त है। इसे भगवान्‌में स्थापित करना है। वहीं यह सुरक्षित रह सकता है, लेकिन धनको जहाँ रख दो, वहाँसे दूसरेके उठाये बिना कहीं जाता नहीं; किन्तु चित्त पक्षी है। इसके राग-द्वेषरूपी पक्ष हैं। यह स्वयं उड़ जाता है। इसलिए भगवान्‌ने कहा—**यदि मयि चित्तं स्थिरं यथा स्यात् तथा समाधातुं न शक्नोषि**। तुम इस प्रकार चित्तको नहीं पाते कि वह वहाँ स्थिर रह सके, तो अभ्यास करो।

मुझे अपने बचपनका स्मरण है कि माँके पास भोजन करते-करते बीचमें कुत्तेका पिल्ला पकड़नेके लिए दौड़ पड़ता था और तब माँ बड़े प्रेमसे पुकारकर बुलाती थी। परम वात्सल्यमयी माँ और प्रिय लगनेवाला रसमय भोजन छोड़कर कुत्तेके पिल्लेको पकड़ने दौड़नेमें कोई सुख विशेष नहीं था; किन्तु यह बच्चेकी स्वाभाविक चञ्चलता है। इसी प्रकार करुणावरुणालय भगवान्‌से अधिक स्नेह कोई दे नहीं सकता और उन सौन्दर्य, माधुर्यधामके जैसा आनन्द भी अन्यत्र नहीं है, किन्तु चित्त वहाँ रुकता नहीं। चञ्चल होना उसका स्वभाव बन गया है। वह चित्त उपहार रूपमें भगवान्‌को दे देना है। कैसे देना है? **स्थिरं यथा स्यात् तथा** जैसे भी वह वहाँ स्थिर रहे, उस रूपमें।

एक मनुष्यने किसीको अपना बैल बेच दिया। खरीदनेवाला बैल लेकर चला; किन्तु वह मार्गमें-से रस्सी छुड़ाकर भाग आया। अब यदि बेचनेवाला बेईमान है तो बैलको बाँध लेगा। उससे काम लेगा। खरीदनेवाला माँगने आयेगा तो कहेगा कि बैल मेरा है, मैंने बेचा नहीं था। लेकिन यदि वह ईमानदार है तो बैलको पकड़कर उसके घर पहुँचायेगा, जिसने खरीदा है। अब तुम देखो कि तुम इन दोनोंमें क्या बनना चाहते हो। लेकिन भगवान्‌को

चित्तका न तो उपहार देना है और न बेचना ही। वह पहलेसे ही भगवान्का है। उनकी वस्तु तुमने अपनी मान ली। दयाके कारण उन्होंने छीना नहीं। उनकी वस्तु उन्हें लौटा देनी है। बेची हुई वस्तुको न देना बेईमानी है; किसी वस्तुका दान देकर फिर उसका स्वयं उपभोग करना अधर्म है। लेकिन यहाँ न उपहार देना, न दान देना, दूसरेकी वस्तु हम अपनी बनाये बैठे हैं। उसे तो केवल उसके ठीक स्वामीको लौटा देना है। हुआ यह है कि हमारे पास रहनेसे चित्तका स्वभाव बिगड़ गया है। यह अपने स्वामीके समीप रहना नहीं चाहता, बार-बार भाग आता है। अतः इसे बार-बार वहीं पहुँचाते रहना है, जबतक यह वहीं स्थिर न रहने लगे।

मामिच्छामुम्का अर्थ करते हुए श्रीरामानुजाचार्यजीने लिखा है—

स्वाभाविकानवधिकातिशयसौन्दर्यसौशील्यसौहार्दवात्सल्यकारुण्यमाधुर्यगाम्भीर्यौदार्यशौर्यवीर्यपराक्रमसार्वज्ञ्यसत्यकामत्वसत्यसंकल्पत्वसर्वेश्वरत्वसकलकारणत्वाद्यसंख्येयकल्याणगुणगणैकसागरे निखिलहेयप्रत्यनीके मयि०—इस श्लोकमें भगवान्के गुणोंमें चित्तको लगानेकी बात कही गयी है, यह प्रारम्भमें बता आये। अब भगवान्के सौन्दर्यका चिन्तन करो, जो स्वाभाविक है। स्नो, पाउडर, तेल, आभूषण आदि श्रृंगारके प्रसाधनोंसे प्राप्त किया हुआ सौन्दर्य वह नहीं है। इसका यह अर्थ भी है कि वह कल्पित नहीं है। अद्वैत मतसे भी माया अनादि है और प्रवाह रूपसे नित्य है। अतएव अद्वैत मतमें भी वैकुण्ठ, साकेतादिकी नित्यता तो स्वीकृत है; किन्तु अधिष्ठानरूप ब्रह्मसे उसकी भिन्नता स्वीकृत नहीं है। वैष्णवाचार्य कहते हैं कि भगवान्का सौन्दर्य मायिक नहीं है। वह अनवधिकातिशय है अर्थात् अनन्त एवं निरतिशय

जिससे बड़ा कोई नहीं) है। भगवान् श्रीरामके सौन्दर्यको
ो लो। श्रीराम-लक्ष्मण महर्षि विश्वामित्रजीके साथ उन
ापोवनमें कई दिन रहकर, पैदल चलकर जनकपुर गये हैं
उनके शरीरपर कोई विशेष शृंगार तथा आभूषणादि नहीं हैं
ेकिन ज्ञानियोंके शिरोमणि जनक उन्हें देखकर कहते हैं—

इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा।
बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥
सहज बिराग रूप मन मोरा।
थकित होत जिमि चन्द चकोरा॥

जब महाराज जनककी यह दशा है तो जनकपुरीकी नारि
ो स्त्रियाँ ही हैं। उनका यह कहना ठीक ही है—

कहहु सखी असको तनु धारी।
जो न मोह यह रूप निहारी॥

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने वर्णन किया है कि श्रीरामजीव
ववाह देखनेके लिए जब भगवान् नारायण जनकपुर जाने
ैयार हुए तो लक्ष्मीजी भी साथ चल पड़ीं। लेकिन जनक
ाकर जब श्रीरामके वरवेशके दर्शन हुए तो वे मूर्च्छित
ायीं। श्रीरामके रूपपर आकर्षित होकर लक्ष्मीजी मूर्च्छित
ायें, यह बात भगवान् नारायणको बहुत बुरी लगनी चाहि
ंकन्तु बुरी तो तब लगे, जब स्वयं नारायण सावधान हों। श्रीराम
अतिशय सौन्दर्यको देखकर वे स्वयं भी मूर्च्छित हो गये।

हरि हित सहित राम जब जोहे।
रमा समेत रमापति मोहे॥

भगवान् शंकर, विष्णुभगवान् या देवता भगवद्भक्त हैं
ात्त्विक हैं। महाराज जनक या जनकपुरके लोग शुद्धचित्त हैं

वे भगवान् श्रीरामके सौन्दर्यसे मुग्ध हुए, यह स्वाभाविक था; लेकिन खर-दूषण राक्षस थे, क्रूर थे। उनकी बहनके नाक-कान लक्ष्मणने काट लिये थे। क्रोधमें भरे, राक्षसोंकी सेना लेकर वे मारने आये थे; किन्तु श्रीरामको देखकर वे भी मोहित होकर कहते हैं—

हम भरि जनम सुनहु सब भाई।
देखी नहिं अस सुन्दरताई॥
जद्यपि भगिनी कीन्ह कुरूपा।
बध लायक नहिं पुरुष अनूपा॥

यह तो मनुष्य एवं राक्षसोंकी बात है। श्रीरामके सौन्दर्यपर मुग्ध तो हो गये जलचर जीव। लंकापर चढ़ाईके समय समुद्रपर सेतु तो बँध गया; किन्तु विशाल वानर सेना उसपर-से पार होने लगती तो बहुत समय लगता। भगवान् श्रीराम सेतुपर आये तो उनका दर्शन करने समुद्रके महाविशाल कच्छप, तिमिंगल आदि मत्स्य ऊपर आगये। वे भगवान्‌का दर्शन करके ऐसे मुग्ध हुए कि उन्हें अपने शरीरोंका भान ही नहीं रहा—

तिनकी ओट न देखिय बारी।
मगन भये हरि रूप निहारी॥

सेनाके वानर-भालू उन जलचरोंके ऊपर चढ़ गये। जैसे-जैसे भगवान् राम सेतुपर आगे बढ़ें, वैसे-वैसे वे जलचर भी आगे चलते जायँ। इस प्रकार चलचरोंकी पीठपर खड़े वानरोंको तो जैसे सवारी मिल गयी। उन्हें चलनेका परिश्रम भी नहीं करना पड़ा और वे समुद्रके पार पहुँच गये।

भगवान् श्रीरामका सौन्दर्य ऐसा है कि शंकरजी, ब्रह्मा, नारायण, सनकादि ऋषि-मुनि उसीका ध्यान करते हैं। श्रीकाक-भुशुण्डजी कहते हैं—

यहि सुखकर लवलेस, जेहि बारेक सपनेहुँ लहेउ।
ते नहिं गनहिं खगेस, ब्रह्मसुखहिं सज्जन सुमति ॥

मेरे पिताजी रामायणके प्रेमी थे; किन्तु उनका शरीर पहले छूट गया था। उनके पीछे जब मेरे पितामहका शरीर छूट गया, तब एक मुकदमा वे छोड़ गये थे। मैं उस समय नाबालिक था। उस मुकदमेके सम्बन्धमें एक वकीलके यहाँ जाना पड़ा। वे रामायणके बहुत अनुरागी थे। रातमें भोजनोपरान्त छतपर बैठकर या पलंगपर सोते-सोते वे मुझे रामायणकी बातें सुनाते थे। उन्होंने सुनाया—

राम - सीय तनुकी परछाहीं।
जगमगाति मनि खम्भन्हि माहीं ॥
मनहु मदन - रति धरि बहुरूपा।
निरखहिं राम - बिबाह अनूपा ॥
दरस लालसा सकुच न थोरी।
प्रगटहि दुरहि बहोरि - बहोरी ॥

रति तथा कामदेवको भी उस सौन्दर्यनिधिके सम्मुख आनेमें सङ्कोच होता है, ऐसा अनुपम सौन्दर्य भगवान्‌का है।

आजकल तो ऐसा हो गया है कि पुरुष पैरसे सिरतक अपने शरीरको कपड़ोसे ढँके रहते हैं और स्त्रियाँ अपने शरीरका अधिक-से-अधिक भाग खुला रखनेका प्रयत्न करती हैं। कम-से-कम वस्त्र शरीरपर डालना, यह आजकलकी स्त्रियोंका प्रयत्न रहता है। लेकिन पुराने समयमें ऐसा था कि स्त्रियाँ तो अपने पुराने शरीरको वस्त्रसे ढँका रखती थीं और पुरुष बहुत कम वस्त्र पहनते थे। उनका कमरसे ऊपरका भाग तो प्रायः नंगा रहता था। भगवान्‌के ऐसे खुले शरीरका सौन्दर्य मनसे चिन्तन करो तो मन उसीमें लग जायेगा।

भगवान्‌के शरीरका सौन्दर्य ऐसा है कि वे स्वयं उसपर मुग्ध हो जाते हैं। श्रीमद्‌भागवतमें आया है—

विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः परं पदं भूषणभूषणाङ्गम्।

इसी आधारपर श्रीरूपगोस्वामीजीने वर्णन किया है कि एक बार भगवान् श्रीकृष्णने हाथमें दर्पण लिया तो अपने सौन्दर्यको देखकर चौंक उठे—

अपरिकलितपूर्वः कश्चमत्कारकारी।

अपना प्रतिबिम्ब देखकर बोले—'अरे! यह पहले कभी न देखा अनुपम आश्चर्यमय सुन्दर कौन है? यदि मैं राधा होता तो अवश्य इससे विवाह कर लेता।

अहमपि परिभोक्तुं कामये राधिकेव।

भगवान् श्रीनारायणका सौन्दर्य भी ऐसा ही अतुलनीय है। लक्ष्मीजीने त्रिलोकीकी जाँच करके तब श्रीनारायणका वरण किया था। यदि तुम्हें सौन्दर्य प्रिय है तो भला भगवान्‌से श्रेष्ठ सुन्दर कौन होगा? उनके सौन्दर्यका दर्शन करो।

भगवान्‌के सौशील्यका चिन्तन करो। वाल्मीकीय रामायणमें आया है कि युद्धमें जब रावण मारा गया, उसकी अन्तिम क्रिया करनेवाला कोई नहीं बचा था।

रहा न कुल कोउ रोवनिहारा।

विभीषण श्रीरामके पक्षमें थे। वे बोले—'मैं ऐसे दुरात्मा धर्मविरोधी, ऋषि-मुनियोंके शत्रु, भगवद्विमुख भाईका शव-दाह भी नहीं करूँगा। तब श्रीरामने उन्हें समझाया कि रावण दुष्ट था, देवताओं तथा मुनियोंको सताता था, यह सब बातें तो उसके जीवनके साथ समाप्त हो गयीं। मेरी शत्रुता भी उसके जीवित रहनेतक थी—

मरणान्तानि वैराणि निवृत्तं नः प्रयोजनम्।

'शत्रुता शत्रुके मरनेके साथ समाप्त हो जाती है। अब उससे द्वेष करके अपने चित्तको दूषित तो करना नहीं है। जैसे वह तुम्हारा भाई, वैसे मेरा भाई। तुम उसका अन्त्येष्टि संस्कार करो। ये लक्ष्मण तुम्हारे साथ जायंगे।' ऐसा उत्तम शील कि रावणसे भी द्वेष नहीं! लक्ष्मणको उसकी अन्त्येष्टिमें सम्मिलित होनेको भेजा। शील इसीको कहते हैं कि किसीका कभी बुरा न चाहे।

सील सनेह-सिन्धु रघुराई।

भगवान्‌का सौहार्द्र चिन्तन करो तो मन उसीपर मुग्ध हो जायेगा। गीध कौन-सा उत्तम पक्षी है। लेकिन जैसे कोई अपने पिताकी अन्त्येष्टि क्रिया करे, वैसे अपने हाथों श्रीरामने जटायुकी अन्तिम क्रिया सम्पन्न की और उन्हें जलाञ्जलि दी। घायल जटायुको जैसे ही देखा, श्रीजानकीके हरणका दुःख भूल गये और उसके घायल शरीरको गोदमें लेकर अपनी जटाओंसे उसके रक्तको पोंछने लगे। अपने आँसुओंसे जटायुके शरीरको उन कमल-लोचनने मृत्युके उपरान्त स्नान करा दिया।

पद्मपुराणमें एक कथा आती है। विभीषण लंकाका राज्य प्राप्त करनेके पश्चात् श्रीरंग क्षेत्रमें आकर जम्बुकेश्वर लिंगकी अर्चना किया करते थे। श्रीरंगम्‌में जम्बुकेश्वर जलतत्त्व लिंग है। इसके नीचेसे बराबर जल निकलता रहता है। एक बार जब वे अर्चनाके लिए आ रहे थे तो अकस्मात् एक वृद्ध तपस्वी मार्गमें आगया और रथ रोकते-रोकते भी वह विभीषणजीके रथके पहियेके नीचे दबकर मर गया। इस घटनासे वहाँके ब्राह्मण बड़े क्रुद्ध हुए। उन्होंने विभीषणको पकड़ लिया और बोले—'इस राक्षसने ब्राह्मणको मार दिया है। इसे मार डालना चाहिए।'

विभीषण स्वयं दु:खी थे। उन्होंने कुछ कहा नहीं और ब्राह्मणको रोका भी नहीं। लेकिन बहुत प्रयत्न करनेपर भी वे ब्राह्मण विभीषणको मार नही सके; क्योंकि श्रीरामजीने विभीषण को अमरत्वका वरदान दिया था। इससे ब्राह्मणोंने उन्हें एक गुफा में बन्द कर दिया।

देवर्षि नारदजीसे विभीषणके बन्दी होनेका समाचार पाकर भगवान् श्रीराम पुष्पक विमानमें बैठकर श्रीरंग-क्षेत्रमें आये। ब्राह्मणोंने उनका सत्कार किया और बोले—'एक राक्षसने यहाँ एक ब्राह्मणको मार दिया है। हम लोगोंके मारनेसे वह मायावी मरता नही है। आप सम्राट् है, अत: उसे प्राणदण्ड दीजिये।'

विभीषणको ब्राह्मणोंने यह कहकर श्रीरामके सम्मुख उपस्थित किया तो भगवान् श्रीराम बोले—

वरं ममैव मरणं मद्भक्तः हन्यते कथम्।
भृत्यापराधे सर्वत्र स्वामिनो दण्ड इष्यते॥

'ब्राह्मणो! मेरे शासनका यह नियम तो आप सब जानते ही हैं कि कहीं भी कोई सेवक अपराध करे तो उसके अपराधका दण्ड उसके स्वामीको दिया जाता है। यह मेरा भक्त है। अत: यह कैसे मारा जा सकता है? आप लोगोंको प्राणदण्ड देना है तो मुझे दीजिये!'

साहब होत सरोस, सेवक के अपराध सुनि।
अपने देखे दोष, सपनेहुँ राम न उर धरे॥

ऐसे परम सुहृद् श्रीराम हैं कि अपने नेत्रोंसे सेवकका दोष देखकर भी उसपर ध्यान नहीं देते, जबकि सांसारिक स्वामी सेवकका अपराध किसीसे सुन लें तो वह बात ठीक है या नहीं,

यह बिना जाने क्रोध करने लगते हैं। उन प्रभुके कारुण्यका, वात्सल्यका तो कोई क्या वर्णन करे—

आश्रितजनदोषभोग्यतापादकत्वम् ।

अपने आश्रितसे कोई अपराध बन जाय तो उसका फल स्वयं भोग लेते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी श्रीकृष्णचन्द्रकी करुणाका वर्णन करते हुए कहते हैं—

गई मारन पूतना कुच कालकूट लगाइ ।
मातुकी गति दई ताहि कृपालु जादवराइ ॥

पूतना विष पिलाने गयी थी; किन्तु दूध भी तो पिलाने गयी थी। श्रीकृष्ण कहते हैं—'संसारके लोगो! यह तुम देखो कि पूतनाने अपने स्तनोंमें भयानक कालकूट विष लगाया था। मैं तो यह देखता हूँ कि उसके स्तनोंमें वैसा ही दूध था, जैसा माताके स्तनमें होता है।' अपनेको मारने आयी राक्षसीको उन दयासिन्धुने माताकी गति दी।

भगवान्‌के माधुर्यकी बात रसिक सन्तोंके ग्रन्थोंमें भरी पड़ी है। श्रीकृष्णकी व्रजलीलाका माधुर्य, उनके रूपका माधुर्य कैसा है?

अभिषवाभिनवं दुरापम् । भागवत.

भगवान्‌का सौन्दर्य-माधुर्यमय रूप नित्य नवीन है। उनके रूपमें जहाँ दृष्टि लग जाय वहाँसे हटती ही नहीं।

न वितृप्यन्ति हि दृशः श्रियो धामाङ्गमच्युतम् । भागवत.

उनके एक-एक अंगमें लक्ष्मी बैठी रहती हैं। श्रीमद्भागवतमें आया है कि द्वारकामें कोई बूढ़ा होता ही नहीं था। सब युवा ही बने रहे; क्योंकि वे अपने नेत्रोंसे नित्य निरन्तर श्रीकृष्णके सौन्दर्यामृतका पान करते थे। ईश्वरका मूल स्वरूप मधु है। बृहदारण्यक उपनिषद्‌के अन्तर्गत मधु ब्राह्मणमें ऐसा आया है—

'वायुके शीतल मन्द झकोरेमें माधुर्य किसका है ? सरिताओंका जल किसकी मिठास लिये बह रहा है ? जौ-गेहूँ, अंगूर-अनार, आम-केला आदि ओषधि वनस्पतियोंमें कहाँसे माधुर्य आता है ? रात्रि, सन्ध्या और उषाकालमें जो आनन्ददायक मधुरता है, वह इन्हें कहाँसे मिली ? यह सब उस परमात्माका माधुर्य है। धूलिका एक-एक कण उस ईश्वरके माधुर्यसे मधुर है।'

एक राजा युद्धमें गये। उनका शत्रु तलवार लेकर पैंतरे बदलता हुआ झपटा तो वे देखते रह गये कि 'उनके पैंतरेमें कितना उत्तम क्रम है! उसकी तलवार कैसे सम-तालसे घूमती है! कितनी कलाका माधुर्य है भगवान्‌के इस रूपमें। यह बहुत कठिन बात है कि अपनेको मारनेवाले शत्रुकी गति तथा तलवारमें—शत्रुमें भगवान्‌के माधुर्यका कोई दर्शन कर सके। यह अलौकिक गुण असाधारण व्यक्तिमें ही होता है।

आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादि गोविन्दमादिपुरुषं तमहं प्रपद्ये।

भगवान्‌का वर्णन करते हुए यह बात कही गयी है कि जैसे मनुष्य, पशु, पक्षी आदिके शरीर मिट्टी-पानी प्रभृति पञ्चभूतोंसे निर्मित हैं, वैसे भगवान् राम, श्रीकृष्ण, शंकरजी या श्रीनारायणका श्रीविग्रह पञ्चभूतोंसे नहीं बने हैं। उनके हाथ, पैर, मुख, उदर आदि सम्पूर्ण अंग आनन्दके घनीभाव हैं। उनके नेत्रसे—रोम-रोमसे आनन्दका निर्झर झरता है। उनके बोलन-चलन-चितवनमें, उनकी प्रत्येक चेष्टामें आनन्दका प्रवाह है। तुम्हारे मनको मधुरता प्रिय है तो उनमें मन लगाओ।

गाम्भीर्य—भगवान्‌की गम्भीरताका चिन्तन करो, यदि तुम्हें गम्भीरता प्रिय है। सुदामाजी द्वारिका आये। श्रीकृष्णचन्द्रने उनको देखा और मिलने दौड़े। इतना स्नेह, इतना कारुण्य कि—

पानी परातको हाथ छुयौ नहिं, नैननके जलतें पग धोये।

सुदामाको अपने वस्त्र पहनाये, अपने आभूषण धारण कराये, अपनी शय्यापर शयन कराया। लेकिन उन्हें विदा करते समय यह कल्पना तक नहीं आने दी कि उन्हें कुछ दिया गया है। सुदामा रात्रिमें सोते रहे और उनके घर कुबेरकी सम्पत्ति पहुँचा दी। श्रीकृष्ण विदा करते समय विनोदपूर्वक बोले—'मित्र! ये आभूषण तो आप ले ही जाओ।'

सुदामाने आभूषण उतार दिये कि इतने मूल्यवान् आभूषण मार्गमें पहनकर जाना ठीक नहीं है। इतनेपर भी आप चुप नहीं रहे; बोले—'अच्छा, ये वस्त्र तो पहिने ही जाइये।' बेचारे सुदामाने वस्त्र भी उतार दिये। वे अपने फटे-मैले वस्त्र पहनकर विदा हुए और मार्गमें सोचते गये—

अधनोऽयं धनं प्राप्य माद्यन्नुच्चैर्न मां स्मरेत्।
इति कारुणिको नूनं धनं मे भूरि नाददात्॥

भागवत १०.८१.२०

'मेरे मित्र श्रीकृष्ण अत्यन्त करुणाशील हैं। उन्होंने सोचा होगा कि यह निर्धन ब्राह्मण धन पा जायगा तो इसे घमण्ड हो जायेगा। अभिमान होनेपर इससे मेरा स्मरण छूट जायेगा। निश्चय ही इसी भावनासे उन्होंने मुझे धन नहीं दिया।' इस प्रकार सोचते हुए सुदामा जब अपने स्थान पहुँचे, तब कहीं पता लगा कि उनकी पुरी तो द्वारकासे भी अधिक वैभवशालिनी श्रीकृष्णने बना दी है।

भगवान् श्रीरामका गाम्भीर्य भी अद्भुत है—

प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः।
मुखाम्बुजश्री रघुनन्दनस्य मे सदास्तु सा मञ्जुलमङ्गलप्रदा॥

अयोध्याके चक्रवर्ती सिंहासनके राज्याभिषेकका संवाद मिला; किन्तु श्रीरघुनाथजीका चेहरा खिला नहीं। उसपर हर्षका विकार नहीं आया और चौदह वर्षके वनवासका समाचार पाकर श्रीमुख-पर खिन्नताकी एक रेखा भी नहीं आयी। जैसे समुद्रका ऊपरी भाग पूर्णिमाको तथा आँधी-तूफानमें बड़ी-बड़ी तरंगोंसे अत्यन्त चञ्चल रहता है और अनेक बार बिना तरंगके शान्त रहता है, किन्तु नीचे गहराईमें उनका तल भाग सदा शान्त रहता है; ऊपर तरंगें उठें या शान्त रहें, गहराईमें उनका कभी कोई प्रभाव नहीं पड़ता; इसी प्रकार भगवान्‌की गम्भीरतामें अपने मनको ले जाओ।

भगवान् श्रीरामके गाम्भीर्यकी दूसरी बात लो। श्रीजनक-नन्दिनीको वे कितना प्रेम करते थे, यह उनके इस सन्देश-वाक्यसे प्रकट है—

तत्त्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एक मन मोरा।
सो मन सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रस एतनेहिं माहीं॥

श्रीराम कहते हैं कि उनका मन उनके शरीरमें नहीं, श्रीजानकीके शरीरमें रहता है। रावणने जानकीजीका हरण किया तो श्रीराम प्रेममें उन्मत्त होकर क्रन्दन करते थे। समुद्रपर सेतु बँधवाया और युद्ध करके रावणको कुल समेत नष्ट कर दिया। कोई अपनी स्त्रीका अपहरण कर ले जाय तो चुप होकर बैठनेके बदले उसके उद्धारके लिए महान् उद्योग करना चाहिए, यह आदर्श मर्यादापुरुषोत्तमने स्थापित किया। लेकिन जब उन्हीं जानकीजीकी प्रजामें निन्दा हुई तो उन्हें वनमें त्याग दिया। प्रजा यदि न चाहे तो राजाको अपनी पत्नीको भी पास नहीं रखना चाहिए, यह आदर्श स्थापित किया। श्रीराम यदि जानकीजीको न त्यागते तो उनका कोई कुछ बिगाड़ नहीं सकता था। लेकिन इससे आदर्श बिगड़ता। आनेवाले राजा तथा प्रशासक प्रजाके मनकी उपेक्षा

करना अपना अधिकार मानने लगते। इसलिए भगवान् रामने कहा है—

सौख्यं दयां च मैत्रीं च अथवा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा॥

'प्रजाको प्रसन्न रखनेके लिए मुझे अपना सुख छोड़ना पड़े, दयालु स्वभाव छोड़कर कठोर बनना पड़े, मित्रताका अथवा जानकीका त्याग करना पड़े तो ऐसा करनेमें भी मुझे क्लेश नहीं होगा।'

श्रीरामने अपनी इस बातको सत्य करके दिखा दिया। श्रीजानकीजीको त्यागकर उनको कम दुःख नहीं हुआ। एकान्तमें वे रुदन करते थे। रात्रिमें निद्रा नहीं ले पाते थे। लेकिन अपने कष्टको उन्होंने प्रजापर प्रकट नहीं होने दिया। सन्ध्या-पूजन, दान-धर्म, न्याय आदि सब कार्य पहलेके समान ही दक्षतापूर्वक करते रहे।

भगवान्‌की उदारताका चिन्तन करो। कितना औदार्य है उनमें! श्रीमद्‌भागवतमें ऐसा वर्णन आता है कि भगवान् श्रीरामने यज्ञ करके अपना सर्वस्व दान कर दिया। उनके पास केवल यज्ञोपवीत, शरीरके वस्त्र तथा राजदण्ड बचा रह गया और श्रीजानकीजीके शरीरपर भी वस्त्रके अतिरिक्त केवल मंगलसूत्र ही रह गया था। भगवान् नारायणने कहा है—

नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना।
श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा॥

—भागवत ९.४.६४

'अपने भक्त साधुजनोंके बिना तो मैं उन लक्ष्मीको भी नहीं चाहता जिनकी परम गति मैं ही हूँ। दूसरेकी चर्चा क्या, मैं अपने शरीरको भी भक्तोंके बिना नहीं चाहता। मैंने तो अपने-आपको भक्तोंके हाथ बेच दिया है।'

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।

साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः ॥—भागवत ९.४.६३

दुर्वासाजी! मैं तो भक्तके पराधीन हूँ, जैसे कोई खरीदा हुआ दास हो। अपने भक्त मुझे प्रिय हैं और उन साधु भक्तोंने मेरे हृदयको पकड़कर बन्दी कर रखा है।'

सुदामाकी बात ले लो। वे श्रीकृष्णके पास क्या ले गये थे?

धानामुष्टिमुचे कुचैलमुनये दत्ते स्म वित्तेशताम।

चार मुट्ठी चिउड़ा ले आनेवाले उस मलिन चिथड़े पहननेवाले ब्राह्मणको द्वारकानाथने धनाधीश कुबेरकी सम्पत्ति दे डाली। किसीको कोई वस्तु दे देना ही उदारता नहीं है। अपमान सहकर उपकार करना महान् उदारता है।

जनम ते सिसुपाल दिनप्रति देत गनि गनि गारि।

कियो लीन सु आपमें हरि राजसभा मंझारि ॥

शिशुपाल जन्मसे श्रीकृष्णका शत्रु था। नियमपूर्वक प्रतिदिन उन्हें गालियाँ देता था; किन्तु श्रीकृष्णने उसे मारा तो उसको अपना सायुज्य दिया। अघासुरने उनके सखा गोपबालकोंको तथा बछड़ोंको निगल लिया। स्वयं उनको भी वह मारना चाहता था; किन्तु उसकी जीव-ज्योति कहाँ मिली? श्रीकृष्णके चरणोंमें। उसे भी अपना स्वरूप भगवान्‌ने प्रदान किया। कोई उनके चरणोंका स्मरण करता है तो स्मरण करनेवालेको वे अपने-आपको दे डालते हैं—

स्मरतः पादकमलमात्मानमपि यच्छति।—भागवत

दूसरे दाता तो धन, भवन, वस्त्र, पशु आदि देते हैं; किन्तु भगवान् ही ऐसे हैं जो अपने-आपको भी दे डालते हैं। अजामिलने अपने पुत्र नारायणको मरते समय पुकारा था। भगवान्‌का नाम नहीं लिया था उसने; किन्तु पुत्रके बहाने भगवन्नाम मुखसे निकला। इस नामाभाससे ही भगवान्‌के पार्षदोंने उसे यमदूतोंसे छुड़ाया।

पुराणोंमें एक कथा है कि कोई म्लेच्छ वनमें शौच जाने बैठा। उसी समय एक जंगली सुअरने उसे मारा। सुअरको देखकर वह म्लेच्छ चिल्लाया। इस प्रकार मरते समय मुखसे जो 'हराम'में 'राम' निकला तो इस नामाभाससे हो उसकी मुक्ति हो गयी। भगवत्पार्षद उसे साकेत ले गये।

शिवपुराणमें इसी प्रकारकी एक कथा है कि एक डाकू प्रायः अपने साथियोंको 'आहर' अर्थात् छीन लो, 'प्रहर' अर्थात् मारो, इस प्रकार कहा करता था। मरते समय भी वह 'आहर! प्रहर! कहता हुआ मरा। 'आहर-प्रहर'में जो 'हर' शब्द है, इस नामाभासके उच्चारणसे ही शंकरजीके दूत आये और उसे शिवलोक ले गये।

नामाभासेनापि तोषं दधाने
कारुण्याब्धौ विश्वनिस्तारनाम्नि।

करुणावरुणालय नामाभाससे भी सन्तुष्ट हो जाते हैं। उनका नाम इतना उदार है कि वह पापोंसे पापीका उद्धार कर देता है। उन दयामयकी उदारता असीम है। एक बार सत्यभामाजीने श्रीकृष्णजीसे पूछा—'आप मेरे हैं?'

श्रीकृष्णने कहा—'हाँ मैं तुम्हारा हूँ।'

सत्यभामाने कहा—'तब मैं तुम्हारा दान करूँगी।' सचमुच हाथमें जल-अक्षत लेकर संकल्प किया—'**ब्रह्मपुत्राय नारदाय त्वां पतिमहं सम्प्रददे।**' और नारदजीको भगवान् श्रीकृष्णका दान कर दिया।

देवर्षि नारद बोले—'श्यामसुन्दर! अब तुम मेरे हो गये। मैं वीणा बजाता जहाँ कहीं जाऊँ, मेरे पीछे-पीछे चले चलो। जो कहूँ, वह करो।'

भगवान् भला क्या कहते ? द्वारकामें हाहाकार मच गया। किसी प्रकार नारदजी इस बातपर माने कि श्रीकृष्णके बराबर तौलकर धन उन्हें दे दिया जाय तो वे उन्हें मुक्त कर देंगे। अब भगवान् श्रीकृष्ण तराजूके एक पलड़ेमें बैठे और दूसरे पलड़ेमें धन-रत्न डाला जाने लगा। भला संसारका वैभव भगवान्की तुलना कैसे कर सकता है ! श्रीकृष्णका पलड़ा भारी बना रहा। अन्तमें सब कुछ हटाकर दूसरी ओर एक तुलसीदलपर भगवन्नाम लिखकर रखा गया तो लीलामय उसके बराबर हो गये। नारदजीको तो धन चाहिए नहीं था। उन्हें तो अपने प्रभुकी उदारता जगत्में प्रसिद्ध करनी थी। कि भगवान्ने भक्तके हाथ तुलसीदल तथा एक चुल्लू जलपर अपनेको बेच दिया।

तुलसीदलमात्रेण जलस्य चुलुकेन च।
विक्रीणीते स्वमात्मानं भक्तेभ्यो भक्तवत्सलः॥

तुमको शूर प्रिय लगते हैं, शूरतामें तुम्हारा मन रमता है तो भगवान्के शौर्यका चिन्तन करो। रामायणमें यह कथा आती है कि लंकाके युद्धमें एक बार विभीषण रावणसे युद्ध करने सामने गये। रावणने विभीषणको देखा तो उसे बड़ा क्रोध आया। उसने सोचा– सब अनर्थोंको जड़ यह विभीषण ही है। हनुमान्के आनेपर इसीने उनको सीताका पता दिया था। श्रीरामको लंकाका भेद भी यही देता है। मेघनादने यज्ञ किया तो उसका समाचार भी इसीने दिया। इसे मार ही देना चाहिए।' यह सोचकर रावणने अमोघ-शक्ति विभीषणपर चलायी। यह निश्चित था कि यदि वह शक्ति विभीषणको लगती तो वे युद्ध करने योग्य नहीं रह जाते। लेकिन श्रीरामने उन्हें खींचकर अपने पीछे कर लिया और अपने वक्षःस्थलपर उस शक्तिका आघात सहन किया।

तुरत विभीषन पाछे मेला। सन्मुख राम सहेउ सो सेला।

उस अमोघ शक्तिकी मर्यादा रखनेके लिए भगवान् मूच्छित हो गये। उनके इस शौर्यमें अपना मन लगाओ। उनकी वीरताका चिन्तन करो। वे केवल युद्धवीर ही नहीं हैं, दान वीर, दयावीर आदि सभी वीरत्व उनमें पूर्णरूपसे हैं।

द्विश्शरं नाभिसन्धत्ते द्विः स्थापयति नाश्रितान् ।
द्विर्ददाति न चार्थिभ्यो रामो द्विर्नाभिभाषते ॥

युद्धमें एक लक्ष्यको विद्ध करनेके लिए श्रीरामको दूसरा वाण नहीं चढ़ाना पड़ता। अपने आश्रितोंको दो बार शरण उन्हें नहीं देनी पड़ती। वे एक बारमें ही शरणागतको सदाके लिए निश्चिन्त कर देते हैं। द्वारपर आया हुआ याचक उनसे एक बारमें ही इतना पा लेता है कि फिर उसे कभी भी दूसरा द्वार देखने या उनसे ही दुबारा माँगनेकी आवश्यकता नहीं रहती। भगवान् रामके मुखसे दो प्रकारकी बात या दो बार बातें कभी नहीं निकलती। ऐसे प्रभुको छोड़कर जगत्में किसी औरसे क्या आशा करना ?

जग जाचिय कोउ न जाचिय
तौ इक जाचिय जानकी जानहि रे।
जेहि जाचकता जरिजाय
जो जारति जोर जहानहि रे॥

यह जो 'कोउ कछु देउ कहौ भल कोउ'की याचनावृत्ति अपने बलसे बलात् सम्पूर्ण संसारको संतप्त कर रही है, वह श्रीरामसे याचना करने पर जल जाती है। उन श्रीजानकी-जीवनसे एक बार याचना करनेपर फिर याचनाकी इच्छा—आवश्यकता नहीं रह जाती। इसलिए संसारमें किसीके आगे हाथ मत फैलाओ। माँगना है तो उस सर्वसमर्थ परमोदार परमात्मासे ही माँगो।

इस प्रकार भगवान्‌में जो सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता, सत्य-संकल्पत्व आदि असंख्य कल्याणकारी गुणगण हैं, उनमें—उन गुणोंके चिन्तनमें अपने चित्तको लगाओ। तुम्हारे जितने कार्य हैं, वह सब वे प्रभु बना देंगे; क्योंकि उनका एक मुख्य गुण है 'आश्रितकार्यनिर्वाहकत्व।' तुम यदि उनके पास पहुँचना चाहते हो तो वे स्वयं अपने तक तुम्हारे पहुँचनेके लिए पुल बना देंगे।

एक बार अर्जुन तथा हनुमान्‌जीकी भेंट हुई। हनुमान्‌जीने भगवान् श्रीरामका गुणगान प्रारम्भ किया तो अर्जुन बोले—'और सब गुण तो ठीक; किन्तु समुद्रपर सेतु बनानेके लिए वानर-रीछोंको इतना कष्ट देकर पर्वत-वृक्ष रामजीने मँगवाये, नल-नीलको इतना श्रम हुआ, यह बात मुझे ठीक नहीं लगी।

हनुमान्—'तुम होते तो क्या करते?'

अर्जुन—'मैं वाणोंसे समुद्रपर सेतु बना देता।'

हनुमान्—'लेकिन तुम यह क्यों नहीं समझते कि तुम्हारा वाणोंका पुल मेरा भार भी नहीं सह सकता। श्रीरामकी सेनामें तो मेरे जैसे असंख्य वानर थे।'

अर्जुन—'मैं सामनेके सरोवरपर वाणोंसे अभी पुल बनाता हूँ। आप उसपर उछल-कूद लीजिये। पुल टूट जाय तो मैं धनुष हाथमें लेना छोड़ दूँ?

अर्जुनने सरोवरपर वाण वर्षा करके पुल बना दिया; किन्तु जब उसपर हनुमान्‌जीने चरण रखा तो पुल चरमरा उठा। अर्जुन डरे और मन-ही-मन श्रीकृष्णका स्मरण करने लगे। पुल झुका, किन्तु टूटा नहीं। हनुमान्‌जीको आश्चर्य हुआ। उन्होंने ध्यान करके देखा और कूदकर किनारे आकर खड़े हो गये। अर्जुनसे बोले—'धनञ्जय! तुम धन्य हो। तुम्हारे वाणोंमें मेरा भार

सहनेका सामर्थ्य नहीं था; उसके नीचे जब तुम्हारे मित्र ही पीठ लगा दें, तब भला कौन तुम्हारे पुलको तोड़ सकता है ?

अर्जुन कुछ कहें, इससे पहले ही भगवान् श्रीकृष्ण हँसते हुए आगये। उनकी पीठपर वाणोंके चिह्न थे। पीठ लगाकर पुलको टूटनेसे उन्होंने ही तो बचाया था।

ये कथाएँ, ये चरित केवल पढ़ने-सुननेके लिए नहीं हैं। इनका चिन्तन करो तो तुम्हारा चित्त भगवान्में लग जायगा। ऐसी एक कथा आती है कि महाभारत-युद्धमें भीष्म कौरवोंके सेनापति बनकर युद्ध कर रहे थे; किन्तु पाण्डव पराजित नहीं होते थे। एक दिन युद्ध बन्द होनेपर दुर्योधन भीष्म पितामहके शिविरमें गया और उन्हें प्रणाम करके बोला—'पितामह ! यदि आपको पाण्डवोंका पक्ष ही करना था तो मुझे पहले बता देते। मैं आपपर भरोसा करके तो नहीं बैठता।'

भीष्मजीको बड़ा दुःख हुआ इस बातसे। वे बोले—'राजन् ! यह बात ठीक है कि पाण्डुके धर्मात्मा पुत्र मुझे प्रिय हैं। तुम इस बातको जानते भी हो कि पाण्डवोंपर मेरा स्नेह है। लेकिन युद्धमें मैं पूरी ईमानदारीसे तुम्हारे विजयके लिए लड़ता हूँ।'

दुर्योधन—'आप मेरी विजयके लिए सचमुच युद्ध करें और फिर भी पाण्डव मारे न जायँ, यह बात मेरे चित्तमें बैठती नहीं। मैं तो तब आपकी ईमानदारी समझूँ, जब आप कलके युद्धमें पाण्डवोंको मारने की कोई प्रतिज्ञा करें।'

भीष्म पितामहने मनमें 'श्रीकृष्णाय नमः' कहा और तूणीरमें-से पाँच वाण निकालकर बोले—'यदि तुम्हारी ऐसी ही इच्छा है तो कलके युद्धमें ये वाण मेरे धनुषसे छूटते ही पाण्डवोंको मारेंगे।'

दुर्योधन यह प्रतिज्ञा सुनकर प्रसन्न होकर चला गया। भीष्म-पितामह दुःखी होकर भगवान्का ध्यान करने बैठ गये। पाण्डवोंके

जो जासूस लगे रहते थे, उन्होंने यह समाचार पहुँचाया तो पाण्डव पक्षमें शोक व्याप्त हो गया। भीष्मकी प्रतिज्ञा कभी मिथ्या नहीं हो सकती, यह सबको पूरा विश्वास था। पाँचों पाण्डवोंने सम्मुख युद्धमें प्राण देना है, यह निश्चय कर लिया। लेकिन द्रौपदी बहुत व्याकुल हो गयी कि उसे कल विधवा होना पड़ेगा।

इसी समय श्रीकृष्ण वहाँ आये। सब बातें सुनकर बोले—'कृष्णे! तुम मेरे साथ चलो!'

द्रौपदीने चिढ़कर कहा—'तुमको इस समय भी परिहास सूझता है! इस विपत्तिमें इस रात्रिमें कहाँ चलनेको कहते हो?'

श्रीकृष्ण—'तुम उठो और मैं जहाँ चलता हूँ, मेरे साथ चलो!'

पाण्डवोंका और द्रोपदीका श्रीकृष्णपर अविचल विश्वास था। द्रौपदी उठी और श्रीकृष्णके पीछे चल पड़ी। जब युद्धभूमि पार करके कौरवोंके शिविरके पास वे पहुँचे तो श्रीकृष्णने कहा—'तुम्हारे ये जूते तुम्हारे पिताके घरके हैं। पाञ्चालके जूते देखकर कौरव दलके लोग तुम्हें पहचान लेंगे। इनको उतार दो!'

द्रौपदीने जूते उतारे तो श्रीकृष्णने अपने पीताम्बरमें लपेटकर उन्हें अपनी बगलमें दबा लिया और दूरसे भीष्म पितामहका शिविर दिखलाकर वहाँ जानेको कहा। वहाँ क्या करना है, यह भी समझा दिया। उसी शिविरमें प्रतिदिन ब्राह्ममुहूर्तके प्रारम्भमें दुर्योधनकी पत्नी पितामहको प्रणाम करने आती थी। पितामह नेत्र बन्द करके ध्यान कर रहे थे। द्रौपदीने वहाँ जाकर आभूषणोंकी झंकार करके उनके चरणोंमें प्रणाम किया तो भीष्मने समझा कि दुर्योधनकी पत्नी प्रणाम कर रही है; अतः बोले—'पुत्री! सौभाग्यवती भव!'

अब द्रौपदीने कहा—'पितामह! आप सत्यप्रतिज्ञ हैं; किन्तु मैं आपकी किस बातको सत्य मानूँ? आपने मेरे पतियोंको मारनेकी

प्रतिज्ञा की है, यह सत्य है या मुझे सौभाग्यवती होनेका जो आशीर्वाद अभी दिया है, वह सत्य है ?'

भीष्मने चौंककर नेत्र खोले और बोले—'कृष्णे ! तुम यहाँ ?' फिर दो क्षण रुककर बोले—'पाञ्चाली ! सत्य तो श्रीकृष्णकी इच्छा ही है। वे जो चाहते हैं, उसे अन्यथा करनेमें कौन समर्थ है ? मेरी प्रतिज्ञा रहे या जाय, उनकी इच्छा पूर्ण हो ! तुम ये पाँचों वाण ले जाओ।'

भीष्मने वाण द्रौपदीको दे दिये। इसी समय श्रीकृष्णचन्द्र वहाँ आये और बोले—'गंगानन्दन ! तुमने मेरे लिए अपनी प्रतिज्ञा छोड़ी है तो कल दोनों दलोंके सम्मुख तुम्हारे लिए मैं भी अपनी प्रतिज्ञा भंग करूँगा ! पाण्डव जीवित रहेंगे और कृष्ण अपनी प्रतिज्ञा तोड़ेगा।'

पितामह हाथ जोड़कर बोले—'लीलामय ! आप व्रजमें वंशी धारण करते थे; किन्तु आज यह पीताम्बरमें कौन-सा चमत्कार आपने छिपा रखा है ?'

श्यामसुन्दर हँसे। द्रौपदीके जूते नीचे डालकर बोले—'मैं तो पाण्डवोंका, द्रौपदीका और आप-जैसे भक्तोंका सेवक हूँ। आप सबकी चरण-पादुका ढोनेका सौभाग्य मुझे कहाँ प्रतिदिन मिल पाता है ?'

इस प्रकार अनन्त करुणाधाम भक्तवत्सलके गुणोंका चिन्तन करो तो मन उनमें लग जायगा। **मय्येव मन आधत्स्वमें** भगवान्‌में मन लगानेमें भक्ति और योग दोनों आगया। **मयि बुद्धिसे** ज्ञानयोग तथा **निवेशयसे** स्थितप्रज्ञता सूचित कर दी। भक्तिपर्यन्त योग और स्थितप्रज्ञतापर्यन्त ज्ञान पहले श्लोकमें सूचित कर दिया था। उसका फल बताया था परमात्मामें निरन्तर अवस्थान।

भगवान्‌में मन लगानेकी चार प्रणाली हैं—१. बुद्धिसे स्वरूपका चिन्तन करो; बुद्धिको भगवत्स्वरूपमें लगाओ। २. मनकी प्रधानतासे

भावनाके द्वारा भगवान्के गुणोंका चिन्तन करो। ३. बुद्धि या मनके द्वारा चिन्तन न हो सके तो सम्पूर्ण समय भगवत्सेवामें ही लगाओ। ४. यदि सम्पूर्ण समय भगवत्सेवामें न लगा सको तो काम चाहे जो करो, उसका फल भगवान्को अर्पित कर दो अर्थात् निष्काम कर्म करो।

इसलिए इस श्लोकमें भगवान्ने यह बात समझायी कि यदि बुद्धि और मनको मुझमें प्रविष्ट कर देना तुम्हारे लिए सम्भव नहीं है तो तुम उसका अभ्यास करो। मेरे गुणोंके चिन्तनके द्वारा मनको मुझमें आविष्ट करनेका अभ्यास करो। मेरे स्वरूपके चिन्तनसे बुद्धिको मुझमें प्रविष्ट करनेका अभ्यास करो। जब कोई कार्य सहसा न हो सके, तब उसे धीरे-धीरे करनेका अभ्यास किया जाता है। अभ्यास करके अपनेको उस कार्यके योग्य बनाते हैं। भगवान्की सर्वज्ञता, सर्वेश्वरता आदिके चिन्तनसे बुद्धिमें जो भगवान्में निविष्ट होनेकी शक्ति नहीं है, वह आजायगी। भगवान्के सौन्दर्य, माधुर्य, सौशील्यादि गुणोंके चिन्तनसे मनमें जो उनमें आविष्ट होने की सामर्थ्य नहीं है, वह दूर होगी। तब इसका फल क्या होगा? वही—**निवसिष्यसि मय्येव** भगवान्में ही निवास हो जायगा।

मामिच्छाप्तुम् यह सब क्यों किया जाय? यदि तुम भगवान्को पाना चाहते हो तो यह करो। मुख्य प्रश्न यही है कि तुम भगवान्को पाना चाहते हो या नहीं? केवल कथा सुननेके लिए आते हो या कथा सुननेसे पुण्य होगा इसलिए आते हो? तो भी अच्छी बात है; किन्तु क्या तुम चाहते हो कि तुम्हारा मन संसारमें भटकना छोड़कर भगवान्में लगे? तुम्हारी बुद्धि भगवान्का ही चिन्तन करे? ऐसी इच्छा है तो इसका बार-बार अभ्यास करो।

●

: १० :

● *संगति*

अच्छा, जो भगवान्में मन आविष्ट न कर सके और बुद्धिको प्रविष्ट न कर सके, वह तो ऐसा करनेका अभ्यास करे; किन्तु जो यह अभ्यास भी न कर सके वह ? क्योंकि निरन्तर मन तथा बुद्धिके साथ संघर्ष करते रहना, ये जहाँ-जहाँ जायँ वहाँ-वहाँ हटाकर इन्हें भगवान्के ही स्वरूप या गुणोंके चिन्तनमें लगाते रहना भी तो कोई सरल काम नहीं है। उनके लिए भगवान् अगला श्लोक बतला रहे हैं।

यह श्लोक अनुकल्प है। अनुकल्प अर्थात् एक न उपलब्ध हो तो उसके स्थानपर दूसरा प्रयुक्त करना। जैसे सत्यनारायणजीकी कथामें गेहूँके आटेका चूर्ण बनता है। अब कहीं गेहूँ न हो तो ? तब वहाँ चावलके आटेका चूर्ण बनाना चाहिए, यह अनुकल्प कहा जायगा। इसमें यह प्रश्न उठा कि जब एक न होनेपर दूसरा

प्रयोग किया जायगा तो उस अनुकल्पका फल कैसा होगा? पहलेके समान होगा या पहलेसे कम? पहलेके समान ही होगा। जैसे भगवान्‌के लिए पञ्चामृत बनाना है। उसमें शक्कर डालनी चाहिए; किन्तु शक्कर न हो तो उसके स्थानपर गुड़ डाल दो। घरमें जो होगा, वही तो काममें आयेगा। इससे भगवान् उतने ही प्रसन्न होंगे, जितना शक्कर डालनेसे होते।

किसीकी श्रद्धा गंगा-स्नान करनेकी है। जो गंगाजीके समीप हैं या गंगाजीतक जा सकते हैं, उन्हें वहाँ जाकर स्नान करना चाहिए। कोई गंगासे बहुत दूरके प्रदेशमें रहता है। यात्रा करनेके लिए उसके पास धन नहीं है या शरीर यात्राके योग्य नहीं है तो वह क्या करे? उसे समीपके जलाशयमें 'गं गंगायै नमः' कहकर स्मरण करते हुए डुबकी लगानी चाहिए। इससे उसे वही पुण्य होगा जो गंगा-स्नानसे होता है। बाल्टीका पानी सामने रखकर—

गंगे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति।
नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु॥

इस प्रकार तीर्थोंका श्रद्धापूर्वक आवाहन करके स्नान करनेसे तीर्थ स्थान जैसा फल ही प्राप्त होता है। परमात्मामें ही अवस्थान हो जाय, इसके लिए जैसा साधन भगवान्‌में मन-बुद्धिको लगा देना है, वैसा ही मन-बुद्धिको लगानेका अभ्यास करना है और वैसा ही साधन यह आगे बताये जानेवाले भगवत्कर्म तथा निष्काम कर्म हैं।

एक बात यहाँ और ध्यानमें रखनेकी है कि इन सब श्लोकोंमें भगवान् अर्जुनको सम्बोधित कर रहे हैं। **निवसिष्यसि मय्येव मत्कर्मपरमो भव** आदि सब स्थानोंपर मध्यम पुरुषके क्रियापद हैं। इसका तात्पर्य है कि ये बातें विशेषरूपसे केवल अर्जुनके लिए भगवान् नहीं कह रहे हैं। यहाँ अर्जुन जीवमात्रका प्रतिनिधि

है। उसे निमित्त बनाकर भगवान् जीवमात्रके लिए आदेश कर रहे हैं।

यदि केवल अर्जुनके लिए भगवान्‌को उपदेश देना होता तो वे यह क्यों कहते कि 'मुझमें मन-बुद्धि न लगा सको तो अभ्यास-योगका आश्रय लो। यदि अभ्यास भी न कर सको तो 'मदर्थं कर्म' करो। यदि वह भी न कर सको तो सर्वकर्मफलका त्याग करो।' भगवान्‌को क्या पता नहीं है कि अर्जुनमें कितनी क्षमता है और वह क्या कर सकता है? अर्जुनके लिए ही उपदेश करना होता तो अर्जुन जो कर सकता है, उसी बातको उससे भगवान् कह देते कि 'तुम यह करो।'

बात यह है कि संसारमें साधन करनेकी इच्छा करनेवाले भी चार प्रकारके होते हैं—१. ऐसे साधक जो भगवान्‌में मन-बुद्धि लगा सकते हैं। २. ऐसे साधक जो अभी तो नहीं लगा सकते; किन्तु कुछ काल अभ्यास करें तो लगाने लगेंगे। ३. ऐसे साधक कि मन तथा बुद्धिपर उनका न अधिकार है, न हो जानेकी आशा है; लेकिन भगवान्‌की सेवा-पूजामें लगे रह सकते है। ४. वे लोग जो अपनेको एक प्रकारके कर्ममें भी लगाये नहीं रह सकते। अकेले अर्जुनमें ये चारों बातें होनी तो सम्भव नहीं हैं, अतः उसे निमित्त बनाकर जीवमात्रको यह उपदेश भगवान् कर रहे हैं।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥

'यदि तुम अभ्यास करनेमें भी असमर्थ हो तो मेरे लिए कर्म करनेमें लग जाओ। मेरे लिए कर्म करते हुए भी तुम सफलता प्राप्त कर लोगे।'

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि किसी छोटे अमरूदके पेड़पर फल लगा हो तो बच्चे उसे तोड़नेके लिए कूदते हैं। कोई बच्चा कूदकर फल तोड़ लेता है। कोई एक बारमें सफल नहीं होता तो बार-बार कूदता है और कई बारमें सफल होता है। जो कूदकर फलतक पहुँचनेमें असमर्थ होते हैं, वे कुर्सी या दूसरी ऊँची वस्तु अथवा सीढ़ी लाकर उसपर चढ़कर फल तोड़ते हैं।

ये व्यापारी, दलाल, बीमा कम्पनीके लोग तथा ऋण लेने आनेवाले बार-बार आते हैं। जबतक सफल न हो जायँ या पूरी तरह निराश न हो जायँ, आना बन्द नहीं करते। इसी प्रकार जबतक मन-बुद्धि भगवान्में न लग जायँ, तबतक बराबर प्रयत्न करते रहना है। लेकिन जो यह प्रयत्न करनेमें भी असमर्थ हैं, उनके लिए कहा गया—**मत्कर्मपरमो भव।**

मत्कर्मका क्या अर्थ है? यह जो विराट्रूप भगवान्में हैं, उनकी सेवा की जाय? जनता-जनार्दनकी सेवाकी बात भगवान् कह रहे हैं? विराट्रूप भगवान्की सेवा हो सके, जनताको सच-मुच जनार्दन माना जा सके तो उसकी सेवा भी **मत्कर्म** है, इसमें कोई सन्देह नहीं। लेकिन यह अपने-आप-ही देखो कि क्या जनताको जनार्दन मान लेनेपर यह राग-द्वेष, पार्टीबन्दी, चोरी-बेईमानी, अनाचार-भ्रष्टाचार चल सकेगा? जनता-जनार्दनका नाम लेकर अपने लिए पद, अधिकार तथा सुविधा-प्राप्तिका प्रयत्न करना एक बात है और जनताको सचमुच जनार्दन मान लेना दूसरी बात है। जब कहीं भी अपनापन, राग-द्वेष, दुर्भावना न हो, तब सबको भगवत्स्वरूप समझकर विश्वरूप भगवान्की सेवा हो सकती है।

तब सबके हृदयमें और सर्वत्र जो अन्तर्यामीरूपसे भगवान् विराजमान हैं, उनकी सेवाकी बात यहाँ कही जा रही है? यदि

उनकी सेवा कर सको तो बहुत उत्तम बात है। तब देखना होगा कि तुम्हारी किसी क्रियासे, किसी चेष्टासे, किसी बातसे किसीको दुःख तो नहीं पहुँचता ? ऐसा करनेकी क्षमता तुममें है ? अतः भगवान् यहाँ 'मत्कर्म'से अपने इष्टदेवके पूजन-अर्चनकी बात कर रहे हैं।

अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते।
न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः॥

भगवन्नामका जप करो। कीर्तन करो। भगवान्‌की पूजाके लिए अपने घरमें या सार्वजनिकरूपमें मन्दिर बनवाओ। लेकिन मन्दिर बनवाओ अपनी ईमानदारीकी कमाईके शुद्ध पैसेसे। भगवान्‌की सेवामें लगें, इसके लिए फूल या फलके बगीचे लगाओ। तिरुवेन्द्रम्‌के पद्मनाभम् मन्दिरमें पीतलके एक लाख दीपक लगाये गये हैं कि वे भगवान्‌के उत्सवके समय जलाये जायँगे। वहाँके नरेश स्वयं आकर मन्दिरमें झाड़ू लगाते थे, मन्दिरको स्वच्छ करना, भगवान्‌के लिए पुष्पचयन, हार गूँथना, नैवेद्य बनाना, पूजन करना, नाम स्मरण, कीर्तन, नमस्कार, प्रदक्षिणा, भगवद्दर्शनके लिए तीर्थयात्रा करना—ये सब 'मत्कर्म' हैं।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि इस प्रकार भगवान्‌को एक मूर्तिमें, एक सीमामें सीमित कर लेना क्या उचित है ? लेकिन बात यहाँ भगवान्‌को सीमित करने-न-करनेकी नहीं है; बात है उनमें मन-बुद्धि लगानेकी। आप भगवान्‌को सर्वव्यापक मान लो; किन्तु यह भी देखो कि क्या सब कहीं, सब कर्म करते हुए आपको उनका स्मरण होता है ? जब आप अपने घरका, बाजारका, आफिसका काम करते हों तो क्या आपको वह काम करते समय यह स्मरण रहता है कि आप यह काम भगवान्‌के लिए कर रहे हैं ? अथवा यह कि आप अपने लिए, परिवारके लिए

कर्म कर रहे हैं ? लेकिन मन्दिरमें पूजा करते समय, परिक्रमा करते समय भगवान्के लिए कर्म करते हैं, यह तो स्मरण रहता ही है।

मत्कर्मपरमो भव केवल पूजा करना, मन्दिरकी प्रदक्षिणा करना ही 'मत्कर्म' नहीं है। बाजार जाना और कपड़ा खरीदना भी भगवान्के लिए कर्म है, यदि आपको यह स्मरण है कि आप उनके लिए कपड़ा खरीद रहे हैं। **मत्कर्मपरमो भव**का तात्पर्य है कि मन भगवान्में लगा रहे।

चलना-बैठना, खाना-पीना, सोना-जागना सब भगवान्के लिए करो। अब देखो कि कर्म, चिन्तन तथा अनुसन्धानमें अन्तर क्या होता है ? कर्म शरीरके बाहर होता है और सहस्रों प्रकारका होता है; किन्तु उन सबका उद्देश्य एक होता है। आप कपड़ा खरीदते हैं अपने या अपने परिवारके लिए, अन्न खरीदते हैं अपने या अपने परिवारके लिए, घरमें झाड़ू लगाते हैं अपने सुखके लिए। जैसे ये सब कर्म अनेक होकर भी आपके दैहिक सुखके लिए होते हैं, वैसे ही सब कर्म भगवान्के लिए किये जायँ।

अभ्यासयोगमें कर्म नहीं है। उसमें चिन्तनरूप वृत्तियाँ सहस्रों हैं किन्तु उनका उद्देश्य एक है। **मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धि निवेशय**में अनुसन्धान है। इसमें वृत्ति तथा उद्देश्य दोनोंका एक होना परम अन्तरंगावस्था है। वृत्ति अनेक और उद्देश्य एक—यह अभ्यासयोगकी अन्तरंग अवस्था है और कर्म अनेक किन्तु उनका उद्देश्य एक भगवान्को बना लेना बहिरंग अवस्था है। परम बहिरंग अवस्थाका वर्णन अगले श्लोकमें भगवान् करेंगे।

एक माली बगीचा लगाता है और एक भक्त भी बगीचा लगाता है। दोनोंका बगीचा लगानेका कर्म तो एक ही है; लेकिन

माली सोचता है कि उसके बगीचेमें पुष्प-फल होंगे तो उनको बेचकर वह अपना तथा अपने परिवारका भरण-पोषण करेगा। भक्त सोचता है कि बगीचेमें फल-फूल होंगे तो उनके द्वारा भगवान्‌की पूजा होगी। यहाँ बाहरसे दोनोंके कर्म एक होनेपर भी उनके उद्देश्यमें अन्तर है।

एक डाकू किसीके पेटमें छुरा मारकर पेट फाड़ देता है और एक डाक्टर भी छुरीसे रोगीका पेट फाड़ता है। एक ठग किसीको क्लोरोफार्मसे मूर्च्छित करता है और एक डाक्टर भी मूर्च्छित करता है। डाकू तथा ठग तो लूटनेके लिए छूरा मारते अथवा मूर्च्छित करते हैं; किन्तु डाक्टर रोगीका रोग दूर करनेके लिए उसका पेट फाड़ता और मूर्च्छित करता है। दोनोंके कर्म देखनेमें समान हैं; किन्तु उद्देश्यमें अन्तर होनेसे डाकू या ठग शासनके द्वारा दण्ड पाते हैं और डाक्टरकी प्रशंसा होती है।

मत्कर्मपरमो भव यह प्रेरणा देता है कि अपने कर्मका उद्देश्य भगवान्‌की प्रसन्नता—भगवान्‌की सेवा बनाओ। कर्म करनेका तुम्हारा उद्देश्य क्या है?

कस्मै देवाय हविषा विधेम।

यह जो तुम धन कमा रहे हो, वह किसके लिए—पुत्रके लिए शरीरके लिए, अथवा भगवत्सेवाके लिए? **मदर्थमपि कर्माणि** भले तुम्हारी बुद्धि तथा मन भगवान्‌में न लगें, भले तुम एकान्तमें बैठकर भगवान्‌के स्वरूप एवं गुणोंका चिन्तन न कर सको; किन्तु **मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्** भगवान्‌के लिए कर्म यदि करते हो तो तुम्हें करते हुए ही **सिद्धिमवाप्स्यसि** भगवान्‌में तुम्हारी बुद्धि और मन लग जायेंगे। भगवान्‌के लिए कर्म करते हुए ही मनुष्य भक्त बन सकता है।

एक सेठ एक सोनेका मन्दिर बनवा रहे थे। उनका ऐसा विचार था कि जब सोनेका मन्दिर बन जायगा, तब उसमें भगवान् विराजेंगे। वहाँ समीप ही एक साधुकी झोपड़ी थी। साधुके पास धन था नहीं; उसने यह करना प्रारम्भ किया कि जैसे-जैसे सेठके मन्दिरमें सोनेकी ईंटें रखी जायँ वैसे-वैसे वह अपने मनमें भी सोनेकी ईंट जमानेका चिन्तन करे। दिनभर जबतक सेठके मन्दिरका काम हो, साधु भी चिन्तन करे। सेठके मन्दिरके ही ढंगका मन्दिर साथ ही साथ अपने मनमें वह स्वर्णका बनाने लगा। सेठका मन्दिर पूर्ण हुआ तो साधुके मनमें बनानेवाला मन्दिर भी पूर्ण हो गया। सेठने बड़ी सुन्दर मूर्ति मँगवायी और धर्मशास्त्रके बड़े-बड़े विद्वानोंको बुलाकर प्राणप्रतिष्ठा प्रारम्भ करवायी। साधुने भी अपने मनके मन्दिरमें भगवान्‌को पधराया। अब साधुके मनमें तो भगवान् प्रकट हो गये। वे हँसने-बोलने तथा पूजा स्वीकार करने लगे। यहाँ सेठके मन्दिरमें विद्वान् पण्डितोंने सब अभिषेक श्रीविग्रहके किये। सिरसे पैरतक और पैरसे सिरतक मातृकादि न्यास भी किये; किन्तु मूर्तिमें तेज नहीं आया। ब्राह्मणोंने सेठसे कहा—'सेठजी! हमारे कर्ममें तो त्रुटि है नहीं; किन्तु पता नहीं क्या बात है कि मूर्तिमें भगवदीय ज्योति प्रकट नहीं हो रही है।'

सेठजी बहुत दुःखी हुए। सबने परस्पर सलाह की और एक महात्माके पास गये। महात्माजीने ब्राह्मणोंकी बात सुनी और ध्यान करके देखा तो बोले—'भगवान् इस समय अन्यत्र व्यस्त हैं, इसलिए मूर्तिमें नहीं आ रहे हैं। तुम्हारे मन्दिरके पड़ोसमें जो साधु झोपड़ीमें रहता है, उसने अपने मनमें वैसा ही स्वर्ण-मन्दिर बना लिया है और वहाँ भगवान्‌की सेवा-पूजा कर रहा है। वे उसकी सेवा स्वीकार करनेमें लगे हैं। वह तुम्हारे

मन्दिरमें दर्शन करने आये तो भगवान् मूर्तिमें उसे दर्शन देने आ जायँगे।

सेठका स्वर्ण-मन्दिर बनानेका गर्व नष्ट हो गया। वे ब्राह्मणोंके साथ उस साधुकी झोपड़ीपर गये और उससे मन्दिरमें पधारनेकी प्रार्थना की। साधु आये और जैसे ही होरे-पन्ने आदिसे सजी उस मूर्तिपर उनकी दृष्टि पड़ी, मूर्तिमें भगवदीय तेज प्रकट हो गया। भगवान् भक्तके हृदयसे मूर्तिमें आते हैं। मूर्तिमें विशेष तेज या तो उपासनाको पूर्णतासे, विधि तथा सामग्री सम्पूर्ण होनेसे अथवा कर्ताकी प्रधानतासे आती है। सिद्ध महापुरुषोंसे सेवित मूर्तिमें विशेषता आजाती है।

श्रीमद्भागवतमें भक्तिकी प्राप्तिके साधन बतलाते हुए भगवान्ने उद्धवजोसे कहा—

भक्तियोगः पुरैवोक्तः प्रीयमाणाय तेऽनघ।
पुनश्च कथयिष्यामि मद्भक्तेः कारणं परम्॥
श्रद्धामृतकथायां मे शश्वन्मदनुकीर्तनम्।
परिनिष्ठा च पूजायां स्तुतिभिः स्तवनं मम॥
आदरः परिचर्यायां सर्वाङ्गैरभिवन्दनम्।
मद्भक्तपूजाभ्यधिका सर्वभूतेषु मन्मतिः॥

११.१९-२११

भक्ति प्राप्त हो तब भगवान्की पूजा करेंगे, ऐसा सोचनेसे तो भक्ति मिलेगी नहीं। भक्ति कैसे मिले, उसका साधन भगवान् बतला रहे हैं—मेरी कथामें श्रद्धा हो। सतत मेरे नाम-गुणका कीर्तन करे। मेरी मूर्तिकी पूजामें निष्ठा हो। स्तुतियोंके द्वारा मेरी प्रार्थना करे। मन्दिरकी स्वच्छता आदि सेवामें आदरबुद्धि हो। मुझे साष्टाङ्ग प्रणाम करे। सब प्राणियोंमें भगवद्बुद्धि रखे, किन्तु मेरे भक्तकी अधिक पूजा करे।'

भक्ति चाहते हो तो भक्तको पूजा अधिक करो। सब प्राणियोंमें भगवद्‌बुद्धि ही समता है; किन्तु इसमें एक विषमता रखो कि भक्तकी पूजा अधिक करनी है। भगवान् हैं सबके हृदयमें ही; किन्तु वहाँ काला कम्बल ओढ़कर सोये हुए हैं। वे भक्तके हृदयमें पीताम्बर पहनकर नृत्य करते हैं। भक्तकी पूजासे भगवान्‌को विशेष प्रसन्नता होती है—**तत्र सन्तोषविशेषः**। भक्ति ढूँढ़नी है तो भक्तके पास जाओ, वह वहाँ मिलेगी। भगवान्‌के लिए कर्म करके उनमें मन-बुद्धि लगानेमें सफलता मिलेगी।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

गीता, १८.४६

अपने कर्मसे तुम किसकी पूजा करते हो? बहुतसे लोग पुत्रके लिए धनोपार्जन करते हैं। स्वयं कष्ट सहेंगे, अपने लिए खर्च नहीं करेंगे; क्योंकि बेटेके लिए बचाना है। कुछ लोग शरीरसुखके लिए उपार्जन करते हैं। कुछ लोगोंके पुत्र भी नहीं और अपने लिए भी खर्च नहीं करते। उनका धन जिसके हाथ पड़ जाय, उसके लिए है; लेकिन यदि तुम भगवान्‌को चाहते हो तो जीवनमें ही अपनी सम्पत्ति, अपना कर्म, अपना शरीर भगवान्‌में लगा दो। अपना कर्तापन, अपना कर्म, अपना कर्मफल सबसे भगवान्‌की पूजा करो।

मय्यावेश्य मनःमें कर्म होता है या नहीं, इसपर दृष्टि नहीं है। 'अभ्यासयोग'में भी कर्मके होने न होनेपर दृष्टि नहीं है; लेकिन यदि अभ्यास भी न बनता हो तो भगवान्‌के लिए कर्म करते हुए भी **सिद्धिमवाप्स्यसि** अर्थात् इससे भी मन-बुद्धि दोनों भगवान्‌में लग जायँगे। स्थितप्रज्ञतापर्यन्त ज्ञान तथा योगपर्यन्त कर्मकी पूर्णता होकर भगवान्‌में ही तुम्हारी अवस्थिति हो जायगी। •

: ११ :

● *संगति*

सबके सब काम भगवान्‌के लिए ही किये जायँ; अपने तथा अपने परिवारके लिए कुछ किया ही न जाय, यह भी बहुत कठिन बात है। अच्छा, सब काम यदि भगवान्‌के लिए नहीं कर सकते तो उन्हें स्वार्थ छोड़कर तो करो। जब भगवान् श्रीराम वनमें गये तो वनके कोल-किरात उनके पास आकर बोले—

यह हमार अति बड़ सेवकाई। लेहिं न बासन बसन चुराई॥

'महाराज, हमारे पास आपकी सेवा करनेको तो कुछ है नहीं। न हमारे पास आपको ठहराने योग्य मकान है, न अर्पित करनेको कोई पदार्थ। हमारी तो यही सबसे बड़ी सेवा है कि हममें-से कोई आपके कमण्डलु अथवा वल्कलको चुरायेगा नहीं।' अतः भाई, यदि सेवा न हो तो स्वार्थके लिए दूसरोंका शोषण तो मत करो।

मन और बुद्धिको भगवान्‌में लगा सको तो बेड़ा पार ही है। भगवान्‌से पृथक् करनेवाली वस्तु यह मन-बुद्धि ही है। बुद्धि द्वारा भगवान्‌से पृथक् भासमान वस्तुओंमें मन संकल्प-विकल्प करता रहता है। अतएव भगवान्‌से भिन्न वस्तुओंसे वैराग्य हो और मनकी उनमें तन्मयता हो तो वे नित्य प्राप्त हैं।

मनुष्य वहाँ नहीं रहता, जहाँ उसका शरीर है। वह वहाँ रहता है, जहाँ उसका मन रहता है। मनुष्य हड्डी, मांस, चर्मका नहीं, अपितु मनका बना है। इसीलिए गीतामें भगवान्‌ने कहा—

यो यच्छ्रद्धः स एव सः।

जो जिसमें श्रद्धा करता है, वह उसीका रूप है। वेदान्तमें कहते हैं—

यच्चित्तस्तन्मयो मर्त्यः गुह्यमेतत् सनातनम् ।

यह सनातन रहस्य है कि मनुष्यका चित्त जिसमें है, वह उसमें तन्मय है। अतः यदि ईश्वरमें मन लगा है तो तुम ईश्वरमें हो और संसारमें लगा है तो तुम संसारमें हो। मन ही मनुष्यका जीवन है। भगवान्‌ने तो पक्का वचन दे दिया कि मेरे साथ रहना चाहते हो, मुझमें ही रहना चाहते हो तो मन-बुद्धि मुझमें लगा दो। यह सर्वोत्तम—प्रथम श्रेणीकी बात है।

द्वितीय श्रेणीकी बात यह है कि यदि भगवान्‌में चित्तको स्थिर नहीं कर सकते तो इसका अभ्यास करो अर्थात् जान-बूझकर कर्तृत्व पूर्वक अपनी चिन्तनशक्ति तथा प्रियताको भगवान्‌में जोड़ो।

भगवान्‌के स्वरूपका ज्ञान नहीं, अभ्यासकी भी शक्ति नहीं तो तृतीय श्रेणीकी बात यह है कि भगवान्‌के लिए ही कर्म करो। संसारको प्राप्त करने अथवा प्रसन्न करनेके लिए कर्म मत करो। भगवान्‌को ही प्राप्त करने तथा प्रसन्न करनेके लिए कर्म करो।

यदि पूर्णतः भगवान्‌के लिए कर्म भी नहीं कर सकते तो अब चौथी श्रेणीकी बात भगवान् कहते हैं। यह तो ऐसा ही है, जैसे कोई पण्डित किसी विधानमें बताये—

अभावे शालिचूर्णं वा शर्करा वा गुडस्तथा।

'पाँच रुपये दान कर देना। पाँच रुपये दान न कर सको तो पाँच गज कपड़ा दे देना। कपड़ा देनेकी भी शक्ति न हो तो पाँच सेर अन्न ही दे देना।' इस प्रकार अधिकारी क्रमशः मन्दसे मन्दतर होता जा रहा है। जो केवल भगवान्‌के लिए कर्म करनेमें भी असमर्थ है, उसके लिए आगे कहते हैं--

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥११॥

'यदि तुम इसमें (मेरे लिए कर्म करनेमें) असमर्थ हो तो मेरा आश्रय लेकर, मन-इन्द्रियोंको वशमें करके समस्त कर्मोंके फलका त्याग कर दो।'

इस श्लोकका अर्थ श्रीशंकराचार्यजी तथा उनके अनुयायियों एवं वैष्णवाचार्योंने भिन्न-भिन्न ढंगसे किया है। श्रीशंकराचार्य तथा उनके अनुगत टीकाकार कहते हैं—**अथ एतदपि कर्तुमशक्तोऽसि** क्या तुम यह करनेमें भी असमर्थ हो कि अपने प्रियतम प्रभुके लिए ही कर्म करो ? अपने शारीरिक कर्म भी क्या तुम भगवान्‌को समर्पित करनेमें असमर्थ हो ? यदि ऐसा है तो मनमें मेरा आश्रय ले लो, मेरे शरणागत हो जाओ। फिर शरीर तथा मन-इन्द्रियोंको वशमें करके सब कर्मोंके फलका त्याग कर दो। इसमें **कुर्तुमशक्तः** को पहले ले लिया। यदि तुम केवल मेरे लिए कर्म नहीं कर सकते तो मेरी शरण लेकर मन-इन्द्रियोंको वशमें करके सर्वकर्मफलका त्याग करो।

भक्तिपक्षके टीकाकार इस श्लोकका अर्थ दूसरे ढंगसे करते हैं—**अथ मद्योगमाश्रितः सन् एतदपि कर्तुमशक्तोऽसि ततः यतात्मवान् सन् सर्वकर्मफलत्यागं कुरु।** यदि मेरी शरण लेकर, मेरे परायण होकर तुम मेरे लिए ही कर्म करनेमें असमर्थ हो तो मन-इन्द्रियोंको वशमें करके सर्वकर्मफलका त्याग करो।

मद्योगमाश्रितः को पहले श्लोकके साथ जोड़ा जाय या इसी श्लोकमें रहने दिया जाय, इसी बातको लेकर दो पक्षोंके टीका-कारोंमें मतभेद है। देखनेमें बात बहुत छोटी है, किन्तु इसका फलितार्थ बहुत बड़ा है।

श्रीशंकराचार्यजी तथा उनके अनुयायी टीकाकारोंका मत है कि सर्वकर्मफलत्यागमें भी भक्ति अपेक्षित है। लेकिन वैष्णव टीका-कार कहते हैं कि भक्तिका अनुवृत्ति **मत्कर्मपरमो भव** तकमें

पूरी हो गयी। यदि तुम भक्तिपूर्वक भगवान्के लिए ही सब काम करनेमें असमर्थ हो तो सर्वकर्मफलत्याग करो। बिना भक्तिके ही कामनाका त्याग करके कर्तव्य कर्म करते जाओ।' इस प्रकार जब वैष्णव टीकाकार कहें कि 'सर्वकर्मफलत्याग'का आशय भक्ति-युक्त नहीं है, केवल निष्काम कर्म ही तात्पर्य है, तब गम्भीर आशय होना चाहिए।

वैष्णव टीकाकारोंका मत है—भगवान्में मन-बुद्धि लगाओ। यदि मन-बुद्धि भगवान्में न लगती हो तो लगानेका अभ्यास करो। अभ्यास भी न हो सके तो उनके लिए ही कर्म करो। यहाँ तक तो जो 'तत्' पदार्थ सर्वान्तर्यामी, सर्वप्रेरक, सर्वशक्तिमान ईश्वर है, उसकी भक्तिकी बात कही गयी है। अब जो भक्ति करनेमें असमर्थ हैं, ईश्वरपर जिनका विश्वास नहीं है, जिनका मन ईश्वरमें नहीं लगता, उसकी बात है; क्योंकि मनका स्वभाव है कि वह सब कहीं भौतिकताको अपना लेता है। मेरे एक मित्र हैं, जिन्होंने सम्पूर्ण वेदान्तका सार यह समझा है कि पुनर्जन्म तथा नरक-स्वर्ग मिथ्या हैं। जीवनमें मौजसे रहना चाहिए। इस प्रकार उन्होंने चार्वाक मत और वेदान्तको एक समझ लिया है। वेदान्तका सार उन्होंने जीवनको भौतिक बना देना निकाला है। न मन आत्मामें लगा, न परमात्मामें। सच्ची बात यह है कि संसारकी छोटी-छोटी बातोंसे जबतक मनको हटाया नहीं जाता, तबतक वह परमात्मामें लगता नहीं।

एक बार मैं एक महात्माके पास गया तो उन्होंने कहा—'जबतक तुम हथेलीमें धूलि लिये हो तबतक उसमें दूध कैसे ले सकते हो? यदि उसमें दूध लोगे भी तो वह मिट्टीमें मिलकर गन्दा हो जायगा। मनमें जबतक विषय-वासना भरी है, तबतक उसमें उत्तम ज्ञान भी डालोगे तो उसे भी मन संसारी बना लेगा।'

हम लोग यह कहते तो हैं कि भक्तिका मार्ग सुगम है और गोस्वामी तुलसीदासजीने भी रामचरितमानसमें यही प्रतिपादित किया है—

करहु भगति पथ कवन प्रयासा।
जोग न जप तप मख उपवासा॥
सरल सुभाउ न मन कुटिलाई।
जथा लाभ संतोष सदाई॥

लेकिन विनयपत्रिकामें वे स्वयं स्वीकार करते हैं—

रघुपति भगति करत कठिनाई।

मनका स्वभाव ही ऐसा है कि वह भगवान्‌में लगना नहीं चाहता। वह उनसे भी कहता है—'आओ! तुम मेरे संसारकी सेवा करो। मेरा बेटा बीमार है, उसके लिए दवा बन जाओ। मेरा शत्रु सिरपर है, तुम पहरेदार बने रहो।' इस प्रकार संसार हमारा साध्य और भगवान् साधन बन जाते हैं। अपना कोई बहुत प्रिय अधिक बीमार हो तो लोग कहते हैं—'भगवान्! मेरी आयु इसको दे दो। मैं मर जाऊँ; पर यह जीवित रहे।' अर्थात् आयुकी अदला-बदलीका काम भगवान् करें। इस प्रकार जैसे लोग अपने मुनीमसे, वकीलसे, डाक्टरसे, पुरोहितसे काम लेते हैं, वैसे ही भगवान्‌से भी काम लेना चाहते हैं।

वैष्णव टीकाकार कहते हैं—भक्ति करना बहुत कठिन है। यदि तुम भगवान्‌में ही मन-बुद्धि नहीं लगा सकते, भगवच्चिन्तन तथा भगवद्‌गुण-चिन्तनमें भी नहीं लगा सकते और सब काम उनके लिए नहीं कर सकते तो आत्मज्ञानके मार्गपर चले जाओ। भक्तिमें असमर्थके लिए आत्मज्ञानका मार्ग है। आत्मज्ञान सरल है और परमात्मज्ञान कठिन है। आत्मा तो यहीं प्रत्यगात्म-रूपमें है। अतः आत्मानुसन्धान करो। इसके लिए दो ही बातें करनी

हैं—१. देहेन्द्रिय तथा मनको असत्पथमें मत जाने दो—'यतात्मवान्' और २. सर्वकर्मफलत्याग।

श्रीशंकरानन्दजीने अपनी टीकामें **यतात्मवान्**का अर्थ **यतश्च आत्मवान्** किया है। **यत्**का अर्थ किया है बहिरंग-साधना-सम्पन्न। अर्थात्—विवेक, वैराग्य, शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान एवं मुमुक्षा सम्पन्न। **आत्मवान्**का अर्थ किया है—श्रवण, मनन, निदिध्यासन-रूप अन्तरंग साधन सम्पन्न होकर आत्मनिष्ठ हुआ। ऐसे होकर **सर्वकर्मफलत्यागं कुरु** कर्म करो, किन्तु फलका त्याग करके। कामनाको कर्मके साथ संयुक्त मत करो। चित्तको निष्काम रहने दो। यह साधन भी सरल तो नहीं हुआ।

वैष्णव टीकाकारोंका मत है कि जिसको परमात्माका ध्यान तथा ज्ञान नहीं होता, जो सेवा तथा उपासनामें असमर्थ है, उसके लिए 'यह काम करो, यह मत करो'—ऐसा बन्धन न बनाकर कामनारहित होकर कर्म करनेकी बात यहाँ कही गयी है। क्योंकि कामना ही बन्धन है—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवति अत्र ब्रह्म समश्नुते॥

हृदयमें पड़ी हुई कामनाकी गाठें जब छूट जाती हैं, तब मनुष्य अमृतत्वको प्राप्त कर लेता है। यहीं इसी जीवनमें वह ब्रह्मसुख पा लेता है। हृदयमें कामनाकी ग्रन्थि पड़ गयी है। 'मैं—मेरा, अपना-पराया'की ग्रन्थि पड़ी है। आत्मा और विषयकी ग्रन्थि पड़ी है। इसीको कामग्रन्थि, अविद्याग्रन्थि, चिज्जडग्रन्थि कहते हैं। अब देखो कि कामना क्या होती है? कैसे होती है? अपनेमें अभावका अनुभव होनेसे कामना होती है। कुछ लोग कहते हैं कि बाह्य विषयमें सौन्दर्य-माधुर्यकी कल्पनासे कामना होती है। जैसे आम

देखकर उसे खानेकी कामना क्यों हुई ? चाहे यह कहो कि अपने भीतर वैसी मिठास नहीं है, इसलिए आपके द्वारा उसे प्राप्त करनेके लिए कामना हुई और चाहे यह कहो कि यह वस्तुगुण है। आममें ऐसा माधुर्य है कि जीभमें, चित्तमें पर्याप्त मधुरता होनेपर भी आम खानेकी कामना हुई। इसमें भी यह तो माना ही गया कि आममें जो विशेष माधुर्य है, वह अपने भीतर नहीं है, इसलिए आम खानेकी कामना हुई। अपने भीतर न्यूनताको प्रतीति हो कामका कारण है। अपनेमें जो सच्चिदानन्द अखण्ड विराजमान है, वह तिरोहित हो गया और वस्तुमें गुणका आरोप हो गया।

सृष्टिमें रामसे दूसरे नम्बरपर काम ही है। श्रीकृष्णके पुत्र प्रद्युम्न कामके अवतार हैं। श्रुति कहती है—**कामस्तदग्रे समवर्तत।** सृष्टिके प्रारम्भमें काम था। कामको प्रेरणासे मन उत्पन्न हुआ और मनकी प्रेरणासे इन्द्रियाँ भटकती हैं। इस कामको जीतना बहुत कठिन है। लोगोंको अपनी निष्कामताका भ्रम ही होता है। मोक्षकी इच्छा, ईश्वर-प्राप्तिकी इच्छा निष्काम होनेकी इच्छा; अन्ततः हैं तो यह सब इच्छा—कामना ही। विवाहके अवसरपर मन्त्र पढ़ा जाता है—

कोऽदात् ? कस्मै अदात् ? कामोऽदात् कामायादात्।
कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता। कामैतत्ते॥

कौन देनेवाला और कौन लेनेवाला है ? काम ही दान देनेवाला और काम ही दान लेनेवाला है। यह कामने कामको ही कामनाके विस्तारके लिए दिया है। इस कामके भीतर छिपे रामको—द्रष्टाको निकालो। उसका साक्षात्कार करो तो कामसे छुटकारा होगा।

वैष्णव टीकाकार कहते हैं—जब सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सर्वकारण परमात्मामें मन न लगे, उसमें श्रद्धा-विश्वास न हो, उसकी शरण

न ली जा सके तब सर्वकर्मफलत्याग करो। तब केवल 'त्वं' पदार्थका आश्रय लेकर मन, इन्द्रियोंको वशमें करके सांख्योक्त विवेकमार्गमें बढ़ो।

श्रीशंकराचार्यजीके पक्षके टीकाकारोंका मत है कि भगवान् चाहते हैं कि उनमें जीवका मन तथा बुद्धि लगे। इसका फल यह होगा कि उसका निवास भगवान्में हो जायगा। भगवान्में निवासके लिए उनमें मन बुद्धिका लगना आवश्यक है और मन-बुद्धिको लगानेके प्रयत्नका नाम ही अभ्यास है। अभ्यासयोग तथा भगवान्के लिए ही कर्म करनेकी बात भगवान्में मन-बुद्धि लगानेके लिए ही कही गयी है। यह सब अनुकल्प हैं और सभी अनुकल्पोंका फल एक ही होता है। जैसे जलसे स्नान न कर सको तो भस्मसे कर लो। भस्मसे भी न कर सको तो मन्त्र-स्नान कर लो। इसमें जलसे स्नान करनेपर जो पवित्रता प्राप्त होगी, वही भस्म तथा मन्त्र-स्नानसे भी प्राप्त होगी—यह कहा जा रहा है। अभ्याससे जैसे भगवान्में मन-बुद्धि लगते हैं, वैसे ही भगवान्के लिए कर्म करनेसे भी लगते हैं।

अब यदि भगवान्के लिए ही कर्म नहीं कर सकते तो कर्म कोई करो; किन्तु भगवान्का स्मरण करो, मन-इन्द्रियोंको वशमें रखो और कर्म निष्काम भावसे करो। इसका फल भी यह होगा कि मन-बुद्धि भगवान्में लग जायगी और इससे भगवान्में निवास प्राप्त हो जायगा। इस श्लोकमें निष्काम कर्म भगवान्में मन-बुद्धि लगानेके लिए, भक्तिकी प्राप्तिके साधन रूपमें कहे गये हैं। **मय्यावेश्य मनो०**में भगवान्ने मन-बुद्धि अपनेमें लगानेसे जो अपनी प्राप्ति बतलायी, उसीके अनुकल्प रूपमें यह निष्काम कर्मका साधन बतलाया। यह भक्तियोगका ही अंग है। यह अक्षर ब्रह्म या सांख्ययोगका अंग नहीं है।

इस प्रकार इस श्लोककी व्याख्यामें जिनसे ज्ञानपरक व्याख्याकी आशा करनी चाहिए, वे भक्तिपरक अर्थ करते हैं और जिनसे भक्तिपरक अर्थकी आशा की जानी चाहिए, वे ज्ञानपरक अर्थ करते हैं। अतः बात गम्भीर विचारके योग्य है।

सर्वकर्मफलत्याग किसके लिए? एक कर्म हेयबुद्धिसे किया जाता है, उसका त्याग होता है। दूसरा कर्म उपादेयबुद्धिसे किया जाता है, उसका त्याग होता है। यहाँ उपादेयबुद्धिसे किये गये कर्मोंके फलत्यागकी ही बात है। क्योंकि भगवत्प्राप्तिके साधनके रूपमें 'सर्वकर्मफलत्याग'की बात कही गयी है। घरमें-से कूड़ा भी बाहर फेंका जाता है और नोट भी दान किया जाता है। पितरोंको पिण्ड देते हैं तो उसे भी कुशपर, वेदीपर देकर जलमें डाला जाता है; किन्तु श्राद्ध श्रद्धासे होता है। कर्मफल श्रद्धापूर्वक सत्कर्म करनेसे बनता है। कर्मसे कर्मफल सूक्ष्म है। किसीने यज्ञ किया। यज्ञका फल है स्वर्गकी प्राप्ति। उसने कहा—'मुझे फल नहीं चाहिए। मैंने कर्तव्य समझकर निष्कामभावसे यज्ञ किया।' इस प्रकार शुभ कर्म करो; किन्तु उसके फलस्वरूप जो इस लोकमें धन, पुत्र, यश आदिकी प्राप्ति और परलोकमें स्वर्ग ब्रह्मलोकादिकी प्राप्ति है, उसे पानेकी इच्छा मत करो। इस प्रकार फलकी इच्छा छोड़कर भगवान्‌को प्रसन्न करनेके लिए कर्म करो। इससे भगवान् प्रसन्न होंगे, तुम्हें भगवत्प्राप्ति होगी।

एक व्यक्ति दुर्गापाठ करने बैठा तो उसने संकल्प किया—**स्वविजयपूर्वक शत्रुपराजयार्थं दुर्गापाठमहं करिष्ये**। दूसरे व्यक्तिने भी दुर्गापाठ किया; किन्तु उसने कहा—**अनेन भगवान् वासुदेवः प्रियताम्**। कर्म तो दोनोंने एक ही प्रकारका किया; किन्तु फल दोनोंका पृथक् हो गया।

बहुत-से लोग इसलिए दान करते हैं कि दाताओंकी सूचीमें

उनका भी नाम आजाय। लेकिन जिसे भगवान्‌को प्राप्त करनेकी इच्छा है, वह शुभ कर्मका अपने लिए कोई फल नहीं चाहता। इस प्रकार शुभ कर्मका फल त्यागनेसे भगवान् प्रसन्न होते हैं। भगवान् कहाँ बैठकर प्रसन्न होते हैं? उन सर्वव्यापकका आसन हमारा हृदय ही है। हृदयका उत्फुल्ल हो जाना ही भगवान्‌का प्रसन्न होना है।

दान, सन्ध्या, हवन, ब्राह्मण-भोजन, तीर्थ-व्रत आदि शुभ कर्म करो; किन्तु उसके फलकी कामना मत करो। इस प्रकार फल-त्यागसे भगवान् प्रसन्न होते हैं। यदि कर्मका फल चाहोगे तो काम उसका फल ले लेगा। अब कोई अशुभ कर्म—पापकर्म करे तो पापका फल तो दुःख होता है। कोई पाप करके उसका फल दुःख भगवान्‌को अर्पित करे तो वह भक्त कैसा? इसलिए 'सर्वकर्मफल-त्याग'में भक्तिकी आवश्यकता है। **मद्योगमाश्रितः** कर्मफलत्याग करनेवाला भगवान्‌के आश्रित, उनका प्रेमी होना चाहिए।

जो व्यक्ति कर्म करेगा, उससे तो शुभ-अशुभ दोनों प्रकारके कर्म होंगे। युधिष्ठिर जैसे सत्यवादी भी एक-दो बार सत्यसे स्खलित हुए तो साधारण व्यक्तिकी क्या गणना? यदि कोई कहता है—'मैंने कभी झूठ नहीं बोला, मुझसे कोई अशुभ कर्म नहीं हुआ' तो वह भ्रममें है। उसे अपने कर्म भूल गये हैं। भूल हो ही नहीं, ऐसा जीवन नहीं हुआ करता। महाकवि बिहारीने कहा—

इक भींजे चहले परे, बूड़े, बहे हजार।
किते न औगुन जग किये, नौवै चढ़ती बार॥

नौकामें चढ़ते समय कितने लोग भींग गये, कितने कीचड़में गिरे और हजारों डूबे या बह गये। इसी प्रकार नवीन अवस्था चढ़ते समय युवावस्थामें मनुष्यसे कितने अवगुण नहीं हो जाते?

शुभ कर्मोंका फल तो भगवान्‌को समर्पित कर देना चाहिए;

किन्तु ये अशुभ कर्म जो जीवनमें बन ही जाते हैं, इनका क्या किया जाय ? इनको निवेदित करो। अच्छे कर्मोंका फल भगवान्‌को समर्पित करो और बुरे कर्मोंका निवेदन करो। बुरे कर्म उनसे कह दो। उनके सम्मुख अपने अपराध स्वीकार करो—'स्वामी! ये अशुभ कर्म मुझसे हुए हैं। आप समर्थ हैं। इच्छा हो तो इन्हें क्षमा करें! इच्छा हो तो इनका मुझे दण्ड दें!'

भक्तोंने तो ऐसी प्रार्थनाएँ की हैं—

अपराधसहस्रभाजनं पतितं भीमभवार्णवोदरे।
अगतिं शरणागतं हरे कृपया केवलमात्मसात्कुरु॥

'भगवन्! मुझसे सहस्रों अपराध बने हैं और मैं इस भयानक भवसागरमें पड़ा हुआ हूँ। मुझे अन्यथा ठौर नहीं है। आपके शरणागत हूँ, कृपा कीजिये, अपना लीजिये।

न निन्दितं कर्म तदस्ति लोके,
सहस्रशो यन्न मया व्यधायि।

'नाथ! संसारमें ऐसा कोई निन्दित कर्म नहीं है, जिसे मैंने सहस्रों बार न किया हो। मेरे कर्मोंके अनुसार तो मेरी जो भी अधोगति हो, वह थोड़ी ही मानी जायगी; किन्तु स्वामी! मैं आपकी शरण हूँ और आपके सामने ही आपके शरणागतको उसके अशुभ कर्म पराजित करके अधोगति दें, यह आपके अनुरूप नहीं है।'

शुभ कर्म भगवान्‌को अर्पण कर दिये जायँ तो उनका त्याग हो जाता है और अशुभ कर्म भगवान्‌को निवेदित कर दिये जायँ तो उनका भी त्याग हो जाता है। इस प्रकार 'सर्वकर्मफलत्याग' भगवान्‌का आश्रय लेकर **मद्योगमाश्रितः** ही होता है।

यह कब होगा ? **यतात्मवान्** होनेपर, जब तुम अपने मन तथा इन्द्रियोंको वशमें कर लोगे, तब। ●

: १२ :

• *संगति*

सर्वकर्मफलत्याग चतुर्थ कोटिका साधन है। यह चतुर्थ श्रेणीके अधिकारीके योग्य है। इसमें विद्वानोंकी प्रवृत्ति कैसे होगी ? सभी अपनेको उत्तम अधिकारी मानते हैं। वेदान्तमें लोग इसलिए लगना चाहते हैं; क्योंकि उसे उत्तम अधिकारीका साधन कहा जाता है। अतः चतुर्थ कोटिके साधनमें कोई क्यों लगे ?

प्राशस्त्यमविज्ञाय बुद्धिमान्न प्रवर्तते।

प्रशस्तता-उत्तमता जाने बिना बुद्धिमान् प्रवृत्त नहीं होते हैं। इसलिए 'सर्वकर्मफलत्याग' रूप साधनकी श्रेष्ठता भगवान् अगले श्लोकमें बतला रहे हैं—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्धयानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥ १२ ॥

'अभ्याससे ज्ञान श्रेष्ठ है। ज्ञानसे ध्यान विशिष्ट है। ध्यानसे कर्मफलका त्याग उत्तम है, क्योंकि कर्मफलका त्याग करनेके पश्चात् शान्ति प्राप्त हो जाती है।'

'अभ्यास' का अर्थ है दुहराना। मन्दिरमें प्रतिदिन झाड़ू देना, पुष्प लाना, नाम-जप करना, भगवान्के गुणोंका चिन्तन करना, उनकी लीला, स्वभावादिका चिन्तन करना—यह सब भगवान्में बुद्धि तथा मनको लगानेके लिए अभ्यास हैं। इसकी अपेक्षा सगुण ब्रह्म परमेश्वरको जानना श्रेष्ठ है। केवल जान लेनेकी अपेक्षा उस सगुण परमात्माका ध्यान करना उत्तम है।

अब प्रायः यहाँ पूछा जाता है कि ज्ञानसे ध्यान कैसे श्रेष्ठ है ? एक व्यक्ति बिना जाने ही 'राम-राम'का जप करता है। इस अभ्यासमें लगा रहेगा तो कभी न कभी मनमें आयेगा कि यह 'राम' किसका नाम है ? पता लगेगा कि श्रीदशरथनन्दनका। तब वह जानना चाहेगा—दशरथनन्दन कौन ? और उसे यह भी पता लगेगा कि वे श्रीनारायणके अवतार हैं। नारायणके सम्बन्धमें जिज्ञासा होनेपर ब्रह्माके पिता जगद्बीजविशिष्ट ब्रह्मका ज्ञान उसे हो जायगा और कहीं किसी प्रकार जगत् बाधित हो गया तो शुद्ध ब्रह्ममें अवस्थिति हो जायगी। इस प्रकार अभ्याससे ज्ञान श्रेष्ठ है, यह बात सरलतासे समझमें आजाती है। लेकिन ज्ञानसे ध्यानकी श्रेष्ठता कैसी ?

लोग ज्ञानका फल ध्यान सुनते हैं तो समझनेका प्रयत्न नहीं करते, लड़ने लगते हैं। यह बात ध्यानमें रखो कि निर्गुण ब्रह्मके प्रतिपादनके प्रसंगमें ज्ञान ध्यानसे बड़ा है। लेकिन सगुण ब्रह्मके प्रतिपादनके प्रसंगमें ज्ञानसे ध्यान बड़ा है। सब प्रकारका ज्ञान समान नहीं हुआ करता। तुम्हें पुस्तक पढ़कर अथवा किसी यात्रीसे सुनकर कश्मीरके सम्बन्धमें जानकारी हो जाय कि वहाँ अमरनाथ हिमलिंग है, भगवान् शंकराचार्य द्वारा स्थापित शिवलिंग है, केसरकी खेती होती है, बड़ा मनोरम दृश्य है तो इस जानकारीसे कश्मीर जानेकी इच्छा होगी। कश्मीर वहाँ तो है नहीं, जहाँ उसकी जानकारी हुई है। अतः वहाँ पहुँचनेके लिए रुपया जुटाना होगा, टिकट लेकर यात्रा करनी होगी। कश्मीरका ज्ञान वहाँ जानेके प्रयत्न बिना सफल नहीं होगा। इसी प्रकार किसीने यज्ञविधि पढ़ ली। वेदी कैसे बनाना, क्या-क्या मन्त्र पढ़ना, क्या सामग्री किस प्रकार काममें लेना, किस देवताको किस वस्तुकी आहुति देना, यह सब उसने जान लिया। लेकिन यह जान लेनेसे

ही तो यज्ञ नहीं हो गया। उसके लिए तो प्रयत्न करना होगा। यहाँ यज्ञ अंगी है और ज्ञान उसका अंग। संसारकी सब वस्तुओंका ज्ञान कर्म या उपासनाका अंग होता है। सविशेषको जानकर करना पड़ता है। सांसारिक ज्ञानसे इच्छा होती है प्राप्ति या निवृत्तिकी और तब उस इच्छाके अनुसार प्रयत्न होता है। बाजारमें सेव देख लेनेसे ही वह मिलेगा नहीं, उसे मूल्य देकर प्राप्त करनेका प्रयत्न करना पड़ेगा।

भगवान् संसारकी वस्तुओंके समान हमसे दूर नहीं हैं। वे हमारे हृदयमें हैं। वे जीवनके एक-एक कण तथा एक-एक क्षणके भीतर स्थित होकर उसका सञ्चालन कर रहे हैं।

अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्।

यदि संसारमें किसी दूरकी वस्तुका ज्ञान होता तो उसे पाने तथा वहाँ जानेके लिए प्रयत्न करना पड़ता। सवारी, टिकट आदिकी व्यवस्था करनी होती। भगवान् हमारे हृदयमें ही हैं, अतः उनका ज्ञान होनेपर उनकी प्राप्तिके लिए ध्यान होगा। संसारकी वस्तुओंके ज्ञानका फल है कर्म और हृदयस्थ ईश्वरके ज्ञानका फल है ध्यान। लेकिन आत्माका, जो ज्ञान है—अपनेको ब्रह्मरूपमें जानना है, वहाँ न कर्म करना रहता, न ध्यान करना। क्योंकि यहाँ अपना आत्मा ही ज्ञानस्वरूप है। वह अपनेसे पृथक् नहीं है कि उसकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न अथवा उसका ध्यान किया जाय। अतएव निर्विशेष आत्माका ज्ञान कर्म या उपासनाका अंग नहीं है। ज्ञान-ज्ञान सब समान नहीं होता। 'सोलहों धान बाइस पंसेरी' नहीं करना चाहिए। सांसारिक पदार्थोंका ज्ञान वासना तथा कर्मका हेतु होता है। सगुण ईश्वरका ज्ञान उपासनाका हेतु होता है; लेकिन आत्मा एवं ब्रह्मकी एकताका ज्ञान सम्पूर्ण कर्म, उपासना एवं ध्यानसे मुक्ति देनेवाला होता है। यहाँ सगुण

उपासनाका प्रसङ्ग है; अतः यह बात सर्वथा ठीक कही गयी है कि ज्ञानात् ध्यानं विशिष्यते। कोई ईश्वरके विषयमें जाने तो बहुत, किन्तु ध्यान न करे तो उसकी जानकारीसे क्या लाभ है ? यह बात लोकमें भी देखी जा सकती है। किसीके साथ बहुत दिनसे—दस-बीस वर्षोंसे रहते हैं; किन्तु उसकी ओर ध्यान नहीं देते तो यह भी पता नहीं रहता कि उसे पानीकी कब-कब आवश्यकता होती है। ऐसा व्यक्ति सेवा नहीं कर सकता; क्योंकि साथ रहनेपर भी वह ध्यान नहीं देता। वस्तुतः प्रीतिपूर्वक ज्ञानका नाम ही भक्ति है। एक ज्ञान होता है स्वरूपका और दूसरा ज्ञान होता है प्रेमात्मक।

प्रीतिपूर्वमनुध्यानं भक्तिरित्यभिधीयते।

प्रीतिपूर्वक चिन्तन भक्ति है। केवल चिन्तनका नाम भक्ति नहीं है। चिन्तन तो क्रोधसे, द्वेषसे शत्रुका भी होता है। किसी वस्तु या व्यक्तिका प्रेमपूर्वक चिन्तन राग है और प्रेमपूर्वक ईश्वरका चिन्तन भक्ति है।

केवल ईश्वरको जान लेना तो आस्तिकता मात्र है। एक मनुष्य जानता है कि यह सृष्टि ईश्वरने बनायी है। वह प्रातः सायं ईश्वरको हाथ जोड़ लेता है। कोई सप्ताहमें एक बार प्रार्थना कर लेते हैं और कोई दिनमें पाँच बार प्रार्थना करते हैं। यह भक्ति नहीं है। यह जान लेना कि भारतमें एक सरकार है और दिनमें दस बार उसे स्मरण कर लेना सरकारसे प्रेम तो है नहीं। सरकार विरोधी लोगोंको भी दिनमें बीस बार सरकारकी याद आती है। याद आनेका नाम प्रेम नहीं है। रसमयवृत्तिसे स्मरण होना, सेवावृत्तिसे—उसे सुख पहुँचानेकी इच्छासे स्मरण होना भक्ति है। ईश्वरके विषयमें जानना और जानकर उसके ध्यानमें डूब जाना भक्ति है।

चिन्तासन्तानपरम्पराध्यानम् लोग धन कमानेके विषयमें सोचने लगते हैं और घण्टों सोचते रहते हैं। अपनी स्त्री या पुत्रके विषयमें सोचने लगते हैं, अपनेको भूलकर चिन्तन करते रहते हैं। इसी प्रकार ईश्वरके विषयमें सोचना ध्यान है। यह देखो कि यह हाथ कैसे हिलता है? लकवा होनेपर क्यों नहीं हिलता? समाधिमें क्यों नहीं हिलता? किसीका हाथ ही कट गया हो तो? समाधिमें हाथ हिलानेकी इच्छा नहीं है। लकवा होनेपर इच्छा तो है; किन्तु शक्ति नहीं है। हाथ कट गया हो तो इच्छा और शक्ति दोनों होनेपर भी हाथ ही नहीं है। यह संकल्प शक्ति किसकी है? ईश्वरकी। नेत्रमें ईश्वरकी शक्ति कैसे काम करती है, यह देखो। वह अधिदेव रूपमें सूर्यमें बैठकर प्रकाश दे रहा है, अधिभूत रूपमें वस्तुओंमें बैठा लाल, हरा, पीला, सुन्दर-असुन्दर रूप बना है और नेत्रके भीतर अध्यात्म रूपमें स्थित होकर देख रहा है।

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥७.३०

इस प्रकार भगवान्‌का ज्ञान प्राप्त करो। यह देखो कि वह किस प्रकार सर्वत्र स्थित होकर सबका संचालन कर रहा है, सबको प्रकाशित कर रहा है। तुम्हारा ध्यान भगवान्‌में लग जायगा। प्रीति और ज्ञान मिलकर भक्ति बन जाते हैं। जब श्रीकृष्णसे प्रेम है और यह ज्ञान है कि वे ईश्वर हैं तो उनमें भक्ति हो गयी। गोपी कहती है—

जित देखौं तित श्याममई है।

वह श्याम तमालके पास दौड़ जाती है; क्योंकि तमाल उसे श्रीकृष्णके रूपमें दीखता है। यह गोपीके ध्यानकी अवस्था है जो उसे खुले नेत्रोंसे सर्वत्र कृष्ण दीखते हैं। गोपी श्रीकृष्णको जानती

है और उनमें तन्मय है। वैसे श्रीकृष्णको तो गर्गाचार्य भी जानते थे; किन्तु गोपीमें जानकारीसे अधिक ध्यान है।

भक्तिके क्षेत्रमें किसीको जानना साधारण बात है। लेकिन जानकर उसमें मग्न हो जाना श्रेष्ठ स्थिति है। अतएव ज्ञानरहित अभ्याससे ईश्वरका ज्ञान श्रेष्ठ है और ज्ञानसे ध्यान श्रेष्ठ है।

एक बार एक सज्जन मेरी माताजीसे मिले और बोले—'माताजी, ये स्वामीजी क्या होते हैं। मैं तो आपको धन्य मानता हूँ; क्योंकि ये स्वामीजी आपके पुत्र हैं। आप न होतीं तो ये उत्पन्न कैसे होते ? हम तो आपको पूज्य मानते हैं।'

स्वामीजीसे माताजी श्रेष्ठ; क्योंकि वे उनकी कारण हैं। इसी प्रकार ईश्वरके विषयमें जो सच्चा अभ्यास है, ईश्वरको जानता है, ईश्वरका ध्यान है, ये तीनों तो धन्य हैं ही; किन्तु भगवान् कहते हैं कि हम तो इन तीनोंसे बड़ा उस 'सर्वकर्मफलत्याग'को मानते हैं, जिसके बिना न तो ईश्वरके विषयमें ठीक अभ्यास हो सकता, न ज्ञान और न उसका ध्यान ही। अभ्यास, ज्ञान और ध्यान—इन तीनोंका कारण, तीनोंका माता-पिता, सब साधनोंका मूल सर्वकर्म-फलत्याग ही है। अतः हम इसकी ही स्तुति करते हैं।

कर्मफलत्याग क्या है ? कर्म स्वयं अन्धे हैं। हाथ, पैर, नाक आदि कर्मेन्द्रियाँ अन्धी हैं। नेत्र बतलाते हैं पैरको कि यहाँ चलो। बुद्धि बतलाती है वाणीको कि बोलो। कर्ममें ज्ञानशक्ति नहीं है। कर्म तो मोटरके समान है और उसे चलानेवाला ड्राइवर मनुष्यका संकल्प है। स्टार्ट करके, बिना ड्राइवरके मोटर चलाकर कूद जाओ तो वह कहीं टकरायेगी। जब संकल्प साथ होता है, तब कर्म अपने गन्तव्य तक कर्ताको पहुँचाते हैं। कर्मकाण्डके विद्वान् कहते हैं—'संकल्पहीन कर्म निष्फल होता है। अतः संकल्पपूर्वक ही कर्म करना चाहिए।

एक मनुष्य स्वर्ग जानेके संकल्पसे शुभ कर्म करता है तो वह मरकर स्वर्ग जायगा। दूसरा व्यक्ति सम्राट् होनेके लिए वही यज्ञादि शुभ कर्म करता है तो जन्मान्तरमें वह सम्राट् होगा। संकल्प और कर्म मिलकर कर्ताको फल देते हैं। अब कोई कर्म तो शुभ करे; किन्तु कुछ भी प्राप्त करनेका उसका संकल्प न हो तो उसके शुभ कर्मका फल विश्वात्माको ही तो मिलेगा। अथवा उसका संकल्प है—**अनेन परमेश्वरः प्रीयताम्**। इस प्रकार फल-प्राप्तिका संकल्प न होनेपर फल उसकी ओर आकर्षित नहीं होता। कर्तव्य समझकर कर्म करते हैं, उसका फल क्या होगा, इससे हमें मतलब नहीं। इस प्रकार कर्तव्यपालनसे बड़ा सन्तोष होता है।

मत्कर्मपरमो भवके द्वारा भगवान्‌ने पूजन-कीर्तन-नाम-स्मरणादि भगवत्पूजनके कर्म करनेका आदेश दिया था। **कर्म-फलत्याग**में वर्णाश्रम-विहित कर्मोंके फलको त्यागनेकी बात है। कर्म करो; किन्तु फलको अपनी ओर आकर्षित मत करो। एक व्यक्ति चन्दन घिसता है इसलिए कि उसे अपने मस्तकपर लगायेगा, जिससे उसे लोग धर्मात्मा समझें। यह कर्म अपने लिए किया गया। दूसरा व्यक्ति चन्दन इसलिए घिसता है कि वह भगवान्‌की सेवामें काम आयेगा। मनुष्यका अपना स्वार्थ मनमें बहुत सूक्ष्मतासे छिपा रहता है, अतः उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। एक व्यक्ति मेरे पास केसर मिला चन्दन घिसकर ले आता था। कभी तो वह मेरे पैरके अँगूठेपर पहले चन्दन लगाकर तब अँगूठा धोता और उसे चरणामृतके रूपमें पी लेता, और कभी अँगूठेपर खूब चन्दन लगाकर इस प्रकार वहाँ अपना मस्तक लगाता कि चन्दन अपने ललाटपर पोंछ लेता, फिर उसे हाथसे ठीक कर लेता। इसी प्रकार कोई वस्तु दान करनी हुई तो लोग

अपने सम्बन्धी, पड़ोसी या नौकरको देते हैं। उसे देते हैं, जिसे उपकृत करके कुछ लाभ उठानेकी आशा हो। यह सब शुद्ध भाव नहीं है। कर्मका फल शुद्ध भावसे परमात्माको समर्पित करो अथवा शुद्ध भावसे कर्तव्यपालनके लिए ही कर्म करो। फलपर दृष्टि मत रखो। इससे चित्तमें निष्कामता आगयी।

त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् कर्मफलके त्यागसे चित्त निष्काम हुआ तो उसमें शान्ति अपने-आप आगयी। 'अनन्तरम्' अर्थात् अन्तरके बिना, व्यवधानरहित, तत्काल। दो पदार्थ या क्रियाको परस्पर पृथक् रखनेवाला जो दोनोंके बीचका भाग है, उसे अन्तर कहा जाता है। कर्मफलत्याग एक ओर और शान्ति एक ओर— इन दोनोंके मध्यमें क्या ? कितने क्षण ? इसका उत्तर देते हैं— 'अनन्तरम्' अर्थात् बीचमें कुछ है ही नहीं। अर्थात् कर्मफलत्याग और शान्ति सर्वथा एक ही वस्तु हैं।

अब कोई कर्मफलका त्याग न करे तो क्या ईश्वर-चिन्तनका अभ्यास उससे बनेगा ? क्योंकि ऐसी अवस्थामें जप, तप, संकीर्तन आदि तो वह अपने लिए करेगा। उसे ईश्वर का ज्ञान भी नहीं होगा। क्योंकि अपने स्वार्थका, अपने कामका ज्ञान उसके चित्तमें है और उसे वह पाना चाहेगा। उसे अपने ही स्वार्थका ध्यान रहेगा, इसलिए ईश्वरका ध्यान भी वह नहीं कर सकता। इसीलिए भगवान्ने कहा—**ध्यानात्कर्मफलत्यागः** ध्यानसे भी कर्मफलका त्याग श्रेष्ठ है, क्योंकि **त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्** कर्मफलत्याग तथा शान्ति सर्वथा एक वस्तु हैं।

जहाँ कामना है, वहाँ शान्ति नहीं होगी। जब-जब आपको दुःख होता है, तब-तब उसका एक ही कारण होता है कि आपमें वैराग्यका अभाव है। जिससे दुःख हो रहा है, उसे आप छोड़ नहीं पाते हैं। आप कहें कि—'हमारा इससे राग है। हम इसे

छोड़ नहीं सकते। तब यह भी कहिये—'इसके कारण हमें जो दुःख होगा, हम उसे सुख मानेंगे, उस रुदनमें ही आनन्द मानेंगे। उसीमें हँसेंगे, नाचेंगे, प्रसन्न होंगे।' यह प्रेमका मार्ग हुआ। तुम या तो वैराग्यके मार्ग पकड़ो। जिससे दुःख होता है, उसे त्याग दो। जैसे इन्कमटैक्सवाले अधिक कर लगाते हैं तो दुःख होता है? तुम कह दो—'यह पूरा लाभ तथा पूँजी भी आप ले लो। हम इस उलझनसे स्वतन्त्र भले।' तब प्रशंसा होगी। सरकार कहेगी—'इस व्यक्तिने अपनी पूरी पूँजी राष्ट्रको दान कर दी।' तब तुम्हें दुःख नहीं होगा। तुम जब किसीको त्याग नहीं पाते, उससे सटते हो, उलझते हो, राग करते हो तो दुःख पाते हो। दुःखको दूर करनेका एक ही मार्ग है वैराग्य। राग—प्रेमका मार्ग तो दुःख सहने के लिए, तितिक्षाके लिए, तपके लिए, संयमके लिए है।

सर्वकर्मफलत्याग अभ्यास, ज्ञान, ध्यान तीनोंसे बड़ा है, यह यहाँ कहने की आवश्यकता क्या थी? आवश्यकता इसलिए थी कि इसे चतुर्थ कोटिके अधिकारीका साधन कहा गया था। **मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।** यह प्रथम कोटिके अधिकारीका साधन था। **अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि** अर्थात् प्रथम कोटिके साधनकी शक्ति नहीं है तो 'अभ्यासयोग' बतलाया। **अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि** अभ्यासमें भी असमर्थके लिए **मत्कर्मपरमो भव** कहा और उसके बाद **अथैतदप्यशक्तोऽसि** कहकर सबसे असमर्थ अधिकारीके लिए 'सर्वकर्मफलत्याग'का उपदेश किया। मनुष्यका स्वभाव है कि वह अपनेको छोटा अधिकारी, असमर्थ मानना नहीं चाहता। अतः सर्वकर्मफलत्यागको तो लोग निम्नकोटिके अधिकारीका साधन मानकर करेंगे नहीं और भगवान्में मन-बुद्धि लगानेकी, मन-बुद्धि लगानेका अभ्यास

करनेकी अथवा केवल भगवान्‌के लिए ही कर्म करनेकी क्षमता उनमें है नहीं। फलतः वे साधनमें ही पतित हो जायेंगे। अतएव भगवान्‌ने कहा—'सर्वकर्मफलत्याग हीन या छोटा साधन नहीं है। यह तो अभ्यास, ज्ञान तथा ध्यानसे भी श्रेष्ठ है। अभ्यास, ज्ञान और ध्यान इसके बिना हो ही नहीं सकते। इसलिए इसमें लगो।'

एक बारकी बात है—बहुत वर्ष पहलेकी। एक व्यक्ति मुझसे मिले; किन्तु उन्होंने मुझे प्रणाम नहीं किया। मुझे दुःख हुआ कि ये मुझसे इतने अपरिचित तो हैं नहीं कि प्रणामकी आवश्यकता न मानें। फिर प्रणाम करनेका शिष्टाचार इन्होंने क्यों नहीं दिखाया? उनसे जो आशा थी कि वे शिष्टाचार दिखायेंगे, वह पूरी न होनेसे दुःख हुआ। उचित तो यह था कि कोई प्रणाम करता है या नहीं, इसपर ध्यान ही न जाता। प्रणाम करनेवाले तो अपने साधनका फल ही खींचते हैं, अतः वे प्रणाम न करें, यह अच्छा ही है। अब तो प्रणाम करने-न-करनेवाले सब अपने आत्मा ही हैं। प्रणाम मनुष्यको नहीं किया जाता। सबमें जो परमेश्वर अन्तर्यामी रूपसे स्थित है, उसे प्रणाम किया जाता है।

तात्पर्य यह कि जब दूसरेसे कर्तव्यपालनकी अपेक्षा की जायगी तब दुःख होगा, अपने कर्तव्यपालनपर दृष्टि होगी तो दुःख नहीं होगा। कर्तव्यपालनमें त्रुटि होनेपर दुःख होता है तो अपने अहंकारको शिथिल करो। ईश्वर ही करनेवाला है, इसपर ध्यान दो। ईश्वरकी पराधीनता कबतक? तबतक, जबतक अपनी स्वाधीनता—अपने स्वरूपका ज्ञान न हो।

मनमें जब-जब दुःख होता है, तब-तब वह कोई फलकी इच्छा पकड़कर बैठा है, यह निश्चित है। जीवनमें फलकी इच्छा छूटी तो शान्ति ही शान्ति है।

●

: १३-१४ :

● *संगति*

अब आगे आठ श्लोकोंमें भगवान् भक्तका लक्षण बतला रहे हैं। इन लक्षणोंको भगवान्ने 'धर्म्यामृत' कहा है। अष्टाक्षर नारायण मन्त्रके समान ही ये आठ श्लोक महत्त्वपूर्ण हैं।

'धर्म्य' कहनेका तात्पर्य है कि ये गुण धर्मसे कभी दूर नहीं होते; इनसे धर्म सदा संयुक्त रहता है। साथ ही ये अमृतस्वरूप हैं। स्वर्गका अमृत धर्मका फल है। धर्म करो तो स्वर्गमें जाकर अमृत-पान उपलब्ध होगा। मोक्षरूपी अमृत ज्ञानका फल है। स्वर्गका अमृत और मोक्ष रूप अमृत दोनों फलात्मक हैं। स्वर्गमें अमृत पीनेसे कोई और फल नहीं होता। मोक्षका भी दूसरा कोई फल नहीं है। लेकिन इन आठ श्लोकोंमें वर्णित तैंतीस गुण धर्म भी हैं और अमृत भी। एक ओर ये सब साधनोंके फल हैं। बड़ा-से-बड़ा सुख, बड़ी-से-बड़ी शान्ति इनसे उपलब्ध होती हैं। अतः ये साधन भी हैं; इसलिए इन्हें **धर्म्यामृत** कहा। जैसे देवताओंमें तैंतीस प्रमुख हैं, वैसे ही जितने धर्म हैं—धर्मके गुण हैं, उनमें ये तैंतीस प्रमुख हैं।

ये तैंतीस गुण ज्ञानी भक्तके तो स्वाभाविक लक्षण हैं। साधकको इन्हें अभ्यासके द्वारा अपनेमें ले आना चाहिए।

इस अभ्यासमें अभीतक साधनोंका वर्णन इस प्रकार हुआ था कि जो मन-बुद्धि भगवान्में लगानेमें असमर्थ हो वह 'मत्कर्म' करे।

जो 'मत्कर्म'में भी असमर्थ हो, वह 'सर्वकर्मफलत्याग' करे। इस प्रकार असमर्थताके वर्णनका क्रम हो चलता रहा। अब यहाँ भक्तका लक्षण बतलाते समय असमर्थ भक्तका लक्षण भगवान् नहीं बतला रहे हैं। समर्थ भक्तका अर्थात् **मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय**का आदेश पूरा करके जिसने **निवसिष्यसि मय्येव**की स्थिति प्राप्त कर ली है, उस भक्तका वर्णन वे कर रहे हैं।

भगवान् अपने भक्तकी पहचान बतलाते हुए यह नहीं बतलाते कि वह कैसा वस्त्र पहनता है—सफेद या गेरुआ, कैसा तिलक लगाता है—आड़ा या खड़ा, लाल श्री या पीत अथवा बिन्दी, वह कैसी माला रखता है—तुलसीकी या रुद्राक्षकी? संन्यासी, उदासी, रामानुजीय, रामानन्दीय, निम्बार्कीय, विष्णुस्वामीय, मध्वसम्प्रदायी—कौन-सी वेश-भूषा भक्त रखता है, यह भगवान् नहीं बतला रहे हैं। स्कूलों या सेनाकी ड्रेसके समान भक्तका कोई निश्चित वेष नहीं है। भक्ति दिखलानेकी—प्रदर्शनकी वस्तु नहीं है। वह हृदयकी वस्तु है। अतः भगवान् भक्तके आन्तरिक लक्षण-हृदयस्थ गुणका वर्णन करते हैं।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥

गीता ७.१६

भगवान्ने कहा कि चार प्रकारके लोग मेरा भजन करते हैं और वे सब सुकृती—पुण्यात्मा हैं। इनमें गजेन्द्रके समान विपत्तिमें पड़े आर्त लोग हैं जो विपत्तिसे छुटकारा पानेके लिए भक्ति करते हैं। उद्धवादि जिज्ञासु हैं जो भगवत्स्वरूप जानना चाहते हैं—आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिए भजन करते हैं। ध्रुवके समान अर्थार्थी हैं जो किसी लौकिक-पारलौकिक लाभके लिए भक्ति करते हैं और

प्रह्लाद, नारद, सनकादिके समान ज्ञानी भक्त हैं। भक्ति करना उनका स्वभाव है। भगवान् यहाँ इनमें-से किस प्रकारके भक्तके गुण बतला रहे हैं ?

यहाँ आर्त, रोते भक्तका वर्णन तो है नहीं; क्योंकि **अद्वेष्टा-सर्वभूतानाम्** वह होता तो आर्त ही क्यों होता। अर्थार्थी भक्तका भी यहाँ वर्णन नहीं है; क्योंकि अर्थार्थी असन्तुष्ट होता है और भगवान् **सन्तुष्टः सततम्** बता रहे हैं। यह वर्णन जिज्ञासुका भी नहीं है; क्योंकि **यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः** लक्षणोंमें है। और जिज्ञासु तो संसारसे उद्विग्न होकर ही जिज्ञासु बना है। इस प्रकार 'पारिशेष्यन्याय'से भगवान् यहाँ ज्ञानी भक्तके लक्षण बता रहे हैं, यह सिद्ध होता है। ज्ञानी भक्त ही प्रथम कोटिका हो सकता है, जिसे ज्ञान, सदाचारमय जीवन और भगवान्के प्रति प्रीति प्राप्त हो चुकी है।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१३॥
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥

'जो किसीसे द्वेष नहीं करता, सबका मित्र है, करुणावान् है, ममता तथा अहंकाररहित है, सुख-दुःखमें समान रहता है, क्षमा-शील है, निरन्तर सन्तुष्ट रहता है, योगी और संयतचित्त है, दृढ़-निश्चयी है तथा मुझमें मन-बुद्धिको समर्पित कर चुका है, ऐसा मेरा भक्त मुझे प्रिय है।'

अद्वेष्टा सर्वभूतानाम् किसी भी प्राणीसे द्वेष न करना। भक्तिके आचार्य कहते हैं कि द्वेष भक्तिका विरोधी भाव है। जितनी

देर हृदयमें द्वेष रहेगा, उतनी देर हृदयमें भक्ति नहीं रह सकती। प्रेम और दुःख तो एक साथ रह सकते हैं। हृदयमें भगवान्‌की भक्ति भी हो और उनकी अप्राप्तिका दुःख भी हो, यह सम्भव है। लेकिन प्रेम और द्वेष परस्पर विरोधी भाव हैं। हृदयमें भगवान् भी रहें और शत्रु भी रहे, यह नहीं हो सकता। शत्रुसे द्वेष होगा तो वह हृदयमें रहेगा ही। इसलिए भगवान्‌का भक्त किसी प्राणीसे द्वेष नहीं करता। द्वेष आकारवान् होता है। जिससे द्वेष करोगे वह नेत्र बन्द करनेपर मनमें, स्वप्नमें दीखेगा। लेकिन अद्वेष आकारवान् नहीं है, द्वेष किसी विशेष व्यक्तिसे होगा; किन्तु अद्वेष सबके प्रति। इसलिए द्वेष आकारके साथ बाँधता है। अद्वेष किसीके साथ बाँधता नहीं है। द्वेषका अर्थ अशान्ति और अद्वेषका अर्थ शान्ति। श्रीकुमारिलभट्टने कहा कि जिसे तुम गाँवसे निकाल देना चाहते हो, उसीको अपने घरमें बसा लेना कहाँकी बुद्धिमानी है?

नेच्छते यः परस्थोऽपि स स्वयं गृह्यते कथम्।

तुमसे कोई द्वेष करे, यह चाहते हो? तुम चाहते हो कि कोई अपने हृदयमें द्वेषको स्थान न दे और उसी द्वेषको अपने हृदयमें बसाते हो? चोर गाँवमें न रहे, यह तो चाहते हो और उसे अपने घरमें बसा रहे हो?

द्वेषसे तुम्हें मिलता क्या है? द्वेष मनमें लेकर सन्ध्या, तर्पण, जप, हवन करोगे तो क्या होगा? मुखसे कहोगे **इन्द्राय स्वाहा** लेकिन मनमें शत्रुका ध्यान होगा। अतः वह आहुति इन्द्रको प्राप्त न होकर शत्रुको जायगी। उससे शत्रुका बल बढ़ेगा। इस रीतिसे द्वेष धर्मका विरोधी है। उससे धर्मकी सिद्धि नहीं होती। द्वेष अर्थका विरोधी है; क्योंकि दूकानदार और ग्राहकमें द्वेष हो तो उनमें झगड़ा होगा। स्वामी-सेवकमें द्वेष हो तो सेवक निकाल दिया जायगा। द्वेष कामका-भोगका भी विरोधी है। भोजन करते समय

मनमें द्वेष भरा हो तो भोजनका स्वाद नहीं आ सकता। मोक्षका विरोधी तो वह है ही; क्योंकि राग-द्वेष त्यागकर ही मुक्त हुआ जा सकता है।

'द्विष्'से द्वेष बना है। द्वि-विष अर्थात् दुगुना विष द्वेष है। जो द्वेष करे वह भी जले और जिससे द्वेष करे, उसे भी जलाये। द्वेषकी पूर्ण निवृत्ति परमात्माका ज्ञान होनेपर, सर्वत्र भगवद्भाव होनेपर, जगत् मायामात्र है यह जान लेनेपर, सब प्रकृतिका खेल है—इस निश्चयसे, सब पञ्चभूतकी बनी कठपुतलियाँ हैं और इन्हें नचानेवाला कोई और ही है, इस निश्चयसे अथवा कहीं अपना स्वार्थ न रहनेपर होती है।

जिससे तुम्हारा द्वेष है, घृणा है, स्पर्धा है, उसके प्रति नित्य रातको सोते समय प्रेमपूर्वक सच्चे हृदयसे, यह भावना करो—'मैं तुम्हें अपना प्यार देता हूँ, तुम तो मेरे ही आत्मा हो' तो द्वेष मिट जायगा। धर्म तथा भक्ति हृदयको शुद्ध बनानेके लिए हैं, संसारको शुद्ध बनाने—सुधारनेके लिए नहीं।

माता-पिता-बच्चेको डाटते हैं, चपत भी मार देते हैं; किन्तु यह उसके प्रति द्वेष नहीं, राग ही है। बच्चेको चपत भी लगायी गयी तो उसकी भलाईके लिए—उसे सुधारनेके लिए। जहाँ किसीको भलाई अभीष्ट है, वहाँ द्वेष नहीं है।

द्वेष ज्वलनात्मक चित्तवृत्ति है। स्वयं जलती है और दूसरेको जलानेके लिए व्याकुल रहती है—**स्वयं नष्टः परान्नाशयति।** अज्ञानसे अभिमान, अभिमानसे द्वेष, उससे क्रोध और क्रोधसे हिंसाकी उत्पत्ति होती है। चित्तशुद्धिके लिए साधनके रूपमें योग-दर्शनने—मैत्री, करुणा, मुदिता, और उपेक्षाको बतलाया है। जो अपने समान हैं, उनसे मैत्री, जो धर्मात्मा हैं, भगवद्भक्त हैं उनको देखकर चित्तका प्रसन्न होना और जो दुःखी हैं, उनपर करुणा तथा

जो पापपरायण—दुराचारी हैं उनकी उपेक्षा करनेकी बात वहाँ कही गयी है।

जो अपनेसे उन्नत हैं, आगे हैं, उनसे स्पर्धा मत करो। मेरे पास एक लाख है तो उसके पास दो लाख क्यों हैं, यह सोचकर उससे द्वेष मत करो। किसीसे भी द्वेष मत करो। एक धार्मिक नेताने उपदेश करते हुए कहा—'हमें धर्मके विरोधियोंसे द्वेष करना चाहिए। काफिरसे शत्रुता करनेवाले और उसे सजा देनेवालेको बहिश्त मिलता है।'

धर्म-विरोधीसे द्वेष क्या उचित है? उसका 'कुफ्र'—धर्म-विरोधी तो इस समय स्वयं उसे दण्ड दे रहा है। धर्म विरोधी होकर वह दुःखी, अशान्त हो रहा है और मरनेपर उसे नरक मिलेगा। वह तो हमारी दयाका पात्र है, द्वेषका नहीं।

निर्गुणोपासक किसीसे द्वेष नहीं करता; किन्तु मित्रता भी किसीसे नहीं करता। उसको असङ्ग रहना पड़ता है। लेकिन भक्तिका मार्ग बड़ा कठिन है। यह दुधारी तलवार है—

यह प्रेमको पंथ करारो महा,
तरवारकी धार पै धावनो है।

द्वेष किसीसे भी न हो, मित्रता सबसे करो। भक्त केवल 'अद्वेष्टा' नहीं है, 'मैत्रः' भी है। सबको स्नेह दो। कोई तुमसे मिलने आये तो तुम्हारे मुखपर थोड़ी मुस्कान, नेत्रोंमें प्रसन्नता और वाणीमें मधुरता होनी चाहिए। अपने इष्टदेव ही इन नाना रूपोंमें अपने सम्मुख आते हैं। सभी जीव भगवान्‌के अंग हैं। रामानुज सम्प्रदायके अनुसार जीव अंग है और भगवान् अंगी। जीव शेष है, भगवान् शेषी। जीव भोग्य है, भगवान् भोक्ता। जीव नियम्य है, भगवान् नियन्ता हैं। वे मनुष्यके समान हाथ-पैर, पेट-पीठवाले नहीं हैं। ये सब जीव ही उनके अंग हैं। इन सबके

नियामक, सञ्चालक तथा भोक्ता भी वही हैं। इसलिए किसीसे द्वेष मत करो। किसीसे कड़ी बात मत बोलो—

घट-घटमें वह साईं रमता कटुक बचन मत बोल रे।

मैत्रःका अर्थ है कि भक्तके हृदयमें सबके प्रति प्रेम, नेत्रोंमें प्रसन्नता, वाणीमें मधुरता होनी चाहिए। ज्ञानीमें ये गुण हों तो, दोनों दशामें उसकी कोई हानि नहीं है; किन्तु भक्तमें तो इन्हें होनी चाहिए।

मैत्रः कोई पुण्य करता है तो उसे देखकर तुम्हारे मनमें क्या भाव आता है? तुम सोचते हो कि वह पाखण्डी है? उसे देखकर तुम्हें प्रसन्न होना चाहिए कि जो शुभ कर्म तुमसे नहीं बन पाता, उसे वह कर रहा है। दूसरेको सुखी देखकर तुम्हारे मनमें ईर्ष्या होती है? तुम्हें प्रसन्न होना चाहिए कि जो सुख तुम चाहते हो, वह किसीको तो मिल रहा है।

मैत्रः जो स्नेह करे रूखेको चिकना कर दे। **ञिमिदा स्नेहने।** '**मिद्**' धातु चर्बीके अर्थमें है। इसीसे 'मेद' और 'मेदिनी' शब्द बनाते हैं। इसी धातुसे 'मित्र' शब्द बना है। जो स्निग्ध हो—प्रेमयुक्त हो, वह मित्र। भक्त सबका मित्र होता है, सबको स्नेह देता है। किसी एकसे राग-प्रेम बन्धनका हेतु होता है; किन्तु सबसे प्रेम मुक्तिका हेतु है।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्॥ गीता १८.२२

संसारमें एक कार्यमें फँसकर दूसरेकी उपेक्षा कर देना तामस भाव है। सबसे प्रेमका अर्थ है सबसे असङ्गता। एकसे प्रेम होगा तो अन्योंकी उपेक्षा होगी। जो असङ्गताको काटे, वह प्रेम नहीं है। सच्चा प्रेम वह है, जिसमें असङ्गता अनुगत रहे। जो सबमें भगवान्को देखकर भगवान्से प्रेम करता है, वह सबमें नहीं

फँसता, भगवान्में फँसता है। जो संसारमें कहीं प्रेम करेगा, वह संसारमें फँसेगा।

मैत्रःका अर्थ है मित्र—सूर्यका भाव। सूर्यको मित्र कहते हैं। जैसे सूर्य समानरूपसे सबको प्रकाश देता है, वैसे समानरूपसे सबको स्नेह दो। श्रुति कहती है—

मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षामहे।

वाजसनेयि संहिता ३६.१८

'मित्रकी दृष्टिसे आप सबको देखें। मैं मित्रकी दृष्टिसे सबको देखता हूँ। आओ, हम सब मित्रकी दृष्टिसे देखें!'

सूर्य धर्मात्मा-पापी, साधु-कसाई, ईमानदार-चोर, आदि सभीको प्रकाश देता है। पृथिवी सबको धारण करती है। वह हत्यारे, पापी, नास्तिकको धारण करना अस्वीकार नहीं करती। जल समान रूपसे सबकी प्यास मिटाता है। वायुमें सब श्वास लेते हैं। इस प्रकार ईश्वरके बनाये हुए पदार्थ, पञ्चमहाभूत सबके प्रति समान हैं। सबको अपना लाभ उन्मुक्त रखते हैं। जो उनसे लाभ उठाना चाहे, उसे रोकते नहीं। इसी प्रकार तत्त्वका चिन्तन करते-करते भक्त स्वयं तत्त्व बन जाता है। वह व्यक्ति नहीं रहता। वह सबको प्रेम देता है। सबके भीतर विराजमान ईश्वरसे उसका प्रेम है। भक्त सूर्यके समान सबका मित्र है। यही सूर्यकी दृष्टिसे देखनेका अर्थ है।

महात्मा गांधीजीके जीवनकी दो घटनाएँ यहाँ स्मरण आती हैं। साबरमती आश्रममें रहते समय एक दिन उनकी घड़ी खो गयी। लोगोंने ढूँढ़ा और चोर पकड़ा गया; किन्तु जब उसको लोग महात्माजीके सामने ले आये तो उन्होंने कहा—'इस भाईको

पकड़नेका काम तो अच्छा नहीं हुआ। घड़ीकी आवश्यकता मेरी अपेक्षा इसे अधिक होगी; क्योंकि मेरी आवश्यकता बड़ी होती तो मैं उसे रखकर चला नहीं जाता। इनकी आवश्यकता इतनी बड़ी है कि चुराकर भी उसे इन्होंने प्राप्त किया। अतः घड़ी इनको ही मिलनी चाहिए।' वह व्यक्ति महात्माजीके चरणोंपर गिरकर फूट-फूटकर रोया और उसका उसी क्षणसे जीवन बदल गया।

एक बार गान्धीजी गोरखपुरसे वाराणसीकी यात्रा ट्रेनमें कर रहे थे। वे तीसरी श्रेणीमें यात्रा करते ही थे। समाचारपत्र देख रहे थे, इतनेमें पास बैठे एक सज्जनने खाँसकर डिब्बेके फर्शपर कफ थूक दिया। गान्धीजीने समाचारपत्रका टुकड़ा फाड़ा और उस कफको पोंछकर बाहर फेंक दिया। इस बातसे वे सज्जन कुछ चिढ़ गये। बार-बार वे थूकने लगे। वे जितनी बार थूकते, उतनी ही बार गान्धीजी समाचारपत्रके टुकड़ेसे थूक पोंछकर बाहर फेंक देते। वाराणसी स्टेशनपर जयध्वनि करती, पुष्पमाला लिये जब लोगोंकी भीड़ आयी, तब उन सज्जनने गान्धीजीको पहचाना। अब तो वे दुःखी होकर क्षमा माँगने लगे। गान्धीजीने कहा—'मनुष्य जहाँ बैठे, वहाँकी गन्दगी साफ करके—यह उसका कर्तव्य है। मैंने तो अपना कर्तव्य ही पालन किया है। आपको इस घटनासे दुःख हुआ है तो आगेसे आप भी मेरे समान अपने समीपके स्थानको स्वच्छ कर देनेका नियम बना लें

दूसरेके अपराधपर भी क्रोध न करके उसका भला चाहना, उसको प्रेमपूर्वक उत्तम शिक्षा देना, यह भक्तका स्वभाव होता है। भगवान्‌ने जब संसार बनाया तो सब पदार्थोंमें थोड़ा-थोड़ा दोष और थोड़ा-थोड़ा गुण मिला दिया। संसारमें ऐसा कोई नहीं, जिसमें गुण ही गुण हों और ऐसा भी कुछ नहीं है, जिसमें दोष ही दोष हों। गुण सबमें इसलिए मिलाया है कि जो भगवान्‌को

देखना चाहते हैं, उन्हें सर्वत्र उन गुणोंको देखकर उनके पीछे स्थित भगवान् दीखें। लेकिन जो लोग उनसे विमुख हैं उनकी ओर जो पीठ किये हैं, वे कहीं भी टिक न सकें, किसी भी वस्तुमें पूर्ण सन्तोष पाकर वहीं ठहर न जायँ, इसलिए सबमें कुछ-न-कुछ दोष भगवान्‌ने मिलाया है। इससे अन्तमें उन्हें भगवान्‌के सम्मुख होना ही पड़ेगा। भक्त किसीके दोष नहीं देखता। वह तो सर्वत्र गुण ही देखता है। सबमें प्रभुको देखता है।

महाराष्ट्रके सुप्रसिद्ध सन्त श्रीएकनाथजी महाराज प्रातःकाल चन्द्रभागामें स्नान करके लौट रहे थे। एक दुष्ट पुरुषने मकानके ऊपरसे उनके ऊपर कुल्ला कर दिया। श्रीएकनाथजी पुनः स्नान करने लौट गये; किन्तु स्नान करके आने लगे तो उसने फिर कुल्ला कर दिया। इस प्रकार एक सौ आठ बार उसने कुल्ला किया और एकनाथजी उतनी ही बार स्नान करने गये। अन्तमें शिष्टताने दुष्टतापर विजय पायी। वह व्यक्ति एकनाथजीके चरणोंमें गिरकर क्षमा माँगने लगा। वे बोले—भाई! तुमने तो मेरे ऊपर बड़ी कृपा की। प्रतिदिन तो मैं केवल एक बार स्नान करता था। आज तुम्हारी कृपासे मुझे एक सौ आठ बार चन्द्रभागामें स्नानका सौभाग्य प्राप्त हुआ।'

भक्तमालमें एक गृहस्थ सन्तकी कथा आती है। दोनों पति-पत्नी भक्त थे। एक रात्रि उनके घरमें चोर घुसे। चोरोंने घरका सामान तो बाँधा ही, उनकी पत्नीको निद्रामग्न समझकर वे उसके शरीरपरके आभूषण भी उतारने लगे। जब वे उसके एक ओरके अंगका आभूषण उतार चुके तो उस स्त्रीने करवट बदली। उसे जागता देखकर चोर भाग गये। सबेरे सब बातें सुनकर उन भक्तने पत्नीसे कहा—'अपने घरमें भगवान् ही इस रूपमें पधारे

थे। तुमने जागनेका संकेत करके उन्हें भगाया क्यों ? आभूषणोंका तुम्हारे मनमें इतना लोभ है ?'

स्त्री बोली—मेरे मनमें आभूषणोंका लोभ तो नहीं था। वे मेरे देहके एक ओरका आभूषण उतार चुके थे। दूसरी ओरके आभूषण शरीरके नीचे दबे थे। मैंने तो इसलिए करवट बदली कि वे उन आभूषणोंको भी उतार सकें।'

एक गृहस्थ सन्तके यहाँ कोई अतिथि आये। गृहपति उस अतिथिके साथ भोजन करने बैठे और पत्नी परोसने लगी। दूध परोसते समय पत्नीने अतिथिके पात्रमें मलाईको गिरनेसे रोक दिया और पतिके पात्रमें उसे गिरा दिया। यह देखकर उन भक्तने उसी दिन गृहत्याग कर दिया। वे पत्नीसे बोले—'देवि ! अतिथि साक्षात् भगवान् हैं। उन प्रभुके सत्कारमें तुम भेदबुद्धि रखती हो। अतः तुम्हारा-मेरा साथ नहीं बन सकता।'

स्वामी रामतीर्थ अमेरिकाकी यात्रा कर रहे थे। वे जहाजसे जा रहे थे। उसीपर एक अमेरिकन पत्रकार भी यात्रा कर रहे थे। एक भारतीय साधुको बिना सामान यात्रा करते देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने पूछा—'आप इतना कम सामान लेकर यात्रा कर रहे हैं ! लगता है कि आपके पास नकद रुपया पर्याप्त है।'

स्वामी रामतीर्थ हँसे—'राम अपने पास रुपया नहीं रखता।'

पत्रकार—'अमेरिकामें आपके परिचित मित्र होंगे ?'

'हाँ, तुम मेरे मित्र हो !' पत्रकारके कन्धेपर उन्होंने हाथ रखकर कहा और स्वामी रामतीर्थ जबतक अमेरिका रहे, उस पत्रकारने उनकी सब व्यवस्था की।

करुण एव च राग-द्वेष और दुःख, ये तीन भाव हैं। इनमें-से राग तो केवल परमात्मासे करो और द्वेषको सर्वथा मिटा दो। अब बच गया दुःख, तो यह देखो कि संसारमें अकेले तुम्हीं दुःखी

नहीं हो। अपनेको ही सबसे अधिक दुःखी मानना मूर्खता है। दुःख होता ही अज्ञानसे है। एक व्यक्तिका पुत्र मर गया था। वह बड़ा दुःखी था।

उससे कहा गया—'नगरमें पता लगाओ, किनके-किनके पुत्र मरे हैं ?'—पता लगा कि कई सहस्र लोग ऐसे हैं जिनके पुत्र कभी न कभी मरे हैं। अब तुम्हारा हृदय इतना संकीर्ण क्यों है कि केवल अपने पुत्रको मृत्युसे दुःखी हो।

कुछ लोग अत्यन्त स्वार्थी प्रकृतिके होते हैं। उनसे कहो—'पेटमें दर्द हो रहा है। वमन होता लगता है।'

वे कहेंगे—'मुझे भी छः महीने पहले ऐसा ही दर्द और वमन हुआ था।'

उनसे अपने सिरदर्दकी बात कहो तो वे कहेंगे—'मुझे भी हल्का ज्वर है।' बस; यह कहकर वे अपना कर्तव्य पूरा मान लेंगे। अपनी पीड़ा बतानेवालेके कष्टको दूर करनेके लिए कुछ करना भी चाहिए, इस ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता। वस्तुतः मनुष्य अपने सुख-दुःख, अपने व्यक्तिगत जीवनमें इतना उलझा हुआ है कि दूसरोंके कष्टपर वह ध्यान ही नहीं दे पाता।

एक व्यक्ति कहता है—'मेरे पास आज भोजनके लिए कुछ नहीं है।' मैं यह नहीं कहता कि उसे भोजन मत दो। उसे भोजन मिलना चाहिए। लेकिन उसने कल रातको भोजन किया है, आज उसके पास भोजनको कुछ नहीं है। वही सबसे बड़ा दुःखी नहीं है। उसे देखना चाहिए कि ऐसे भी लोग हैं, जिन्हें दो-दो दिनसे कुछ भी खानेको नहीं मिला है।

संसारके इन दुःखी लोगोंको देखकर भक्तका हृदय द्रवित हो जाता है। कहनेको तो सब कहते हैं कि दुःखीको देखकर उनका चित्त पिघल जाता है; किन्तु इसकी एक पहचान है। आपका चित्त

संसारके पदार्थोंको पकड़कर-उनमें राग करके कठोर बन गया है। आपने लाख, दस लाख, करोड़ रुपया कसकर मुट्ठीमें पकड़ रखा है। उसे तो आप छोड़ेंगे नहीं और कहेंगे कि दु:खीको देखकर आपका दिल पिघल गया है। यदि आपका दिल सचमुच पिघला है तो यह धनका मोह—रुपयेकी ममता उस पिघलाहटमें बह क्यों नहीं गयी ? यदि सचमुच हृदय पिघलेगा तो मुट्ठी कसी नहीं रहेगी। वह ढीली पड़ जायगी। भगवान् कपिलदेवने कहा—

द्विषतः परकाये मां मानिनो भिन्नदर्शिनः।
भूतेषु बद्धवैरस्य न मनः शान्तिमृच्छति ॥
अहमुच्चावचैर्द्रव्यैः क्रिययोत्पन्नयानघे।
नैव तुष्येऽर्चितोऽर्चायां भूतग्रामावमानिनः ॥

—भागवत ३.२९.२३.२४

'मूर्तिकी पूजा करते हुए चाहे कोई सौ-दो-सौ मन चावलका भोग लगाये या थोड़ा लगाये, पूजा छोटी हो या बड़ी; किन्तु जो प्राणियोंका अपमान करता है, उसकी पूजासे मैं सन्तुष्ट नहीं होता। यह प्राणियोंका अपमान किसका अपमान है ? ये भेददर्शी नहीं देखते कि उन-उन शरीरोंमें ही बैठा हूँ। वे मुझसे द्वेष करते हैं। अत: प्राणियोंसे जिन्होंने शत्रुता बाँध ली है, उनके मनको कभी भी शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती। ऐसी अवस्थामें करना क्या चाहिए ?

तस्मात् सर्वेषु भूतेषु भूतात्मनं कृतालयम्।
अर्हयेद्दानमानाभ्यां मैत्र्याभिन्नेन चक्षुषा ॥

—भागवत ७.६.२४

'इसलिए सम्पूर्ण प्राणियोंके भीतर उनके आत्माके रूपमें बैठे हुए मेरी (परमात्माकी) सेवा उन्हें इच्छित वस्तु देकर करनी चाहिए। दान करनेका सामर्थ्य न हो तो उनका सम्मान तो करो।

उनका अपमान तो मत करो। उनके प्रति मैत्रीभाव रखो और उनको अभेद दृष्टिसे अपने समान ही समझो।'

केवल दूसरेकी ही बात नहीं है, अपने सम्बन्धमें भी यही बात है। जब हम अपनेको दीन, हीन, अनाथ, असहाय, मित्रहीन सोचते हैं, तब क्या घट-घटव्यापी परमेश्वरका तिरस्कार नहीं करते ? वह परमात्मा अपना है, फिर हम दीन-हीन कैसे हो सकते है ?

दुःखीके प्रति करुणा करो। अद्वेष्टा, मैत्रः और करुण, इन तीनोंमें अद्वेष्टा सर्वश्रेष्ठ है। मैत्रः द्वितीय श्रेणीका है और करुण तृतीय श्रेणीका। अद्वेष्टामें तो न राग है न द्वेष। वह समतामें स्थित है। उसकी वृत्ति राग-द्वेषहीन निर्विशेष है। मैत्रः सबका भला चाहता है; किन्तु उसकी दृष्टि सबमें स्थित भगवान्पर है। करुणकी दृष्टिमें व्यक्ति हैं और वे दुःखी हैं।

अद्वेष्टा—द्वेषभावरूप अधिष्ठान परब्रह्म परमात्मामें स्थित रहता है। अद्वेष नकारात्मक वृत्ति है—यह स्वरूप है। मैत्री और करुणा वृत्तियाँ हैं। ये हृदयमें रहती हैं। अतः सुषुप्तिमें तथा समाधिमें जब वृत्तियाँ लय दशामें होती हैं, इनका भी लय हो जाता है। मैत्री-करुणा सकारात्मक वृत्तियाँ हैं। इनका कोई विषय होगा; किन्तु अद्वेष निर्विषय है।

ये जो सिद्ध सन्त ब्रह्मलोक जाते हैं, उनमें भी करुणावृत्ति होती है। वहाँ उन्हें कोई वैयक्तिक कष्ट नहीं होता; क्योंकि—**न तत्र रोगो न जरा न मृत्युः** वहाँ न रोगी होते, न बुढ़ापा आता, न मृत्यु होती। वहाँ भूख-प्यास लगती नहीं। न ब्याह होता, न बच्चे होते। शारीरिक-मानसिक कोई वैयक्तिक दुःख वहाँ नहीं होता। लेकिन उन महात्माओंको भी एक दुःख होता है—

यच्चित्ततोवः कृपयानिदंविदां दुरन्तदुःखप्रभवानुदर्शनात्।

—भागवत.

वे सिद्ध पुरुष वहाँ ब्रह्मलोकसे देखते हैं कि संसारके लोग बहुत दुःखी है और दुःखी हैं केवल नासमझीसे। शरीर रोगी है, बूढ़ा होगा, या बच्चा नहीं है, इन बातोंके लिए उनका दुःख है। आज सुखी हैं, इस क्षणमें कोई पीड़ा नहीं; किन्तु पचीस वर्ष बाद इस सम्पत्तिको कौन भोगे, कल क्या होगा—ऐसी चिन्ता करके दुःखी हैं। उनके दुःख ऐसे हैं कि उससे छुटकारा पाना अत्यन्त कठिन है। जिस परमात्माने उन्हें आज देह, इन्द्रिय, भोजन, भवन दिया है, उसके प्रति तो हैं कृतघ्न, उसका स्मरण नहीं और आगेकी चिन्तासे सूखे जा रहे हैं। ये सब अज्ञानके कारणसे दुःखी हैं, यह देख-देखकर ब्रह्मलोकके उन सन्तोंके चित्तमें बड़ी करुणा होती है। यह करुणाजन्य दुःख ही उन्हें होता है।

एक बालक जंगलमें गया। वहाँ उसने देखा कि सामनेसे शेर आ रहा है। वह बहुत डरा—'पेड़पर चढ़ना आता नहीं। भाग सकता नहीं। अब प्राण गये।' लेकिन शेर जब कुछ पास आगया तो बालकने देखा कि वह तो उसका बड़ा भाई ही शेरकी खाल ओढ़े है। बालक दौड़कर भाईके गलेसे लिपट गया और बोला—'भैया, मुझे आप डराते हो ?'

बड़े भाईने कहा—'डरानेकी क्या बात है ? यह तो हम दोनों खेल रहे हैं।' ये संसारके लोग ईश्वरको पहचान नहीं रहे हैं; इसलिए दुःखी हो रहे हैं। संसारमें दुःख तो कोई वस्तु नहीं है। ईश्वरको पहचाननेवाला कह देता है—

देख मौतका रूप धरे मैं नहीं डरूँगा तुमसे नाथ।

प्रश्न होता है कि जब संसारमें दुःख है ही नहीं तो ये कंगाल, कोढ़ी, अनाथ, दुःखीजन क्यों दीखते हैं ? अरे, इन रूपोंमें भी वह परमेश्वर ही है। उसने ये रूप इसलिए धारण कर रखे हैं कि उसे इन रूपोंमें देखकर तुम्हारा कठोर हृदय कुछ तो पिघले।

कुछ तो हृदयमें पड़ी माया, मोह, लोभकी गाँठ ढीली पड़े। तुम्हारा हृदय द्रवित करनेके लिए कभी वह चार चपत लगाता है और कभी दीन बनकर तुम्हारे सामने आता है। उसकी प्रत्येक क्रियामें सौहार्द है।

भक्त प्रत्येक रूपमें उस प्रभुको पहचानता है, इसलिए उसका हृदय सदा द्रवित रहता है। महाराज रन्तिदेव चक्रवर्ती सम्राट् थे; किन्तु एक बार उन्हें अड़तालीस दिन भोजन नहीं मिला; क्योंकि 'प्रजासे कर रूपमें जो धन प्राप्त हो, वह उसकी सुख-सुविधाकी व्यवस्थाके लिए है और अपराधियोंपर अर्थदण्ड लगाकर जो प्राप्त हो, वह प्रजाके शिक्षण तथा सुधार के लिए है'—यह रन्तिदेवका आदर्श था। शासनकार्यसे समय मिलनेपर निजी परिश्रमसे जो प्राप्त हो, उससे वे अपना तथा परिवारका भरण-पोषण करते थे। राज्य में अकाल पड़ गया। निजी परिश्रमसे कुछ प्राप्त होना कठिन हो गया। महाराज रन्तिदेव तथा उनकी पत्नी और पुत्रको अड़तालीस दिनतक उपवास करना पड़ा।

इतने लम्बे समय तक भूखे रहनेके पश्चात् भोजनकी व्यवस्था हुई। लेकिन भोजन करनेसे पहले ही एक ब्राह्मण अतिथि आगये। उन्हें सम्मानपूर्वक भोजन कराके विदा किया तो दूसरा अतिथि आया। उसके भोजन करके जानेपर एक चाण्डाल अतिथि कुत्तोंके साथ आगया। आदरपूर्वक उस चाण्डालको तथा कुत्तोंको जितना भी अन्न था, रन्तिदेवने खिला दिया। बचा केवल जल। अकालके समय जल मिलना ही कठिन था। उसे पीने ही जा रहे थे कि प्याससे व्याकुल एक कसाई आ पहुँचा। जल उसे पिला दिया गया। लोग कहेंगे कि बड़ा दुर्भाग्य था रन्तिदेवका; किन्तु दुर्भाग्य इसमें नहीं है कि मनुष्य भूखा रह जाय, दुर्भाग्य इसमें है कि मनुष्य पापकी—बेईमानीकी कमाई खा रहा है।

रन्तिदेवपर प्रसन्न होकर ब्रह्मा, विष्णु, महेश और धर्म—चारों प्रकट हो गये। उन्होंने राजासे वरदान माँगनेको कहा तो वे बोले—

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात्परामष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
आर्ति प्रपद्येऽखिलदेहभाजामन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः॥

—भागवत ९.२१.१२

'मुझे ऐश्वर्य नहीं चाहिए। अष्टसिद्धि लेकर सिद्धेश्वर नहीं बनना है। मोक्ष भी मुझे नहीं चाहिए। मुझे तो सब प्रणियोंके हृदयमें बैठा दीजिये!'

इसका अर्थ हुआ कि प्राणियोंके हृदयमें अब तीन चेतन रहें—एक तो जीव, दूसरे अन्तर्यामी परमात्मा और तीसरे रन्तिदेव। अतः भगवान्‌ने कहा—'प्राणियोंके हृदयमें तो मैं रहता ही हूँ।'

रन्तिदेव—'प्रभु! आप तो साक्षी, प्रकाशकके रूपमें विराजते हैं। मैं वहाँ भोक्ता बनकर रहना चाहता हूँ। प्राणियोंके अशुभ कर्मोंका फल दुःख उनके हृदयमें बैठकर मैं भोग लिया करूँ और वे अपने शुभ कर्मोंका फल सुख भोगें। दुःख उन्हें कभी न मिले।'

भक्तके हृदयमें इतनी करुणा होती है। रन्तिदेवके अतिरिक्त शिवि, दधीचि आदिके आख्यान उनकी करुणाके ही द्योतक हैं।

निर्ममः भगवान् अब भक्तके और लक्षण बतलाते हुए कहते हैं कि भक्तमें ममता नहीं होती। 'मम' शब्दमें 'नि' उपसर्ग मिलाना सीधे-सीधे पाणिनीय व्याकरणके अनुकूल नहीं है। लेकिन इस शब्दका प्रयोग बहुत हुआ है, इसलिए इसकी पद्धति समझना चाहिए। जैसे निर्वसनका अर्थ है वस्त्ररहित, निर्द्रव्यका अर्थ है द्रव्यहीन, वैसे 'मम' कोई पदार्थ नहीं है कि उससे रहित व्यक्ति कहा जाय।

'मम'में ही सब माया है। भक्तका लक्षण है 'मम'से मुक्त हो जाना; किन्तु 'मम' कोई वस्तु तो है ही नहीं। 'मम' आभासभास्य

नहीं है, साक्षीभास्य है। 'मम'का अर्थ—सम्बन्ध जो हृदयमें रहता है। अतः 'मम'का अर्थ है—मम इति बुद्धिः। निर्ममः निर्गता ममेति बुद्धिर्यस्मात्—यह मेरा है, ऐसी बुद्धि जिसमें नहीं रही। उसे निर्मम कहेंगे।

लोग यह कहकर रोते हैं—'मेरा पुत्र नहीं रहा, मेरा धन नहीं रहा, मेरा पति या पत्नी नहीं रही!' लेकिन भक्त वह है जो रोता है—'हाय, मैंने भगवान्को छोड़कर किसी सांसारिक वस्तुको अपनी कहा।' संसारी रोता है तब, जब संसारमें उसका कोई 'मेरा' नहीं रहता और भक्त रोता है तब, जब उसे संसारमें कुछ 'मेरा' प्रतीत होता है। यह सब संसार किसका—भगवान्का या तुम्हारा? प्रधान कौन—भगवान् या तुम? यदि सब भगवान्का है तो स्वामी अपनी सम्पत्ति एक दूकानमें रखे या दूसरीमें, एक मुनीमके पास रहने दे या दूसरेके पास भेज दे; वह रखे या न रखे, इसमें तुम्हें सुख-दुःख क्यों हो?

मुखसे 'मेरा' कह देनेसे कोई 'मेरा' नहीं हो जाता और 'मेरा' न बोलनेसे कोई ममत्व छूट नहीं जाता। लोग पूछनेपर अपने पुत्रको कहते हैं—'यह आपका ही बेटा है।' इससे पुत्रमें उनकी ममता नहीं है, यह सिद्ध नहीं होता। मुनीम मालिककी दूकानको 'मेरी' कहता है। वकील, डाक्टर, ऐजेण्ट जिनका काम लेते हैं, उनके उस कामको 'मेरा काम' कहकर बोलते हैं। इस बोलनेसे उन कामोंमें उनकी ममता नहीं हो जाती। 'मेरे' पनका भाव मनमें होता है। वस्तुएँ तो सब ईश्वरकी बनायी हैं। अतः निर्मम वह है, जो वस्तुको 'मेरी' तो भले कह ले; लेकिन मनमें अपनी न माने।

ममता तू न गई मेरे मन तें।

मनसे इस ममताको निकालना कठिन होता है। ज्ञानीके मनमें न 'मम' होता है न संसार। भक्तके मनमें ईश्वरके

प्रति ममत्व होता है—'मैं प्रभुका।' प्रेमीका 'मम' ईश्वर बन जाता है।

'मैं उसका'में अभी निकटता और परिचय नहीं है। तुम अपनेको भगवान्‌का तो कहते हो; किन्तु भगवान्‌ने तुम्हें अपना स्वीकार किया या नहीं? जब भगवान्‌ने स्वीकार किया—'तुम मेरे', तब सम्बन्ध हो गया। तब भक्त कहता है—'तुम मेरे।' यदि संसारकी किसी वस्तुमें मन गया तो वह ममता हो गयी। तत्त्व-ज्ञानी परमात्मासे एक होकर बैठता है। परमात्मा उसका 'मेरा' नहीं है। परमात्मा उसका स्वरूप ही है। भक्त भगवान्‌को 'मेरा' कहता है।

'मम' यह षष्ठ्यन्त प्रतिरूपक अव्यय है। यह सम्बन्ध सूचक अव्यय है। 'अस्मद्'का षष्ठीमें 'मम' बनता है। 'यह' 'मेरा'का रूप है। बचपनमें तुम दो आनेको अपना कहते थे और उसके लिए रोते थे। कुछ बड़े हुए तो दो रुपयेके लिए रोने लगे। फिर दो सौ, दो हजार, दो लाख और दो करोड़के लिए; लेकिन है यह तुम्हारा वह बचपनवाला स्वभाव ही। तब दो आनेको 'मेरा' कहते थे, अब दो करोड़को 'मेरा' मानकर रोते हो।

इस 'मम'का पेट खाली कर दो—इसमें कोई सांसारिक पदार्थ न रहे तो उसमें ब्रह्म आजाय। 'मम'के पेटमें जो स्त्री-पुत्र, मकान-दूकान, पद-प्रतिष्ठा भरी है, उसे निकाल दो। या तो 'मम' मरे या फिर 'मम'के भीतर भगवान् आयें। भगवान् ही 'मम' रहें, तब यह 'मम' मरेगा।

निष्क्रान्तः ममकारात् इति निर्ममः। निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्याः। जो 'मम' इस प्रकारकी बुद्धिसे ऊपर उठ गया, वह निर्मम। लोकमें निर्मम शब्दका अर्थ निष्ठुर होता है; किन्तु यहाँ निर्ममका अर्थ ममतारहित है, निष्ठुर नहीं। क्योंकि मैत्रः करुण

एव च भगवान्ने उसे कहा है। जो सबसे मैत्री रखता है, जिसके हृदयमें करुणा है, वह निष्ठुर कैसे हो सकता है ?

करुण एव चके पश्चात् **निर्ममः** साभिप्राय कहा गया है। भक्त सबका मित्र है, सबको स्नेह देता है और दुःखियोंपर करुणा भी करता है; किन्तु राजा भरतके समान ममता करके बँधता नहीं है। राजा भरतने मृगीके तुरन्तके उत्पन्न बच्चेको मातृहीन देखकर उसपर करुणा की। उसे उठा लाये और उसका पालन-पोषण करने लगे; उस मृगशिशुमें ममता कर लेनेके कारण उन्हें मृग-योनिमें जन्म लेना पड़ा। भक्त करुणा तो सबपर करता है; किन्तु ममता किसीसे नहीं करता। व्यक्तियोंसे उसकी ममता नहीं है। उसकी ममता है तो भगवान्में है।

निरहंकारः अहंकार क्या ? ईश्वरके कर्तृत्वको हँकारा नहीं, वह अहंकार। भगवान् नारायण शेषशय्यापर लेटे हुए लक्ष्मीजीसे एक कहानी कह रहे हैं। वे सत्यवाक्, सत्यसंकल्प हैं, अतः उनकी कहानी जगत्के रूपमें प्रकट होती जा रही है। यह मायाके पर्देपर नारायणके संकल्पका सिनेमा चल रहा है। इस कहानीमें जीवको हँकारना—हुँकारी भरना चाहिए। जो कुछ हो रहा है, जो सामने आता है, सबको 'हाँ' कहना है। यह न हँकारना-अहंकार है। जहाँ यह अहंकार निकल गया—वहीं हँकारना आगया, तो निरहंकार हो गये। ईश्वर जैसे रखे ठीक, जो करे वह ठीक।

अहंकार नाना प्रकारका होता है। धन, बल, विद्या, रूप, कुलका गर्व, इसी प्रकार उच्च वर्णका, आश्रमका, बड़ोंसे सम्बन्ध होनेका, अधिकारका—ये सब तो स्पष्ट दीखनेवाले मोटे-मोटे अहंकार हैं। अहंकार तो होता है तपका, भजनका, त्यागका, नम्रताका और अहंकारहीन होनेका भी। अहंकारका सबसे

भयानक रूप यही है कि कोई अपनेको सर्वथा अहंकार-रहित समझे।

अहंकार 'अहं' नहीं है। यह तो 'अहं'को कार है, जैसे आपकी मोटरकार होती है। 'अहं'के साथ 'कृञ् करणे'का जो 'कार' जुड़ा है, यह प्रकृतिकी कृति है। क्रियाशक्ति युक्त 'अहं'का नाम अहंकार है। अतः क्रिया होने दो; किन्तु स्वयं निरहंकार रहो। सेवक स्वामीके सामने अहंकार नहीं दिखला सकता! स्वामीके सामने तनकर खड़ा होना अशिष्टता है। भक्त सदा भगवान्‌के सामने है। अतः उसे तो सिर झुकाये रहना है।

ज्ञानी भक्तने जैसे पहले अविद्यासे देहादिमें **अहं-मम** किया था, वैसे ही अब वह भक्तियुक्त ज्ञानसे भगवान्‌में अपना **अहं-मम** समर्पित कर देता है। उसकी दृष्टिमें सम्पूर्ण सृष्टि परमात्माकी है, परमात्माका स्वरूप है।

मैं अपनो मन हरिसों जोरयौ।
हरिसों जोरि सबनसों तोरयौ॥

भक्तके मनमें 'यह मेरा' ऐसा भाव संसारकी किसी वस्तुके प्रति नहीं आता। यह अनुभवकी बात है कि भक्तिसे संसारकी ममता छूटती है। यदि सौ कार्योंमें आधे अच्छे और आधे बुरे हैं तो पामर पुरुष या तो दोनों प्रकारके कर्म करेगा या केवल बुरे-बुरे कर्म करेगा। धर्मात्मा पुरुष कर्मोंका विभाग करके बुरे कर्म छोड़ देगा और केवल अच्छे कर्म करेगा। भक्त कहेगा—'मुझे अपना तो कोई कर्म ही नहीं करना। सबके सब कर्म भगवान्‌के।' भक्तिमें ममताको निवारण करनेकी असाधारण क्षमता है। व्रजके एक सिद्ध महात्माकी वाणी है—

प्रभुजी मैं तेरा तू मेरा।

× × ×

बिना ममत्व एकत्व न होई।

भगवान्में ममत्व हुए बिना उनसे एकत्व—हृदयका मिलना नहीं होता, यह व्रजके प्रेमियोंका वेदान्त है। लेकिन भक्त अपना एक छोटा-सा अभिमान बचाये रखना चाहता है। वह कहता है–

अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥

वेदान्तमें आत्माको ब्रह्मरूपमें जान लेनेपर परिच्छिन्नताका अभिमान सर्वथा कट जाता है। पूर्णमें अभिमान नहीं होता। अतः निरहंकार स्थिति हो जाती है।

अहकार क्या है ? यह ब्रह्मसे तो उत्पन्न नहीं हुआ है। ब्रह्ममें माया कल्पित है। मायाकी दो शक्ति हैं—विद्या और अविद्या। इनमें विद्या मुक्त करनेवाली है। अविद्याका रूप है—'**मैं अरु मोर तोर तैं माया।** यही बाँधनेवाली है। कल्पित मायामें यह अविद्या कल्पित है।

अहंकार परमात्माकी ओरसे नहीं आता। अनादि कर्मसंस्कार-से इस देहमें 'मैं' भाव ही अहंकार पिशाच है—

रूपोद्भवो रूपततिप्रतिष्ठो रूपासनो रूपगृहीतवेशः।
स्वयं विरूपः स्वविचारकाले धावत्यहंकार पिशाच एषः॥

यह अहंकाररूपी पिशाच देहसे उत्पन्न हुआ है। देह ही में रहता है और देहको ही खाता है। लेकिन विचार करने लगो तो इसका कोई अस्तित्व, कोई रूप नहीं मिलता। इसलिए ठूँठमें प्रतीत होनेवाले प्रेतके समान ही यह है। शरीरमें ढूँढ़ो तो अहंकार कहाँ रहता है ? हड्डी, मज्जा, मांस, स्नायु, रक्त—किसमें इसका निवास है ? हाथ-पैर, पीठ-पेट, आँख-नाक-कान, हृदय-फेफड़ा-मस्तिष्क—कहाँपर अहंकार रहता है ? ढूँढ़नेपर इसका कहीं पता नहीं लगता। अहंकार कैसा है—लाल, काला, हरा, नीला ? कितना बड़ा है—कितना लम्बा, चौड़ा-मोटा ? इसका वजन

कितना है ? यह सब कुछ पता नहीं लगेगा। इसकी न कोई आकृति है, न विकृति।

एक सज्जन लड़कोंके खेलनेवाला एक रबरका साँप खरीद लाये। दिनमें बच्चे उससे खेलते रहे। रातमें वही सज्जन शौच जानेके लिए उठे तो शौचालयके मार्गमें पड़े उस रबरके साँपपर उनका पैर पड़ गया। पैर पड़नेसे साँपका मुख उठकर पैरमें लग गया। वे तुरन्त लौट आये। अब उन्हें लहरें आने लगीं, मूर्च्छित हो गये। क्योंकि सर्पके काटनेका अधिकांश प्रभाव मानसिक होता है। नब्बे प्रतिशत सर्प निर्विष होते हैं। उसके काटनेपर मनुष्य केवल अपने मानसिक भयके कारण ही मरता है। उन सज्जनकी चिकित्सा करने मान्त्रिक आये, डाक्टर आये; किन्तु किसीसे लाभ ही न हो। अचानक एक व्यक्तिको सूझा कि सर्पको ढूँढ़ना चाहिए। पता तो लगे कि किस जातिका सर्प है ? वह ढूँढ़ने गया और हँसते हुए रबरका सर्प उठा ले आया। उसे देखते ही वे सज्जन भी स्वस्थ हो गये। यही अवस्था अहंकारकी है। वह रबरके जैसा ही भ्रम है।

इस संसारमें ऐसा क्या है, जिसपर तुम अहंकार करते हो। एक बहुत उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्ति सड़कपर चलता हुआ मोटरसे बचनेके लिए हटा तो बिजलीके खम्भेसे टकरा गया। सिरमें चोट लगनेसे वह सब पढ़ा-लिखा भूल गया। यह विद्या जो किसी नस-नाड़ीमें जरा-सी चोट लगनेसे चली जाती है, गर्व करने योग्य है ? मैंने करोड़पतियोंको कंगाल होते देखा है और जो दस वर्ष पहले कंगाल थे, आज करोड़पति हैं। हमारे आपके सामने अभी पिछले थोड़े-से वर्षोंमें कितने राजाओंका राज्य चला गया, कितने देशोंके बादशाह गद्दीसे उतारे गये और जो लोग कारागारमें बन्दी थे, वे आज गद्दीपर हैं। यह रूप जिसे आज बहुत सुन्दर कहा जाता है, कल्पना तो करो कि आज जब बाल पक जायँगे, दाँत

टूटकर मुख पोपला हो जायगा, गालोंपर गड्ढे और झुरियाँ पड़ी होंगी, कैसा दीखेगा। **अरे—धन जोबनका गरब न कीजै।** यह तो—

चार दिनाकी चाँदनी, फेर अँधेरा पाख है।

संसारकी वस्तुओंकी तो चर्चा क्या, तपस्या, त्याग, वर्षोंका साधन, किसीपर क्रोध आजाय तो क्षण भरमें नष्ट हो जाता है। मनमें आये कामके विकारको न रोक सके तो सब चौपट। अतः इन सबपर अहंकार क्या करना ?

भक्त संसारकी सब वस्तुओंका रहस्य जानता है। वह समझता है कि कोई सांसारिक पद-पदार्थ स्थिर नहीं है। अतः इसको भगवान्‌को अर्पित करो। इसे अपना मानकर गर्व करोगे तो फँसोगे—गिरोगे।

समदुःखसुखः 'ख'का अर्थ होता है आकाश। सुख अर्थात् अच्छा आकाश और दुःख अर्थात् बुरा आकाश। इसे हृदयाकाश कह लो तो बात समझमें आयेगी। मेरे बचपनमें एक बार बड़ी भारी आँधी आयी। पितामहने मेरे मुखपर गमछा बाँध दिया, जिससे मुख-नेत्रमें धूलि न भरे। दिनमें इतना अन्धकार हो गया कि अपना हाथ नहीं दीखता था। अन्धकार घटा तो आकाश लाल धूलिसे भरा दीखा। आकाशमें आँधी, वर्षा, बादल—यह दुःख हुआ और आकाश निर्मल है, शीतल मन्द वायु चल रही है, चाँदनी छिटकी है, यह सुख हुआ। इसी प्रकार हृदय अशान्त है, उसमें वासनाकी, कामकी आँधी चल रही है, क्रोधकी गर्मी, लोभकी बाढ़ आयी है तो दुःख। वासना शान्त है, आत्मचन्द्र या अपने इष्टदेवकी चन्द्रिका फैली है, सन्तोषकी निर्मलता है तो सुख है। ये सुख-दुःख बाहरके पदार्थोंमें नहीं होते। ये अपनी वासनाके अनुसार होते ह। चोरको अंधेरी रात प्रिय लगती है।

अभीष्टकी प्राप्तिसे सुख और अनिष्टकी प्राप्तिसे दुःख होता है। मनुष्यको दुःख ही तंग नहीं करता, सुख भी बहुत तंग करता है। सुख तो रस्सी है। सुखका भोग देकर व्यक्तिको चाहे जहाँ भटकाते फिरो। सुखके लोभमें आजकल लड़के-लड़कियाँ स्कूल-कालेज छोड़कर, माता-पिताको दुःखी करके सिनेमा-स्टार बनने बम्बई भाग आते हैं और यहाँ आकर उनकी जो दुर्दशा होती है, भुक्त-भोगी ही जानते हैं। इसी प्रकार सुखका लोभ देकर ये इन्द्रियरूपी ठग हृदयमें हमें बाहर संसारमें खींच लाते हैं—'आओ, यहाँ इस रूपमें, इस रसमें, इस गन्धमें, इस शब्दमें, इस स्पर्शमें सुख है।' लेकिन संसारमें सुख तो कहीं है नहीं। यहाँ आकर दुःख तथा निराशामें ही भटकना पड़ता है।

सुखके निमित्त मानते हैं हम संसारके पदार्थों-परिस्थितियोंको। अब मान लो कि सुखका निमित्त मित्र हमें मिला। क्या उसके मिलनमें सुख है ? नहीं। यदि घरमें कोई मरा हो, उसका शव घरमें पड़ा हो और उस समय मित्र आजाय तो मित्रको देखकर अधिक रोना आता है। कोई बहुत अभावमें, पीड़ामें हो तो भी मित्रको देखकर रोना आता है। सुख उत्तम भोजन, वस्त्र, धनमें है ? एक मरणासन्न रोगीके सामने बढ़िया भोजन, सुन्दर वस्त्र, बहुत-सा धन रखा जाय तो वह सुखी होगा या रोयेगा ? सुख पदार्थमें नहीं, व्यक्तिके मनमें होता है।

एक आयुके दो बच्चे एक साथ धूपमें खेल रहे थे। उनमें-से एकको धूप लगने से ज्वर आगया। धूप वही, स्थान वही और दोनों समान देरतक धूपमें रहे; फिर एकको ही ज्वर क्यों ? इस-लिए कि उसके शरीरके तत्त्व धूपको उतने समय सह नहीं सके। ज्वर आनेमें कारण धूप नहीं है, शरीरके भीतरके तत्त्वोंकी स्थिति

हुई है। घटना एक होती है और उससे कोई सुखी होता है और कोई दु:खी; क्योंकि दोनोंके मनकी स्थिति भिन्न-भिन्न है।

यहीं कथामें जो श्रोता आते हैं, उनमें दो प्रकारके लोग विशेष हैं। एक ऐसे हैं, जिन्हें कोई करुण प्रसंग आये तो आँसू गिरने लगते हैं। रामचरितकी कथामें दशरथजीकी मृत्यु, लक्ष्मण-शक्ति तथा कृष्णचरितमें गोपियोंके वियोगकी कथा होनेपर वे रोने लगते है। लेकिन दूसरे प्रकारके लोगोंको ऐसे करुण प्रसंग सुनकर आँसू नहीं आते। उनके नेत्रोंमें अश्रु आते हैं श्रीराम-विवाह, रामराज्य-भिषेक, श्रीकृष्णका सौन्दर्य-माधुर्य तथा उनकी आनन्दक्रीड़ाकी कथा सुनकर। भक्तिमार्गमें करुण प्रसंग सुनकर रुदन करनेवालोंकी अपेक्षा भगवान्‌की आनन्द-लीलाका वर्णन सुनकर जिनके अश्रु गिरते हैं वे श्रेष्ठ माने जाते हैं; क्योंकि अश्रु प्रेमाश्रु होते हैं।

कुछ लोगोंको किसीकी मृत्युका समाचार पानेपर रोना आता है। कुछ ऐसे हैं जो अपने किसी सम्बन्धीकी मृत्युसे ही रोते हैं। कुछ ऐसे हैं कि उनका कोई आत्मीय मरे, तभी उन्हें रोना आता है। लेकिन कोई ऐसे भी होते हैं कि किसी भी दूसरेकी मृत्युसे उन्हें रोना नहीं आता। उन्हें अपनी मृत्यु निश्चित जान पड़े, तभी रोना आता है। यह सब मनकी भिन्न-भिन्न रचनाका ही परिणाम है।

एक मुर्दा सामनेसे जा रहा है तो आपको कोई दु:ख नहीं होता। लेकिन पता लग जाय कि वह तो आपके किसी सम्बन्धीका मुर्दा था—तो आप दु:खी हो जाते हैं। इतनी ट्रेनें, बसें, जहाज यात्रियोंसे भरे प्रतिदिन जाते हैं। आप किसीके जानेपर दु:खी नहीं होते। लेकिन आपका कोई स्वजन जाने लगता है तो आपको दु:ख होता है। इसका अर्थ है कि किसीका मरना या अन्यत्र जाना दु:खद नहीं है। उससे अपना सम्बन्ध हो तो उसका मरना

या जाना दुःखद हेतु घटना नहीं, सम्बन्ध है। जो अपना नहीं है, उसे अपना समझ बैठे हैं—यही अध्यास है।

घटनाएँ प्रकृतिके प्रवाहसे या प्रारब्धानुसार घट सकती हैं। उसको देखकर मनमें पहले जैसा संस्कार हो, वैसा प्रभाव मनपर पड़ता है। उसे देखकर सुख हुआ तो भी वह मनका विकार ही है और दुःख हुआ तो भी मनका विकार—बिगड़ना ही है।

अब इनसे भिन्न वस्तु है—'मैं सुखी, मैं दुःखी।' यह सुखी-दुःखीभाव दिनमें बार-बार आता-जाता रहता है। पता ही नहीं लगता कि हम सुखी हैं या दुःखी। किसीने प्रशंसा कर दी तो हम सुखी और किसीने तनिक व्यंग्य कर दिया तो दुःखी। हृदयमें सदा न सुखीभाव रहता है, न दुःखीभाव। सुषुप्तिमें सुखी-दुःखी दोनों भाव नहीं रहते। उस समय केवल साक्षी रहता है। यही साक्षी जब सुखी आभाससे अपनेको एक कर लेता है तो 'मैं दुःखी' यह वृत्ति होती है। चित्तमें सुख या दुःखकी छाया पड़ती है। उस छायाको अपनेको मिलाकर हम सुखी या दुःखी होते हैं।

दुःखीपना परमात्माके अज्ञानसे आता है। मनमें दुःख-सुखका आना तो मनके सहज भावसे होता है। जैसे कभी धूप, कभी छाया आती है। संसारमें अच्छे-बुरे निमित्त आते ही रहते हैं। इनको पकड़कर 'मैं सुखी, मैं दुःखी' अपनेको मान लेना, यही मूर्खता है। 'मैं दुःखी, मैं दुःखी' यह क्यों दुहराते रहते हो? तुम्हें कुछ दुहराना ही है तो—'मैं ब्रह्म हूँ, मैं ब्रह्म हूँ' यह दुहराओ और इसमें भय लगता हो तो 'दासोऽहं' दुहराओ।

किसीके मरनेसे, कुछ खो जानेसे—किसी घटना विशेषसे सुख-दुःख नहीं होता। यह मनका स्वभाव ही है कि वह कभी गरम, कभी सुखी कभी दुःखी होता रहता है। तुम मनके इन दोनों रूपोंको देखते रहते हो। जैसे नाटकमें मृत्युका अभिनय

हुआ तो अभिनयकी कलामे तुम प्रसन्न हुए और विवाहका अभिनय हुआ तब भी अभिनयकी कलासे ही प्रसन्न हुए; वैसे ही यह सब ईश्वरका नाटक चल रहा है, ऐसा समझ लो तो सुख-दुःखमें समान हो जाओगे। यह सब पञ्चभूतोंका प्रपञ्च है, यह सब प्रकृतिका खेल है, यह त्रिगुणोंका कार्य है, यह मनकी लीला है अथवा यह सब ईश्वरका नाटक है—इनमें-से कोई भी ज्ञान मान-समझ लो तो दुःख-सुखमें तुम समान रहोगे।

मन चंगा तो कठौतीमें गंगा।

संसारमें सुख-दुःख बनाने-बिगाड़नेकी आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता है अपने मनको ठीक रखनेकी। संसारकी ऐसी कौन-सी दिशा है, जिसमें दुःख नहीं है?

कास्ता दृशो यासु न सन्ति दोषाः,
कास्ता दिशो यासु न दुःखदाहा।
कास्ताः प्रजा यासु न भङ्गुरत्वं,
कास्ताः क्रिया यासु न नास्ति माया॥ योगवासिष्ठ.

दुःखका दावानल तो सभी दिशाओंमें है। उल्लूको रात पसन्द है और कौवेको दिन। किन्तु दिनके बाद रात और रातके बाद दिन आयेगा ही। किसीके चाहनेसे न रात ही रात रह सकती है और न दिन ही दिन। इसी प्रकार जीवनमें अनुकूल-प्रतिकूल स्थितियाँ आती-जाती रहती हैं। यह संसार तो रथके पहियेके समान घूमता है—

नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण।

सड़कपर कहीं सुन्दर दृश्य है, तो कहीं कूड़ा भी पड़ा है। जीवनकी सड़क भी ऐसी ही है। कभी मनके अनुकूल स्थिति आती है, कभी प्रतिकूल। यदि तुम बात-बातपर सुखी-दुःखी होने लगे तो सदा अशान्त रहोगे। यह सम्भव नहीं है कि सदा सब कुछ

तुम्हारे मनके अनुसार ही हो। केवल ईश्वर ही ऐसा है कि उसके संकल्पमें कभी बाधा नहीं पड़ती। सृष्टिमें ऐसा कोई जीव नहीं है, जिसके सब संकल्प पूरे होते रहें। तुम्हारे संकल्पमें बाधा पड़ती है तो तुम्हें दुःख और संकल्प पूरा होनेपर सुख होता है। लेकिन यदि तुम यह देखो कि जिस ईश्वरने तुम्हें अज्ञानान्धकारसे जगाकर यह मनुष्य जीवन दिया, जो तुमपर निरन्तर कृपाकी वर्षा नाना रूपोंमें करता है, दुःख भी उसीका दिया है, तो उस दुःखमें भी तुम्हें प्रसन्नता होगी।

जिस गाँवमें मेरा जन्म हुआ है, उसमें उस समय कोई दूकान नहीं थी। छोटा-सा गाँव है और सड़कके पास पड़ता है। पैदल चलनेवाले लोग रात हो जानेपर प्रायः मेरे घर आजाया करते। रातके आठ-दस बजे कभी ऐसे अतिथि आते। घरमें कभी लकड़ी होती, कभी नहीं। कभी सब्जी होती, कभी नहीं। यदि अतिथि भोजनसे पहले आगये—कभी-कभी आठ-दस भी आ जाते तो पहले उन लोगोंका भोजन करा दिया जाता। उसके बाद यदि रूखा-सूखा बचता तो घरके सदस्य भोजन करते और न बचता तो भूखे सो रहते। दूसरे दिन दोपहरको भोजन बनता था। ऐसी घटना बार-बार होती थी। लेकिन इसमें हम लोगोंको दुःख होता हो, ऐसी बात तो नहीं थी। घरपर अतिथि आते हैं, यह तो गौरवकी बात थी।

ईश्वर किसीको भूखा, नंगा रखता है, कष्ट देता है, उसकी इच्छा पूर्ण नहीं करता तो इसका यह अर्थ नहीं है कि वह उपेक्षा करता है। वह उसे अपना मानता है। दूसरोंको खिलाकर अपनों को ही तो भूखा रख सकता है।

यह मेरे सामनेकी बात हैं कि दो मित्रोंको एक स्थानपर पंक्ति लगाकर खड़ा होना पड़ा। उनमें-से एक मित्रके जेबसे मनीबेग.

निकल गया। इससे वे बहुत दुःखी तथा नाराज हुए। 'यहाँके लोग चोर हैं!' ऐसी गालियाँ देते रहे। थोड़ी देरमें उनके मित्रने उन्हें मनीबेग दिया तो हँसने लगे। बोले—'यह शरारत तुमने की थी?'

मित्रने कहा—'मैंने शरारत नहीं की, तुम्हें सावधान ही किया है। तुम इतनी लापरवाहीसे मनीबेग रखते हो। मेरे स्थानपर कोई भी उसे निकाल सकता था।' लोग जब समझते हैं कि हमें सुख देनेवाला दूसरा है और दुःख देनेवाला दूसरा तो सुख देने-वालेको प्रशंसा करते हैं और दुःख देनेवालेको गाली देते हैं; किन्तु सुख-दुःख दोनोंका देनेवाला तो एक ही है।

मेरे एक व्याख्यानदाता मित्र थे। सहस्रोंकी भीड़को पाँच मिनटमें ही वे रुला देते थे और उस रोती हुई सभाको एक मिनटमें हँसा दिया करते थे। ईश्वर सबसे बड़ा कवि, गायक तथा कला-चतुर है। उसकी पलकें कभी खुलतीं, कभी बन्द होती हैं। उसीका स्वर कभी कोमल, कभी कठोर होता है। उसीका स्पर्श कभी कड़ा कभी मृदुल लगता है। सुख-दुःखमें उसे समान देखो। बचपनमें कई बार कोई परिचित पीछेसे आकर नेत्र बन्द कर देते थे और चाहते थे कि उनका नाम बताया जाय। अपना अनुमान ठीक न निकले नाम बतानेमें और वे देरतक नेत्र बन्द किये रहें तो झुँझलाकर गाली भी दे बैठते थे; किन्तु नेत्र खुलनेपर देखते कि वह तो अपना मित्र है। इसी प्रकार सुख-दुःखको आँख-मिचौनी खेलनेवाला ईश्वर अपना मित्र ही है।

समदुःखसुखःका अर्थ है कि मरना-जीना, संयोग-वियोग, वस्तुका आना-जाना सब बराबर हैं। सुख-दुःख दोनोंको स्वप्न समझो। एक ही ब्रह्म सुख-दुःख दोनोंका अधिष्ठान है। एक ही साक्षी दोनोंका प्रकाशक है।

अहंकारस्य दृश्यन्ते जन्ममृत्युश्च नात्मनः । भागवत.

अहंकार न हो तो सुख और दुःख क्या ? जैसे काला-गोरा रूप नेत्रसे दीखता है, निन्दा-स्तुति कानसे सुनी जाती है, वैसे सुख-दुःख मनमें नहीं होते। यह लाल, यह काला अथवा यह निन्दा, यह स्तुतिके समान यह सुख और यह दुःख—ऐसा प्रतीत नहीं हुआ करता; 'मैं सुखी, मैं दुःखी' ऐसा ही प्रतीत होता है।

नाकृतिर्न च कर्माणि न वयो न पराक्रमः । योगवासिष्ठ.

सुख-दुःखमें कोई रूप या रंग नहीं है। इनका कोई कर्म भी नहीं कि सुख या दुःख होनेपर यह काम होगा। इनकी आयु भी नहीं है। कोई नहीं कह सकता कि सुख इतने दिनका या दुःख इतने दिनका है। इनमें कोई पराक्रम भी नहीं है। सुख-दुःखका अभिमान ही होता है, अतः इनको स्वीकार मत करो। यह मत स्वीकार करो कि हमको इन बातोंसे सुख और इन बातोंसे दुःख होता है। ईश्वरका यह नियम है कि जबतक मनुष्य स्वयं हस्ताक्षर न करे, स्वयं स्वीकृति न दे, तबतक वह सुखी या दुःखी नहीं होता। 'मैं सुखी, मैं दुःखी हूँ'—यह अहंकृति, अध्यास अथवा अपनी स्वीकृति ही तुम्हें सुख-दुःख देती है। तुम इन्हें स्वीकार मत करो। सुख या दुःखके निमित्त आयँगे और बह जायँगे।

एक बार भगवान् गौरीशंकर कहीं जा रहे थे। मार्गमें सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार मिल गये। उन्होंने उमा-महेश्वरको प्रणाम नहीं किया। इससे शंकरजी तो कुछ नहीं बोले; किन्तु उमाको बहुत बुरा लगा। वे बोलीं—'पाँच वर्षके बालक ऊँटकी भाँति सिर उठाये चले जा रहे हैं। भगवान् नीलकंठको प्रणाम करने तककी इनमें शिष्टता नहीं है। अतः ये ऊँट हो जायँ।'

चारों कुमार शान्त भावसे चले गये। कुछ दिन बीतनेपर उमा-महेश्वरको स्मरण हुआ कि सनकादिका शाप दिया था,

चलकर देखें कि उनको क्या दशा है? वृषभपर बैठकर उन्हें ढूँढ़ने निकले। देखा कि एक वृक्षके नोचे चारों ऊँटके रूपमें बैठे मजेसे पागुर कर रहे हैं। शंकरजोने पूछा—'कहो क्या दशा है?'

चारों बोले—'भगवन्! वैसे तो सभी देह आत्माके वस्त्र ही हैं, क्या सूती कोट और क्या ऊनी कोट? जैसा देह मनुष्य, वैसा ऊँटका। लेकिन माता पार्वतोने हम लोगोंपर बड़ो कृपा को। मनुष्य देहमें भिक्षा प्राप्त करनो पड़ती थो। शौच जानेपर स्वच्छता करो तथा अन्य कई नियम पालन करो—यह सब लगा था। अब ऊँट होनेपर मानव धर्मके बोझसे छुट्टी मिल गयी। खड़े-खड़े वृक्षोंके पत्ते खा लेते हैं। आवश्यकता हुई—शौच कर लेते हैं। कहीं भी वृक्षकी छायामें बैठे रहते हैं! हम सब इस रूपमें खड़े आनन्दमें हैं।'

इस प्रकर भक्त प्रत्येक अवस्थामें प्रसन्न रहता है। जब भरतको डाकू पकड़ ले गये—उन्हें नहलाया, उत्तम वस्त्र पहनाकर चन्दन लगाया, पुष्पमाला पहनायो। खूब खिलाया; तब भी वे प्रसन्न थे और बलिदानके लिए देवीके सम्मुख ले जाकर खड़ा किया, तब भी प्रसन्न थे।

भक्तमें चाहे सुखोपनेका अभिमान जागे या दुःखोपनेका, उसके लिए दोनों समान हैं। भक्तकी दृष्टि सुखपर जाय तो भगवान् छूट गये। वह उत्तम भवन, वस्त्र, सवारी, धनको सम्हालेगा या भगवान्‌को? इसी प्रकार यदि—'यह मेरा मरा, यह मेरा खोया, यह मेरा लुट गया' करके रोओगे तो भगवान् स्मरण आयँगे या दुःख देनेवालोंसे शत्रुता होगी?

गोस्वामी तुलसीदासजो जब वाराणसीमें रहते थे, एक दिन रातमें उनकी कुटियापर चोर पहुँचे। चोरोंने देखा कि साँवले-गोरे दो धनुषधारी युवक सावधानोसे कुटियाको रखवाली कर रहे हैं।

चोर लौट गये और थोड़ी देर बाद फिर आये; किन्तु फिर उन्हें वे पहरेदार सावधान मिले। रातमें घूम-घूमकर कई बार वे चोर आये; किन्तु पहरेदार कहीं हटते तब तो वे चोरी कर पाते। उलटे हुआ यह कि पहरेदारोंका कई बार दर्शन होनेसे चोरोंका चित्त ही बदल गया। वे सवेरा होनेपर गोस्वामी तुलसीदासजीके समीप जाकर उनके चरणोंपर गिर पड़े। अपना परिचय और रातकी घटना सुनकर बोले—'वे आपके पहरेदार कौन हैं? हमें उनके दर्शन करा दीजिये!'

चोरोंकी बात सुनकर गोस्वामीजी दुःखी होकर बोले—'मैंने ये पुस्तकें, कागज, कलम और कुछ आटा-दाल रख लिया है, इसके लिए मेरे प्रभुको इतना कष्ट करना पड़ता है। वे रात-रात भर जागकर रखवाली करते हैं।' उसी समय कुटियाका सब सामान गोस्वामीजीने बाँट दिया और वे चोर तो उसी दिनसे भक्त हो गये।

जो निरहंकार है, भक्त है, वह सुख-दुःखमें समान रहेगा। सुख-दुःख दोनोंको अपने प्रभुका दिया हुआ मानकर प्रभुपर ही अपनी दृष्टि रखेगा।

क्षमी अर्थात् क्षमा अस्यास्ति इति क्षमावान् जिसमें क्षमा है, वह क्षमाशील। क्षमा दुर्बलका धर्म नहीं है, शक्तका धर्म है। अपनेमें दण्ड देनेकी शक्ति रहनेपर भी अपराध करनेवालेको दण्ड न देना, इसे क्षमा कहते हैं। क्षमा पृथ्वीका मुख्य धर्म है। पृथ्वीपर कोई कुछ करे, भूमि सब सहती है।

'अपराधीको दण्ड मिलना चाहिए!' यदि तुम यह बात कहते हो तो संसारमें ऐसा कौन है, जिसने कभी कोई अपराध नहीं किया। अब दण्ड दो तो तुम्हारा पूरा जीवन अपराध-निर्णय और दण्ड देनेमें ही बीत जायगा। भगवान् तो छूट ही जायँगे। फिर

ईसामसीहने कहा है—'अपराधीको दण्ड वह दे, स्वयं जिसने कोई अपराध न किया हो।' तुम्हारे अपने जीवनमें कितने अपराध हुए हैं, यह तो देखो!

मनुष्य समयके चक्करमें पड़कर, परिस्थितिसे विवश होकर पूर्व जन्मके संस्कारोंकी प्रेरणासे तथा वर्तमान समय-स्थान आदिके प्रभावसे अनेक बार न करने योग्य काम कर बैठता है। उसकी परिस्थितिजन्य विवशताको समझना तो चाहिए। एक तोता साधुओंमें रहा तो 'सीताराम, सीताराम' बोलता है और दूसरा कसाईके घर रहा तो 'मारो, काटो' कहता है। अब 'मारो, काटो' कहनेवाले तोतेका क्या तुम मारोगे? उसका इसमें दोष क्या है? जैसे संगमें रहा, वैसा बोलना सीख गया। इसी प्रकारकी बात मनुष्यकी है। संसारमें सभी प्रकारके लोग हैं, साधु-पण्डित हैं तो गुण्डे-मवाली भी हैं। अब मनुष्य साधुओं, मवालियों, व्यापारियों, जुआरियों-जैसे भी लोगोंमें रहा, वैसा उसका स्वभाव बन गया। वैसा उसे अभ्यास पड़ गया। उसपर क्रोध करनेके बदले दया करनी चाहिए कि बेचारेका स्वभाव बिगड़ गया है। ये मवाली लोग कैसे गाली देकर परस्पर बात करते हैं, इनका स्वभाव ही तो बिगड़ा है। अतः तुम अपना स्वभाव मत बिगाड़ो।

किसीने गाली दी, दूसरेने उसे गाली दी और तीसरेने दूसरेको; इस प्रकार गाली लोकमें फैली। गालीके बदले गाली दी और बात मार-पीट तथा शत्रुतातक गयी तो बुराई बढ़ती गयी। एकने गाली दी और दूसरेने सह ली, बस बुराईकी परम्परा वहीं समाप्त हो गयी।

किसीने अपराध किया और उसे दण्ड दिलाना है तो न्यायालय जाना होगा, प्रमाण जुटाने होंगे। तुम स्वयं दण्ड देने लगे तो हाथमें डण्डा आया, मनमें क्रोध आया, मुखमें अपशब्द आये।

हाथ, मुख और मन तीनों अपवित्र हुए। एक बार एक नेता महामना मालवीयजीसे बोले—'आप मुझे सौ गाली दें। मैं उन्हें सह लूँगा।'

मालवीयजीने कहा—'यह तो ठीक कि आप गाली सह लेंगे आप अच्छे हैं; लेकिन गाली देनेसे मेरा मुख तो गन्दा होगा, तो मैं अपना मुख क्यों गन्दा करूँ ?' लेकिन कुछ लोग ऐसे भी होते है जो सोचते हैं—

जो खल दण्ड करौं नहिं तोरा। भ्रष्ट होइ स्तुति मारग मोरा॥

ऐसे लोगोंका सम्पूर्ण समय दण्ड देनेके चक्करमें हो चला जाता है। मेरे परिचित एक अवधूत थे। बड़े विरक्त साधनाभ्यासी। एक दिन ध्यान करने गंगा किनारे बैठे थे। पीछेसे आकर एक भैंसने उन्हें सींगसे धक्का दे दिया। इससे उन्हें इतना क्रोध आया कि गाँव-गाँव घूमकर प्रचार करने लगे—भैंस महिषासुरके वंशमें है। भैंसका दूध-घी काममें मत लो। भैंस मत पालो।'

पण्डितोंमें-से किसीने उनसे कहा—'बाबाजी, भैंसका दूध भी काममे आता है। शास्त्रमें श्राद्धविशेषमें भैंसका दूध काममें लेनेकी विधि है।

वे संस्कृत जानते नहीं थे कि उस समय पण्डितको उत्तर देते। अतः शास्त्रार्थ करनेके उद्देश्यसे संस्कृत पढ़ने हरिद्वार चले गये। इस प्रकार उनका त्याग-वैराग्य-ब्रह्माभ्यास—सब छूट गया और भैंस-चिन्तन होने लगा।

एक बार एक महात्मासे मेरी बात हुई। वे अपराधीको दण्ड देनेके पक्षमें थे। मैंने कहा—'अपराधीको दण्ड देने जायेंगे तो उसके अपराधका न्यूनाधिक चिन्तन करना पड़ेगा। भक्ति यदि अपराध और अपराधीका चिन्तन करने लगेगा तो उतने समय तक तो भगवान्‌का चिन्तन छूटेगा।' यह काम पुलिसका है कि

अपराधीको पकड़े। जजका काम है कि अपराधका विचार करके दण्ड सुनाये। जल्लादका काम है—फाँसी दे। भक्तका काम तो भगवान्‌का चिन्तन करना है।

क्रोध और क्षमाकी तुलना कर लो तो बात स्पष्ट हो जायगी। एक राजाके यहाँ कर्मकाण्ड कराते हुए पुरोहितसे कुछ भूल हो गयी। राजाको क्रोध आगया। यद्यपि पुरोहितने भूलके लिए क्षमा माँगी और प्रार्थना की; किन्तु राजाने उन्हें राजपुरोहित पदसे पृथक् करके राजभवनसे निकाल दिया। पण्डितने कई दिन प्रयत्न किया; किन्तु राजा प्रसन्न नहीं हुए।

एक दिन राजभवनके भंगीने पण्डितजीको प्रणाम करके पूछा—'महाराज, आप आजकल इतने दुःखी क्यों रहते हैं ?

पण्डितजी बोले—'भाई, राजाने मुझे राजपुरोहित पदसे हटा दिया है। मेरी आजीविका चली गयी। कई बार प्रार्थना की; किन्तु उनका क्रोध जाता ही नहीं।'

भंगी—'आप धैर्य रखो। मैं प्रयत्न करूँगा।'

अब उस दिनसे भंगी जब राजभवन स्वच्छ करने जाय तो पुकार करे—'महाराज ! मुझ गरीबकी सुनी जाय। मेरा न्याय किया जाय।'

कई दिन यह पुकार कानमें पड़नेपर राजाने एक दिन उसे बुलाकर पूछा कि वह क्या कहना चाहता है ? तो भंगी बोला—'मैंने सुना है कि मेरा एक भाई यहाँ राजसदनमें आया और उसे आपने अपने पास रोक लिया। उसे छुटकारा देनेकी कृपाकी जाय।'

राजा—'राजभवनमें चाण्डालको मैं क्यों रोकूँगा ?'

भंगी—'मुझे ठीक पता लगा है कि आपने मेरे भाईको अपने पास रोक रखा है।'

राजा—'कौन है वह ?'

भंगी—'उसका नाम क्रोध है।'

अब राजा हँसे। उन्होंने भंगीसे पूरी बात पूछी और पण्डितको क्षमा करके पुनः राजपुरोहित बना लिया!

चडि कोपेसे चाण्डाल शब्द बनता है। चाण्डालका अर्थ क्रोध ही है। इसलिए अपने हृदयमें क्रोधरूपी चाण्डालको मत बसाओ। चित्तमें प्रज्ञारूपी ब्राह्मणको निवास दो। यदि तुमको अपराधीपर क्रोध करना है तो इस क्रोधकी वृत्तिपर ही तुम क्यों क्रोध नहीं करते?

अपराधिनि कोपश्चेत् कोपे कोपः कथं न ते।

क्योंकि सबसे बड़ा अपराधी तो क्रोध ही है। इसके आनेपर हृदय जलता है। नेत्र लाल हो जाते हैं। मुख काला हो जाता है। शरीर काँपने लगता है। बुद्धि नष्ट हो जाती है। इतने बड़े अपराध तो क्रोध ही करता है।

धर्मार्थकाममोक्षाणां प्रसह्य परिपन्थिनि।

क्रोध धर्म नष्ट करनेवाला है। किसीको दान देना है और उसपर क्रोध आजाय तो उस पूजनीयका अपमान कर बैठोगे। अर्थका शत्रु क्रोध है ही। व्यापारीको ग्राहकपर क्रोध आये तो ग्राहकको दूकानसे निकालकर वह अपनी ही हानि करेगा। क्रोधमें कोई भोग पदार्थ प्रिय नहीं लगता और क्रोध चित्तका मल है, वह चित्तको मलिन तथा विक्षिप्त करता है, अतः मोक्षका भी विरोधी है।

एक कथा सुनी है। एक बार एक महात्मा घूमते हुए वृन्दावन पहुँचे। वहाँ यमुनाकिनारे धूनी लगाये कुछ साधु चिलम चढ़ाकर दम लगा रहे थे. वे महात्मा भी उनके पास जाकर बैठ गये। इसी समय एक चाण्डाल वहाँ आकर यमुनामें स्नान करने लगा। इसपर धूनीवाले साधु बड़े क्रुद्ध हुए। उनमें-से एकने कहा—'यह

हमारे घाटपर स्नान करके घाट अपवित्र करता है' और जलती लकड़ी खींचकर चाण्डालको मार दी। चाण्डालने कुछ कहा नहीं, चुपचाप जलमे निकलकर दूर जाकर फिर स्नान करने लगा। यह देखकर वे महात्मा चाण्डालके पास जाकर पूछने लगे—'तुमने वहां स्नान तो कर लिया था। अब दुबारा क्यों स्नान करते हो ?'

चाण्डाल बोला—'मेरा तो शरीर चाण्डालका है, किन्तु उस साधुके मनमें क्रोधरूपी चाण्डाल आगया और उसने मुझे छू लिया। उसके मनसे मेरे मनमें वह न आजाय, इसलिए दुबारा स्नान कर रहा हूँ। शरीरका चाण्डाल होना वैसा बुरा नहीं है, जैसा मनमें चाण्डालका बस जाना।' इसलिए भक्त अपने दिलमें कभी चाण्डालको प्रवेश नहीं करने देता। वह अपने हृदयमें भगवान्‌को बसाता है। इसलिए भक्त क्षमावान् होता है। **सन्तुष्टः सततं** सदा सम्यक् सन्तुष्ट। ज्ञानीके लिए गीतामें कहा गया है—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥ गीता ३.१७

स्थितप्रज्ञके लिए कहा गया है—

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥ २.५५

जब ज्ञानी तथा स्थितप्रज्ञ सन्तुष्ट रहते हैं तो भक्त सन्तुष्ट क्यों नहीं रहेगा ? लेकिन सन्तोष दो प्रकारका होता है—एक बाहरसे भीतर आता है और दूसरा भीतरसे बाहर। इसी अध्यायमें आगे बाहरसे भीतर आनेवाले सन्तोषका वर्णन—सन्तुष्टो येनकेनचित् के द्वारा भगवान्‌ने किया है।

संसारी व्यक्ति अपने पुत्रको खिलाकर, देखकर प्रसन्न होता है; किन्तु जो मस्तमौला है, वह किसी भी बच्चेको देखकर प्रसन्न होता है। दूसरेको सम्पन्न देखकर अपनेमें जो कमीका अनुभव है, उसे

असन्तोष कहते हैं। सुखी पुरुषको अपना मित्र मानो और उसे देख-कर प्रसन्न होओ कि कोई तो सुखी है यही हमारे लिए पर्याप्त है।

मेरे परिचित एक साधु हैं। उन्होंने अपना स्वभाव ऐसा बिगाड लिया है कि तवेपर-से रोटी सीधे उनकी थालीमें न आये तो थाली पटक देंगे। क्रोधमें जो मुखमें आयेगा, कहेंगे भूखे रह जायँगे। लेकिन यह तो मनुष्यका भ्रम ही है कि ताजी रोटी स्वादिष्ट होती है और बासीमें स्वाद नहीं होता। मैं भी पहले यही समझता था; किन्तु एक बार वृन्दावनमें एक सज्जनके यहाँ गया तो देखा कि एक तारकी टोकरीमें रोटियोंके टुकड़े टँगे हैं। पूछनेपर उन्होंने बताया कि एक दिन उनके यहाँ रोटियोंके टुकड़े करके रख दिये जाते हैं और छः-सात दिनतक भिखारियोंको दिये जाते हैं। मैंने उसमें-से एक टुकड़ा लेकर खाया! वह पहले बहुत सूखा, कड़ा लगा; किन्तु मुखमें भींगनेपर खूब स्वादिष्ट लगने लगा।

पिछली राशनिंगके समय मैं एक सेठके घर गया तो वहाँ गेहूँ और चावलके बोरे भरे दीखे। पूछनेपर उस सेठने बताया—'राशन तो सबको समान मिलता है; किन्तु हमारे यहाँ जो नौकर-मजदूर हैं, उन्हें तो गेहूँ-चावल चाहिए नहीं। अपने भागका गेहूँ-चावल वे हमें दे देते हैं और हम उन्हें बाजारसे मक्का, चना आदि खरीदकर दे देते हैं।' मजदूरोंकी ही बात नहीं है। मैं घर रहता था तो मेरे घर बारह महीने जौकी रोटी खायी जाती थी। गेहूँ वहाँ खेतोंमें कम होता है। इसलिए अतिथियोंके लिए अथवा पूड़ी बनानी हो तब गेहूँका आटा बनता था। इसलिए स्वादके सम्बन्धमें लोगोंको भ्रम है कि यह स्वादिष्ट है, यह नहीं। भक्त तो जो प्राप्त हो, येनकेनचित् उसीमें सन्तुष्ट रहता है। यह बाहरसे चित्तमें जानेवाला सन्तोष है। भीतरका सन्तोष यह है कि हमारे परम प्रेमास्पद प्रभु वहाँ विराजमान हैं।

सन्तोषी धर्मात्मा भी होता है, योगी भी और ज्ञानी भी; किन्तु भक्तका सन्तोष इन सबसे विलक्षण होता है। अतएव इन सबके सन्तोषका स्वरूप समझना आवश्यक है।

पौराणिक वर्णन है कि भगवान् ब्रह्माके पुत्र प्रजापति रुचि हुए। ब्रह्माजीसे ही मनु-शतरूपाकी उत्पत्ति हुई। उन स्वायम्भुव मनुकी पुत्री आकूतिका विवाह प्रजापति रुचिसे हुआ। रुचिके यज्ञ नामका पुत्र तथा दक्षिणा नामकी कन्या हुई। इनमें-से मनुने यज्ञको दत्तक ले लिया, अतः उनका वंश बदल गया। यज्ञका विवाह दक्षिणासे हुआ। दक्ष तथा दक्षिणाके द्वारा सन्तोषकी उत्पत्ति हुई।

इस पौराणिक कथाका तात्पर्य यह है मनुष्य अपने कर्तव्य (यज्ञ)का पालन पूरी दक्षतासे करे। अपने धर्मका ठीक-ठीक एवं निपुणतापूर्वक पालन करनेपर और उदारतापूर्वक दान करनेपर चित्तमें जो एक सुख-वृत्तिका उदय होता है, उसका नाम सन्तोष है। धन मिलनेपर जो सुख होता है, वह तो लोभकी पूर्ति है। धनका दान करनेपर जो सुख होता है, वह सन्तोष है। सन्तोष सात्त्विक वृत्ति है। उत्तम कार्य करके जिसे सुख प्राप्त होता है, वह धर्मकी दृष्टिसे सन्तुष्ट है।

योगोकी दृष्टिसे सन्तोष नियम है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच यम हैं। शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, और ईश्वरप्रणिधान—ये पाँच नियम हैं। इनके सम्बन्धमें योगशास्त्रका मत है—

यमानभीक्ष्णं सेवेत न नित्यं नियमान् बुधः।
यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन्॥

'बुद्धिमान् पुरुषको चाहिए कि यमोंका निरन्तर पालन करे। नियम कभी भंग भी हो जायँ तो उतनी हानि नहीं। जो नियमोंका तो पालन करता है; किन्तु यमका नहीं, वह भ्रष्ट हो जाता है।'

अब कोई चोरी कर ले, हिंसा करे, झूठ बोले, ब्रह्मचर्यका नाश कर ले, आवश्यकतासे अधिक संग्रह करे, इनमें-से कोई त्रुटि कर ले तो योगभ्रष्ट हो जायगा। भले वह तीनों समय स्नान करता हो, माला फेरता हो, पाठ-पूजा करता हो और सन्तुष्ट भी हो, तपस्या भी करता हो—एकादशी आदिका व्रत भी करे; लेकिन कोई सत्यवादी बना रहे, किसीको कष्ट न दे, चोरी न करे, ब्रह्मचर्यका पालन करे और आवश्यकतासे अधिक संग्रह न करे तो यदि कभी उससे एकादशी छूट जाय, कभी मन असन्तुष्ट हो जाय, कभी भगवान्‌की पूजा न कर सके, जप किसी दिन पूरा नहीं कर सके अथवा किसी दिन स्नान न कर पाये तो इससे वह योगभ्रष्ट नहीं होगा। यम बने रहें और नियम टूट जायँ तो यम रक्षा कर लेते हैं; किन्तु यम टूट जायँ तो नियम रक्षा नहीं कर सकते।

ज्ञानीका सन्तोष दूसरे प्रकारका है। लोभमें कोई-न-कोई वस्तु मनमें होती है। किसी-न-किसी वस्तुका लोभ होगा। मकान-दूकान, अन्न-वस्त्र-धन, स्त्री-पुत्र-परिवार, पद-मान कोई-न-कोई विषय लोभका होगा। सन्तोष निर्विषय वृत्ति है। सन्तोषका अर्थ है चित्तकी शान्ति। वेदान्तका बहिरंग साधन है समाधान। यह समाधान सन्तोषात्मक है। संसारमें कुछ न चाहनेसे लोभ नहीं है और तरंगायमान न होनेसे चित्तवृत्ति चञ्चल नहीं है। यह सन्तोषकी स्थिति है। लेकिन ज्ञानीकी वास्तविक सन्तोषकी स्थिति है अविद्या-निवृत्त होनेपर अपने स्वरूपमें स्थिति—आत्मन्येव च सन्तुष्टः।

भक्तका सन्तोष इन सबसे विलक्षण है। वह इसमें सन्तुष्ट है कि हमारे प्रभु हमारे हृदयमें स्थित हैं और हमपर निरन्तर कृपा वर्षा कर रहे हैं। भक्त अपने सुखसे सन्तुष्ट नहीं होता। अपने दुःखसे वह रुष्ट भी नहीं होता। अपने भगवान्‌के तोष-रोषमें उसका तोषरोष है।

भक्त 'तत्' पदार्थ प्रधान होता है, योगी 'त्वं' पदार्थ प्रधान होता है और ज्ञानी 'तत्' तथा 'त्वं'के एकत्वमें स्थित रहता है। अतः भक्त भगवान्में लीन होकर सन्तुष्ट होता है, योगी अपनेमें लीन होकर सन्तुष्ट होता है और ज्ञानी व्यवहार तथा परमार्थ दोनोंमें ही अपने स्वरूपमें मग्न रहता है।

भगवान्के मार्गमें चलना है तो सदा सन्तुष्ट रहना होगा। 'यह वस्त्र नहीं मिला, यह भोजन आज नहीं मिला, इतना रुपया आता था, अमुकके पाससे नहीं आया।' इस प्रकार जब बात-बातमें चित्त असन्तुष्ट होगा, तब जिस वस्तु या व्यक्तिके लिए असन्तोष होगा, उसका चिन्तन होगा। भगवान्का चिन्तन छूट जायगा।

मेरे एक मित्र थे। रसोइयेसे कभी रसोई बिगड़ जाय तो बहुत अप्रसन्न होते थे। रसोई तो कभी-कभी ही पूरी तरह ठीक बनती है—

राग रसोई पागड़ी कभी कभी बन जाय।

कभी बढ़िया रसोई बनती तो भी अप्रसन्न होते—'तुम्हें जब इतना अच्छा भोजन बनाना आता है, तब तुमने कल ऐसा भोजन क्यों नहीं बनाया?' इस प्रकार असन्तुष्ट रहना उन्होंने अपना स्वभाव बना लिया था।

मेरे पास एक सज्जन रहते थे। मैं उनसे अच्छी प्रकार बोलूँ, उनके अप्रसन्न होनेपर उन्हें मनाऊँ तो समझते—'ये मेरी खुशामद करते हैं। इनका मुझसे कुछ स्वार्थ होगा।' यदि उन्हें डाँट दूँ तो समझते—'ये मुझे अपना नहीं मानते, इसलिए डाँटते हैं।' अब उनकी उपेक्षा करनेके अतिरिक्त मेरे पास और क्या मार्ग रह गया था।

कुछ लोग होते हैं, जिन्हें प्रणाम न करो तो कहते हैं—'बड़ा अहंकारी है।' प्रणाम करो तो कहेंगे—'दम्भी है। दिखावटी नम्रता है इसकी।' ऐसा स्वभाव मनुष्यको स्वयं दुःख देता है।

अत: भक्तको तो किसी भी व्यक्तिके किसी आचरणसे असन्तुष्ट नहीं होना चाहिए। जब तुम्हें किसीसे कुछ स्वार्थ नहीं, किसीसे कुछ लेना नहीं, तो उसके आचरणसे असन्तुष्ट क्यों होते हो? भक्तको तो भगवान्‌की इच्छामें ही सन्तुष्ट रहना चाहिए।

एक महात्मा नौकामें बैठकर गंगा पार जा रहे थे। नौकामें कोई छेद था, उससे भीतर जल भरने लगा। नौकामें बैठे लोग डरकर जलको जो पात्र मिला, उससे बाहर डालने लगे। किन्तु वे महात्मा कमण्डलुमें गंगाजल भरकर नौकामें डालने लगे। लोगोने पूछा—'बाबाजी, यह क्या करते हो?'

महात्मा बोले—'जब भगवान् इस नौकाको डुबाना चाहते हैं, तो हम उनकी इच्छामें सहायता क्यों न करें? मैं उनके काममें सहायता कर रहा हूँ।'

लोगोंने कपड़ा भरकर छेद बन्द कर दिया। नौकाके बचनेकी आशा हो गयी, तब बाबाजी नौकामें-से जल बाहर फेंकने लगे। लोगोंके पूछनेपर बोले—'भगवान् इसे बचाना चाहते हैं, अतः हम उनकी इच्छामें सहायता करते हैं। हम तो उनकी इच्छामें सन्तुष्ट हैं।'

मैं एक स्थानपर ठहरा था एक आयोजनमें। वहाँ फूसकी सत्रह कुटियाँ बनायी गयी थीं और उनमें ही लोग ठहरे थे। अचानक उन झोपड़ियोंमें आग लग गयी। उस आयोजनके आयोजक बोले—'जल्दी घी, बूरा और अक्षत चावल लाओ! भगवान् अग्निके रूपमें पधारे हैं, इनमें आहुति डालकर इनका स्वागत करो!'

लेकिन मनुष्यको तबतक पूर्ण रूपसे सन्तोष नहीं होता, जबतक वह संसारमें कुछ बदलना चाहता है। जब हम समझ लेंगे कि संसार जैसा है, इसमें जो कुछ हो रहा है, सबके संचालक भगवान्

हैं और वे संसारको ठीक-ठीक चला रहे हैं, उनके संचालनमें त्रुटि नहीं है, तब हम पूर्ण रूपसे सन्तुष्ट होंगे।

इस प्रकारका सन्तोष कैसे प्राप्त किया जाय? कोई निरन्तर सन्तुष्ट कैसे रहे? इसका उत्तर है—**सततं योगी**। यह प्रसंग भक्तिका है, अतः योगी शब्दका अर्थ यहाँ भक्तियोगी है। बराबर भगवान्‌से जुड़े रहो। श्रद्धा, क्रोध, द्वेष, घृणा चाहे किसी भावसे जुड़ो; किन्तु जुड़े भगवान्‌से रहो। हिरण्यकशिपु, रावण, कंस, शिशुपाल आदि सब भगवान्‌से जुड़े थे, इसलिए इन सबको भगवत्प्राप्ति हुई। एकमात्र वेनका नाम ऐसा आता है कि वह ईश्वरको मानता ही नहीं था।

चित्तका संयोग बराबर भगवान्‌के साथ बना रहे। कामशास्त्रमें स्त्री-पुरुषके मिलनको संयोग कहते हैं। स्वर्णकार मणिकाञ्चनयोग करते हैं। आयुर्वेदमें दो ओषधियोंको मिलाकर योग बनता है। ज्योतिषमें दो ग्रह एक राशिमें आजायँ तो उसे ग्रहयोग कहते हैं। लेकिन ऐसे सब सांसारिक योगोंके साथ वियोग लगा है—

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ता समुच्छ्रयाः।
संयोगाविप्रयोगान्ताः मरणान्तं हि जीवितम्॥

—वा० रामायण.

'सब ढेरियाँ—अन्नकी राशियाँ, नोंटोंके बण्डल, बड़े-बड़े भवन-ये सब एक दिन बिखरेंगे। चाहे जितनी उन्नति करो, चाहे जितना ऊपर उठो, एक दिन गिरना पड़ेगा ही। जो मिला है, उसका वियोग अवश्य होगा। प्रत्येक जन्मधारी एक दिन मरेगा।' संसारमें व्यक्ति और वस्तुसे जो योग होता है, वह वियोगग्रस्त ही है।

भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद् भयम्।

भोग मिलेंगे तो उनके साथ रोग भी आयेगा। उच्च कुलमें जन्म हुआ तो पतनका भय भी अधिक होगा। धन आयेगा तो

शासन छीन ले, इसका भय भी रहेगा। संसारमें जितनी वस्तुएँ हैं, सबमें भय है। सबको छोड़ना पड़ता है। कोई किसी सांसारिक वस्तुको चौबीस घण्टे पकड़कर नहीं रख सकता। कोई माता अपने बच्चेको चाहे जितना प्यार करे; किन्तु उसे चौबीस घण्टे गोदमें नहीं रख सकती। उसे गोदमें लेकर भले सोये; किन्तु निद्रा आनेपर हाथ ढीला पड़ ही जायगा। ऐसी अवस्थामें निरन्तर मन किसके साथ लगा रह सकता है ? उपनिषद्में आया है—

यथा सूत्रेण प्रबद्धः शकुनिः दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वास्वबन्धनमेवाश्रयते।

जैसे एक लकड़ीमें धागेसे बँधा पक्षी पहले इधर-उधर फड़फड़ाता है; किन्तु, अन्तमें थककर उसी लकड़ीपर बैठ जाता है।

जैसे उड़ि जहाज कौ पंछी पुनि जहाज पर आवे।

जैसे समुद्रमें चलते जहाजपर बैठा पक्षी इधर-उधर उड़कर, अन्यत्र बैठनेका स्थान न पाकर फिर जहाजपर ही आकर बैठता है, वैसे ही जहाँसे इन मन इन्द्रियोंको शक्ति, प्रकाश तथा आश्रय मिलता है, वहीं जाकर ये बैठें, तब शान्ति प्राप्त हो। भक्त यह विश्वास-श्रद्धा करके कि—'हम भले न देखते हों, भगवान् तो हमें देखते हैं; हम भले उन्हें न जानते हों, वे तो हमें जानते हैं' भगवान्में ही जुड़े रहते हैं।

लेकिन यह बात भी तो सरल नहीं है। भगवान्में **सततं योगी** सदा जुड़े रहना कैसे हो ? इसका उत्तर है—**यतात्मा** मन-इन्द्रियोंको वशमें करो तो भगवान्में जुड़े रहना बनेगा। क्योंकि इन्द्रियाँ ही तुम्हें संसारमें ले जाती हैं।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥ २.६७

इन्द्रियाँ विषय रूप घास चरने बाहर संसारमें जाती हैं। इनके पीछे मन लग जाता है और मनके पीछे बुद्धि। बुद्धिके पीछे जो ईश्वर बैठा है, उसे भूल ही जाते हैं।

एक बार नारदजीने भगवान्से कहा—मुझे अपनी माया दिखलाइये।

भगवान्—'देवर्षि! मुझे प्यास लगी है। पहले कहींसे आप जल लाइये!'

देवर्षि नारद जल लेने नदीके किनारे गये। वहाँ देखते हैं कि एक सोलह वर्षकी अत्यन्त सुन्दर लड़की नदीमें डूब रही है। झट पानीमें कूद पड़े और उसे पकड़कर बाहर निकाल लाये। बाहर आते ही वह रोने लगी—'मेरे माँ-बाप मर गये। संसारमें दूसरा कोई मेरा नहीं। मुझे तुमने क्यों मरनेसे बचाया? अब या तो मुझे सहारा दो या फिर डूब मरने दो।

नारदजीने उससे विवाह कर लिया। उसके बारह बच्चे हुए। घर-परिवारमें इतने आसक्त कि वे भूल ही गये कि भगवान्को पानी पिलाने जल लेने आये थे। भगवान् उन्हें ढूँढ़ते पुकारते आये—'देवर्षि, कहाँ हो? मुझे प्यास लगी है।' तब माया दूर हुई।

यह जीव इस संसारमें भगवान्की सेवा करने आया था; किन्तु यहाँ आकर इन्द्रियोंके भोगोंमें उलझ गया और भगवान्को भूल गया है।

आये थे हरि भजनको, ओटन लगे कपास।

अब भगवान् ही किसी भाग्यवान् जीवको पुकार लें तो वह जागे। ये इन्द्रियाँ ही संसारमें ले जाकर फँसाती हैं। इनको वशमें रखना चाहिए, यह बात यतात्माके द्वारा कही गयी।

यतात्मा कैसे हुआ जाय ? इन्द्रियाँ कैसे वशमें हों ? इस प्रकार 'कैसे-कैसे ?' पूछते रहनेसे तो काम चलता नहीं है ! **दृढ़निश्चयः** निश्चय पक्का करके लगना पड़ेगा। आकृति करो ! हमारे यहाँ इसे 'कूतना' कहते हैं। अर्थात् मूल्याङ्कन कर लो कि ईश्वरको प्राप्त करना, उसकी सेवा करना, उससे प्रेम करना महत्त्वपूर्ण है या संसारके भोग प्राप्त करना, संसारमें लगना, संसारके लोगोंसे प्रेम करना महत्त्वपूर्ण है ? निर्णय करके अपने निर्णयपर दृढ़ हो जाओ।

निचाय्य तं मृत्युमुखात् प्रमुच्यते। श्रुति.

हमारे लिए यही जीवनका सार, जीवनका लक्ष्य है, ऐसा निर्णय करके उस निश्चयपर स्थित हो जाओ।

कार्यं वा साधयामि शरीरं वा पातयामि।

'काम बनाऊँगा अथवा पूरा जीवन इसमें खपा दूँगा' ऐसा दृढ़-निश्चय होना चाहिए। जो जीवनको खपा देनेको तैयार है, वही सफल होता है। ईश्वर कहीं गया नहीं है। वह तो यहीं है। कमी है तुम्हारी पकड़में। शास्त्रमें इसीका नाम निष्ठा है। 'ष्ठा' धातु स्थिरताके अर्थमें है, जिससे निष्ठा शब्द बना है। 'सत्'की दृष्टिसे बोलते हैं तो निष्ठा कहते हैं। 'चित्' चेतनकी दृष्टिसे, विवेककी दृष्टिसे उसीको 'निश्चय' कहते हैं। बुद्धिसे विवेक करके निश्चय किया जाता है। यही श्रेष्ट है। आनन्दकी प्रधानतासे उसीको प्रेम कहते हैं। गौतम बुद्धका यह दृढ़-निश्चय अपनाने योग्य है—

'चाहे आकाशसे वज्रपात हो, चट्टानोंकी वर्षा हो, जलती बिजलियाँ गिरें, पिघले लोहेकी मेरे ऊपर वर्षा हो या जलते हुए पर्वतशिखर मेरे मस्तकपर गिरें, किन्तु अब घर लौटनेकी इच्छा

कभी नहीं करूँगा।' बोधिवृक्षके नीचे बैठकर उन्होंने निश्चय किया था—

इहासने शुष्यतु मे शरीरं त्वगस्थिमांसानिलयं प्रयान्तु।
अप्राप्य बोधं बहुकल्पदुर्लभं नैवासनात् कायमिदं चलिष्यति॥

'इसी आसनपर मेरा शरीर भले सूख जाय और हड्डी, मांस चमड़ा सब गल-सड़ जायँ; किन्तु बहुत जन्मोंमें भी न मिलनेवाले बोधको प्राप्त किये बिना अब यह शरीर इस आसनसे हिलनेवाला नहीं है।'

भगवती उमाने निश्चय किया था—

जनम कोटि लगि रगरि हमारी।
बरौं सम्भु न त रहउँ कुमारी॥

जब निश्चय दृढ होता है, तब मन-इन्द्रियाँ स्वयं उस मार्गपर चलती हैं। मनुष्य कर्म कब करता है? जब कर्म करनेकी मनमें इच्छा हो। जब हाथ उठानेकी इच्छा हो, तब हाथ उठेगा। कोई हाथमें बलपूर्वक हथौड़ा पकड़वाकर तुम्हारा हाथ चलवा नहीं सकता। उसे पहले तुम्हारे मनमें हाथ चलानेकी इच्छा उत्पन्न करनी होगी; भले वह तुम्हें लोभ देकर; भय देकर या प्रार्थना करके तुम्हारे मनमें इच्छा उत्पन्न करे। केवल पीठपर पिस्तौल लगा देनेसे पिस्तौल तुम्हारे पैरोंको चला नहीं सकती। पिस्तौलके भयसे मनमें चलनेकी इच्छा होगी, तब पैर चलेंगे। इच्छा कैसे होती है? ज्ञानसे। जब किसी प्रिय पदार्थ या व्यक्तिका ज्ञान होता है तो उसे पानेकी इच्छा होती है। तब अप्रियका ज्ञान होता है तो उससे बचनेकी इच्छा होती है। इच्छाके मूलमें बुद्धि बैठी है। बुद्धि उलटी भी होती है। उसे बहकाया भी जा सकता है। चोर अपनी बुद्धिको फुसला लेता है कि धनसे सुख मिलेगा; धन मिलेगा चोरी करनेसे; अतः चोरी करनेमें बुराई नहीं है।

केवल इस निश्चयसे कि यह कार्य पवित्र है, काम नहीं चलता। उसमें सुखका, आनन्दका भी निश्चय होना चाहिए। एक मनुष्यको पता है कि सामान्यतः झूठ बोलना अपराध है। लेकिन उसे दीखता है कि झूठ बोलनेसे पाँच रुपये मिल सकते हैं और रुपये मिलनेसे सुख होगा, ऐसा उसका निश्चय है, इसलिए इसे झूठ बोलनेमें कोई विशेष हिचक नहीं होती है। उसकी बुद्धि झूठके पक्षमें ढुलक जाती है।

सामान्यतः सब जानते हैं कि परमात्मा ही सर्वश्रेष्ठ है और उसकी भक्ति करना सर्वश्रेष्ठ कार्य है; किन्तु सुख परमात्मामें प्रतीत नहीं होता, वह संसारके भोगोंमें प्रतीत होता है। इसलिए परमात्मामें मन नहीं लगता। सुखके लोभसे बुद्धि विषय-भोगोंकी ओर ढुलक जाती है और परमात्माको छोड़ देती है। अतएव निश्चयमें दृढ़ता होनी चाहिए कि परमात्मा ही एकमात्र सत्य है। बुद्धिका स्वभाव सत्यका पक्ष लेना है—

वस्तुपक्षपातो हि धियां स्वभावः।

हम हृदयसे जिसे सत्य मानते हैं, बुद्धि उधर ढुलकती है। अतएव यह दृढ़-निश्चय करो कि सत्य परमात्मा है और उसीके ज्ञानसे परमानन्दरूप मोक्षकी प्राप्ति होती है। सुखस्वरूप केवल ईश्वर है। ईश्वरके अतिरिक्त कहीं सुख नहीं है। संसारके समस्त सुख ईश्वरके अनन्त सुखकी ही एक बूँद हैं। सच्चा ज्ञान, सच्चा सुख, सच्चा जीवन, सच्चा हित, ईश्वरमें ही है। जब ऐसा दृढ़-निश्चय कर लोगे, तब मन-इन्द्रियाँ संयत हो जायँगी। संयत होकर वे ईश्वरमें लगेंगी।

मय्यर्पितमनोबुद्धिः सदा सन्तुष्ट, योगी और परमात्मा तो ज्ञानी तथा योगी भी हो सकता है; किन्तु भक्तकी एक विशेषता है। उसका मन और उसकी बुद्धि भगवान्‌को अर्पित होते हैं।

जिसने अपनी मन-बुद्धि उन्हें अर्पित कर दी, वह भगवद्भक्त है। भगवान् कहते हैं—स मे प्रियः 'वही मेरा प्रिय है।'

संसारमें लोग दुःखी रहते हैं—'मेरा कोई नहीं है। कोई मुझसे प्रेम नहीं करता।' भगवान् कहते हैं—'मैं तुम्हारा प्रेमी बननेको तैयार हूँ। तुम मेरे प्रेमास्पद बन सकते हो। तुम मेरे भक्त बन जाओ तो मैं तुम्हारा प्रेमी बननेको उद्यत हूँ। जो मेरी भक्ति करेगा, वह मेरा प्रिय हो जायगा।'

अच्छा; इस श्लोकके अर्थपर दूसरे सिरेसे विचार करें; क्योंकि 'हेतुहेतुमद्भाव'के निरूपणमें वक्ताको स्वतन्त्र माना जाता है। जो भगवान्का भक्त हो गया, उसकी मन-बुद्धि भगवान्को अर्पित हो जायँगी। उनका भक्त हुए बिना, उनका भजन किये बिना मन-बुद्धि उनमें नहीं लगेंगी।

जब तुम अपने इष्टसे मिल गये, मन-बुद्धि उनमें अर्पित हो गयी तो निष्ठा दृढ़ हो गयी। निश्चय दृढ़ होनेपर मन-इन्द्रिय भगवान्में ही लग जायँगी और तब तुम सदा भगवान्में ही जुड़े रहोगे। भगवान्में ही सदा जुड़ा रहनेवाला सदा सन्तुष्ट रहेगा। उसके लिए असन्तोषका कोई कारण ही कहीं नहीं है।

अपने इष्टसे मिल जानेपर—**योगी** मन-इन्द्रियाँ वशमें हो जायँगी। तुम अपने आराध्यसे मिल गये हो, इसकी पहचान ही यह है कि मन-इन्द्रियाँ वशमें हैं। तुम **यतात्मा** हो। जब मन-इन्द्रियाँ बाहर नहीं जातीं, भगवान्में ही लगी हैं, बहिर्मुखता छूट गयी, तब निश्चय दृढ़ हो गया। निश्चयको तोड़नेवाली वस्तु तो अपना राग ही है। राग-द्वेष, भोग-लिप्सा और मनोराज्यके कारण मन तथा इन्द्रियाँ बाहर जाती हैं और निश्चय टूटता है। दृढ़-निश्चयमें भगवान् निवास करते हैं। एक महात्मा थे। उन्होंने एक

वटवृक्षके नीचे आसन जमाया और निश्चय किया कि 'जहाँ तक इस वृक्षकी छाया जाती है, उतनी दूरीसे बाहर नहीं जायँगे।' इस कारण उनका नाम बरगदिया बाबा पड़ गया था। देशाटनके लिए उत्सुक आजके कालेजके छात्र कहेंगे कि यह क्या मूर्खता है; किन्तु इस निश्चयसे नगरमें जाना छूटा, नगरके दृश्य छूटे। जो स्वयं मिलने न आये, उनसे मिलना छूटा। जो सर्दी, गर्मी, वर्षा वहाँ आये, उसे सहना पड़ा। इस प्रकार कितना त्याग, तप, तितिक्षा इस निश्चयमें है! इस प्रकार दृढ़-निश्चय कर लेनेपर पूरा संसार छूट जाता है।

एक वृद्धा किसी महात्माके पास गयी और बोली—'मुझे भगवान्‌को प्राप्त करना है।'

महात्माने एक पत्थरकी गोल बटिया देकर कह दिया—'ये बाल-गोपाल हैं। इनको नहलाओ, कपड़े पहनाओ, चन्दन-फूलसे सजाओ, भली प्रकार खिलाओ और सावधनीसे सुलाओ। इनका प्रेमसे लालन-पालन करो।'

बुढ़िया उस बटियाको ले आयी और उसे अपना बाल-गोपाल मानकर जैसे छोटे बच्चेको नहलाते-धुलाते, खिलाते-सुलाते हैं, वैसे उनका लालन करने लगी। एक बार गाँवमें अफवाह फैली कि भेड़िया कई बच्चोंको गाँवसे उठा ले गया। बुढ़ियाको डर लगा कि कहीं भेड़िया उसके बाल-गोपालको भी उठा न ले जाय। अतः दिन भर तो वह अपने बाल-गोपालको नहलाने-खिलानेमें लगी रहती और रातको डण्डा लेकर द्वारपर पहरा देने बैठती। इस प्रकार कई दिन निरन्तर जागते बीत गये। उसकी निष्ठासे प्रसन्न होकर एक रात स्वयं श्रीकृष्णचन्द्र पीताम्बरधारी, मयूरमुकुटी, वंशी लिये बाल-वेशमें पधारे तो बुढ़ियाने ललकारा—'अरे कौन है? दूर रह! मेरा बाल-गोपाल सो रहा है।'

भगवान् बोले—'मैया ! बाल-गोपाल तो मैं ही हूँ।'

बुढ़िया—'अब तू जाता है या डण्डा लगाऊँ ? तेरे जैसे हजार चमकने मैं अपने गोल-मटोल बाल-गोपालपर न्यौछावर कर दूँ।'

भगवान् प्रसन्न हो गये। कहने लगे—'मैया ! ऐसी स्नेहमयी मांको मैं छोड़ नहीं सकता। तू अपने गोल-मटोलको ले ले और गोलोक चल।'

बुढ़िया—'गोलोकमें भेड़िया तो नहीं आता ?'

भगवान्—'ना मैया ! वहाँ भेड़िया कभी नहीं आया और न आयेगा।'

तब कहीं वह अपने गोल-मटोलको लेकर गोलोक जानेको राजी हुई।

दृढ़ निश्चयमें भगवान्का निवास है, यह बात मनमें बैठा लो। तार्किकोंके तर्कमें पड़ो तो कहेंगे कि शालग्रामसे नर्मदेश्वर श्रेष्ठ हैं। नर्मदेश्वरकी पूजा करो तो श्रीरामको शिवका आराध्य बतायेंगे। श्रीरामको अपनाओ तो श्रीकृष्णको षोडशकलापूर्ण कहेंगे और उन्हें पकड़ो तो कहेंगे कि ये तो अवतार हैं। अवतारी तो श्रीनारायण हैं। इस प्रकार निराकार, निर्गुण आदिमें बुद्धिको भटकाते फिरेंगे। वे कहीं तुम्हें टिकने नहीं देंगे। अतएव तर्कके जालमें मत पड़ो। शास्त्रके अनुसार, गुरुके अनुसार जहाँ निष्ठा हो गयी है, वहीं जमे रहो। निष्ठाका परिपाक होकर रसायन बन जाता है; किन्तु निष्ठा कच्ची रहे तो विष होती है। यदि बदलते रहोगे तो वह कभी पकेगी ही नहीं। इसलिए भक्तके लिए दृढ़-निश्चयी होना आवश्यक है। किसीका कोई तर्क तुम्हारी बुद्धिको विचलित न कर सके, यही निश्चयकी दृढ़ता है।

प्यार होता है मन-इन्द्रियोंमें। उन्हें वशमें कर लो। तब वे तुम्हारी इच्छानुसार भगवान्से प्यार करेंगी। तर्कका प्रभाव बुद्धि-पर मत पड़ने दो। तब तुम **मय्यर्पितमनोबुद्धिः** होगे। मन-बुद्धि भगवान्को अर्पित करना चाहते हो ? यह समर्पितत्व अभ्यास-साध्य नहीं है।

मैं छोटा था, उस समयकी बात है। सत्रह-अठारह वर्षका होऊँगा। गंगा किनारे एक सिद्ध महात्मा रहते थे। सहस्रों व्यक्ति उनके पास जाते थे। अधिकांश लोग रोग मिटानेकी कामनासे या और कोई सांसारिक कामनासे ही जाते थे। वे कभी नंगे रहते, कभी कपड़े पहने रहते। महामना मालवीयजी भी उनके दर्शन करने गये थे। मैं उन महात्माके पास दर्शन करने गया तो बोले—'गुड़ू, क्या चाहते हो ?'

वे प्रायः सबको 'गुड़ू' (गुरु) कहते थे। मैंने कहा—'मुझे भगवान्के शरणागत बना दीजिये, मुझे उनके प्रति समर्पित करवा दीजिये !'

वे बोले—'ऐसा क्या है जो भगवान्को समर्पित नहीं है ? पृथिवी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, सूर्य-चन्द्र सब तो भगवान्के हैं। इन्हीं पञ्चतत्त्वोंसे बना शरीर तुम्हारा कैसे हो जायगा ?' जिसका सोना होगा, उस सोनेसे बना आभूषण भी तो उसीका होगा। तुम कल आकर बताना कि तुम्हारे पास कौन-सी वस्तु भगवान्की नहीं है। हम उसे समर्पित करवा देंगे।'

समर्पण करना है, यह भ्रम है। चित्रमें आगे नदी, उसके पीछे वृक्ष, उसके बाद पर्वत बने हैं। युवक, वृद्ध, बच्चे बने हैं और पत्थर, लोहा-सोना बना है। चित्रका यह आगे-पीछेका देश, बच्चे-युवा-वृद्धकी आयुका काल तथा पत्थर, लोहा, सोना आदि पदार्थ

रंग और चित्रमें अर्पित ही तो हैं। इसी प्रकार यह संसाररूपी चित्र भगवान्में अर्पित है। इसमें अनर्पित होनेका भ्रम ही है।

श्रीरामानुजाचार्यजीने कहा है—यह बुद्धि पहले सोयी हुई थी, अब जाग गयी और जब जाग गयी, तब—

मम नाथ यदस्ति योऽस्म्यहं सकलं तद्धि तवैव माधव।
नियतः स्वमिति प्रबुद्धधीरथवा किं नु समर्पयामि ते॥

—आलवन्दारस्तोत्र

'हे नाथ! जो कुछ मेरा है और जो मैं हूँ, वह सब हे माधव! आपका ही है।' ऐसा ज्ञान हो गया। भगवान्को अर्पित करनेका अर्थ है अर्पितत्वेन जानना। यह जो लगता है कि मन-बुद्धि भगवान्की नहीं हैं, मेरी है; इस भूलको ही मिटाना है। यह भूल मिटाना ही समर्पण है।' **मय्यर्पितमनोबुद्धि** यह बात इस अध्यायके प्रारम्भमें ही आ चुकी है। भगवान् कह चुके हैं—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥ १२.८

'मैंने यह किया-यह भोगा'—इस प्रकार जानना ही कर्तृत्व-भोक्तृत्व है। सब क्रियाओंका अर्थ जानना ही होता है; अन्यथा अपने भीतर बैठा ईश्वर ही विचारों—इच्छाओंको बाहर निकालता है। इच्छाओं तथा विचारोंके रूपमें ईश्वर ही होता है और बाहर विषयके रूपमें भी वही भासता है।

आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागा चितिरेव केवला।

निर्विभाग चैतन्य ही आश्रय तथा विषय दोनोंके रूपमें प्रतीयमान है। संकल्प और विचार दोनोंका वही आश्रय और वही विषय भी है। वस्तुतः ये सब संकल्प और विचार भी परमात्माके ही रूप हैं। जैसे तरंग समुद्रमें, किरणें सूर्यमें, चिनगारियाँ अग्निमें

समर्पित ही हैं, वैसे ही मन-बुद्धि तथा इनके संकल्प-विचार परमात्मामें समर्पित ही हैं। उस अखण्ड परमात्मामें मन और बुद्धि वायुमें झकोरेके समान स्फुरणमात्र हैं।

यो मद्भक्तः स मे प्रियः। इसमें **यो मद्भक्तः**से यह सूचित होता है कि भक्त अपनी ओरसे भगवान्‌से प्रेम करता है। **स मे प्रियः** यह सूचित करता है कि भगवान् अपनी ओरसे भक्तसे प्रेम करते हैं। **यो मद्भक्तः स मे प्रियः**के द्वारा भगवान्‌ने अपने प्रियतमकी पहचान बतलाया है—

प्रियो हि ज्ञानिनोत्यर्थमहं स च मम प्रियः। ७.१७

भगवान्‌ने कहा—'ज्ञानी भक्तको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ। वह मुझे ही अपना प्रियतम मानता है और वह ज्ञानी भक्त मेरा प्रिय है।' श्रीमद्भागवतमें तो वे कहते हैं कि मैं अपनी पूजासे वैसा प्रसन्न नहीं होता, जैसा भक्तकी पूजासे होता हूँ। भक्तके समान मुझे दूसरा कोई प्रिय नहीं है—

न तथा मे प्रियतमः आत्मयोनिर्न शङ्करः।
न च सङ्कर्षणः न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्॥

—भागवत ११.१४.१५

'उद्धव! मुझे अपनी नाभिसे उत्पन्न पुत्र ब्रह्मा वैसे प्रिय नहीं हैं, शंकरजी, बड़े भाई सङ्कर्षण, मेरी पत्नी लक्ष्मी वैसी प्रिय नहीं हैं, दूसरेकी तो बात ही क्या, मुझे अपना आत्मा वैसा प्रिय नहीं है, जैसे प्रिय आप-जैसे भक्त हैं।'

•

: १५ :

● *संगति*

लोकमें तपस्वियों अथवा योगियोंसे, जिन्हें थोड़ी भी सिद्धि प्राप्त होती है, लोगोंको बड़ा डर लगता है। विशेषतः जो लोग उनके समीप किसी सांसारिक कामनासे वरदान लेने जाते हैं, उन्हें सदा भय होता है कि पता नहीं कब किस बातपर महात्माजी अप्रसन्न होकर शाप दे दें। ऐसी अवस्थामें भक्तसे तो लोगोंको बहुत भय होगा; क्योंकि **तपस्विभ्योऽधिको योगी** तपस्वीसे बड़ा तो योगी ही होता है और भक्त तो योगीसे भी बड़ा है। भगवान् उसे सबसे प्रिय कह रहे हैं। वह भक्त अप्रसन्न हो जाय, तब तो सर्वनाश ही हो जायगा। इस आशंकाकी कोई आवश्यकता नहीं है; क्योंकि भगवान्के भक्तसे, उसकी सेवा-पूजा करके दूसरे लोग भले लाभ उठा लें; किन्तु उससे किसीकी हानि नहीं हो सकती।

साधु ते होइ न कारज हानी।

साधुसे किसीका कोई काम बिगड़ नहीं सकता। अच्छा, भक्त स्वयं किसीकी हानि तो नहीं करता होगा; लेकिन उससे भय तो हो ही सकता है; वह डाँटे फटकारे तो—**निर्विषामिव पन्नगाः।** जैसे विषहीन सर्प काटते तो नहीं, किन्तु जब फुफकारते हैं; तो उनसे देखनेवालेको डर तो लगता ही है। भगवान् कहते हैं—'मेरे भक्त किसीको कड़वी बात भी नहीं कहते।'

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१५॥

'जिससे संसारमें कोई उद्विग्न नहीं होता और जो संसारमें किसीसे उद्विग्न नहीं होता, वह हर्ष, अमर्ष, भय तथा उद्वेगसे मुक्त पुरुष मेरा प्रिय है ।'

यहाँ भगवान् अपने भक्तका लक्षण बतला रहे हैं। लोग तो भक्तके रूपमें एक मनुष्यको देखते हैं। कैसा वस्त्र पहने, कैसी माला-कण्ठी रखे, कैसे तिलक लगाये, कैसे जटाजूट बाँधे तो भक्त, इस सम्बन्धमें लोगोंने कुछ धारणाएँ बना रखी हैं। लेकिन भक्ति तो बाहरी वस्तु नहीं है। वह हृदयकी वस्तु है। अतः मनुष्यके हृदयकी क्या स्थिति होती है, भक्त होनेपर यह भगवान् बतलाते हैं।

यस्मान्नोद्विजते लोको वेग शब्दको आप जानते हैं। वायु वेगपूर्वक चलती है। नदी वेगसे प्रवाहित होती है। वेगका अर्थ है तीव्र गति। लेकिन उद्वेग—यह नदी या वायुका वेग नहीं है। उद्-वेग अर्थात् सामने—सीधे न होकर ऊपरकी ओर गति। मेरे घरके आस-पासके कुएँ वर्षामें ऊपर तक जलसे भर जाते थे। बाल्यकालमें हम लोग खड़ी लाठी जोरसे मारते। लाठी पहले जलमें चली जाती और फिर ऊपर उछलती; साथ ही कुछ पानी भी उछलता। पेटकी खराबीसे या कोई घृणित वस्तु देखकर पेटके भीतर हलचल होती है। ऐसा लगता है कि वमन होनेवाला है। नेत्रोंमें आँसू भी आजाते हैं। इसी प्रकार चित्तकी व्याकुलता—घबड़ाहटको ही उद्वेग कहते हैं।

भक्त कुछ करे या न करे, वह दूसरोंको कुछ कहे या न कहे; किन्तु प्रश्न यह है कि उसे देखकर, उसके पास जाकर दूसरोंको

बेचैनी होती है या नहीं ? भगवान् कहते हैं कि भक्त प्रियदर्शन होता है। उसे देखकर, उससे मिलकर किसीको उद्वेग नहीं होता।

भक्त अपने भीतर भगवान्को लिये बैठा है। वह उनके साथ हँसने-बोलने, खेलने-खाने तथा उनकी सेवामें मग्न है। बाहर कहाँ क्या होता है, इसपर ध्यान देनेकी न उसे आवश्यकता है, न अवकाश। इसलिए लोग भी कहते हैं—भगतजी अपनी पूजामें लगे हैं। हम अपना काम कर लें। कोई यह भी कहते हैं—'हमारे काममें कुछ खटपट भी होगी तो भगतजीका ध्यान इधर नहीं जायगा। वे तो माला फेरनेमें लगे होंगे।'

यस्मान्नोद्विजते लोकोमें 'यस्मात्' सर्वनाम है और भक्तके लिए आया है। यह अपादानकारक है। अपादान आदानका उलटा होता है। भक्त किसीको उद्वेग नहीं देता। जैसे, 'वृक्षसे पत्ते गिरते हैं', इस वाक्यमें 'से' अपादानकारक है; वैसे ही भक्तसे उद्वेग नहीं गिरता। भक्तके जीवनमें उद्वेगका ज्वार नहीं उठता। उसके जीवनसे उद्वेगकी आँधी नहीं चलती। वह उद्वेगका उद्गम नहीं है। वह जान-बूझकर किसीको उद्विग्न नहीं करता; क्योंकि वह स्वयं शान्तिमें बैठा है। यदि लोग अकारण उसे अपने उद्वेग का कारण मानने-समझने लगें तो वह उनकी भूल है। उसके चित्तमें तो अपने प्रभुके अतिरिक्त दूसरेसे कोई सम्बन्धकी बात आती ही नहीं। तुम सड़कपर चलते हो। साथमें पत्नी या बच्चा हो तो उसका ध्यान रहता है कि वह भीड़में धक्के न खाय, पीछे न छूटे। लेकिन और कौन-कौन सड़कसे जाते हैं, कितनी मोटरें निकलती हैं—यह देखने-गिननेकी किसीको क्या पड़ी है ? भक्तका हृदय अपने भगवान्से पूर्ण होता है। अतः वहाँ स्थान न देखकर उद्वेग बाहरसे ही लौट जाता है।

भरी सराय रहीम लखि आप पथिक फिरि जाय।

जैसे पुलिसके सिपाहीको देखकर सरकारका स्मरण होता है, वैसे ही भक्तको देखकर भगवान्का स्मरण होता है। इसलिए उससे कोई उद्विग्न नहीं होता। जहाँ ऐसी सम्भावना हो कि कोई उद्विग्न हो सकता है, वहाँ महात्मा लोग कोई ढंग निकाल लेते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी एक बार चित्रकूटसे उसी मार्गसे दक्षिण भारतकी यात्रा करने निकले, जिस मार्गसे मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम गये थे। दण्डकारण्य जाते समय वनमें एक स्थानपर मार्ग सँकरा था और वहीं कोई स्त्री-पुरुष प्रणयक्रीड़ा कर रहे थे। गोस्वामीजी तो सर्वत्र अपने प्रभुको देखनेवाले थे। उन्होंने सोचा कि अपने प्रभु श्रीसीताराम ही यहाँ एकान्त-क्रीड़ामें हैं। अतः इनके सुखमें बाधा नहीं पड़नी चाहिए। मार्ग वही था और आगे जाना भी था। गोस्वामीजीने नेत्र बन्द कर लिये और लाठी टेकते चलते हुए बोले—'कोई अन्धेको रास्ता बताना!'

वे स्त्री-पुरुष बिना संकोच बोले—'सूरदासजी! आप ठीक मार्गपर हो। सीधे चलते जाओ!'

आगे जाकर गोस्वामीजीने नेत्र खोले तो साक्षात् श्रीसीता-रामने प्रकट होकर दर्शन दिये। भगवान् श्रीराम बोले—'लौकिक क्रीड़ामें लगे सामान्य लोगोंमें भी जो मेरा दर्शन करता है, उसे दर्शन न दूँ तो किसे दूँगा? तुम तो मेरे अत्यन्त प्रिय भक्त हो।'

एक बार एक भक्तके घर चोर घुसा। उसने लालचमें आकर घरकी सामग्रीका भारी गट्ठर बाँधा; किन्तु वह गट्ठर उसके उठाये उठता नहीं था। भक्तजी यह सब देख रहे थे। वे जाग तो रहे ही थे, झट उठ आये और बोले—'प्रभो! आप मेरे घरमें इस रूपमें पधारे, यह मेरा सौभाग्य। लाइये, यह गठरी मैं उठवाये देता हूँ।'

श्रीउड़िया बाबाजी महाराजके पास मध्यप्रदेशके जंगलोंके डाकू

कभी-कभी आते थे। वे अपनी बन्दूक तो नहीं लाते थे, पिस्तौल दूर रखकर प्रणाम करते थे। उन्हें यह भय श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजसे नहीं लगता था कि ये पुलिसको सूचना दे देंगे।

भक्तसे मनुष्योंको तो क्या उद्वेग होगा, सर्प-बिच्छू आदिको भी उद्वेग नहीं होता। योगदर्शनमें आया है—

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।

जब भगवान्में मन लगाते-लगाते महात्माके चित्तका वैर-विरोध शान्त हो जाता है, तब उसके समीप सर्प, बिच्छू, शेर, चीते, बकरी, मृग आदि सब एक साथ बैठते-खेलते हैं। उनके चित्तकी स्वाभाविक शत्रुता भी उस महात्माके समीप आनेपर दब जाती है। श्रीचैतन्य महाप्रभु जब जगन्नाथपुरीसे वनमार्ग द्वारा वृन्दावन जा रहे थे तो शेर, चीते, रीछ भी उनकी नाम-संकीर्तन-ध्वनि सुनकर पीछे-पीछे चलने लगे थे।

भक्तके सम्बन्धमें दो ही बातें हो सकती हैं—या तो उसका हृदय भगवान्में मग्न है, भगवान्को वह निर्गुण-सगुण, स्वामी-सखा, पुत्र, पति कुछ मानकर उस भावमें लीन है अथवा उसके हृदयमें भगवान् प्रकट हो गये हैं। तीसरी बात भक्तके लिए नहीं है।

बंचक भगत कहाइ राम के। किंकर कंचन कोह काम के।

जो कामनाओंके, क्रोधके, धनके सेवक हैं, जो इन संसारी पदार्थोंको ही चाहते हैं और अपनेको भगवान्के भक्त कहलाते हैं, वे वंचक—ठग हैं। वे भक्त नहीं, कम्बख्त हैं। भक्त तो कोई तभी है, जब भक्तिके लक्षण उसके हृदयमें आयें।

गाँवमें जब कोई पुलिसका सिपाही आता है, तभी लोग संकुचित हो जाते हैं। किसी बड़े अधिकारीका गाँवमें आगमन हो तो लोग डरते हैं कि पता नहीं क्या माँगे और क्या करनेको कहे। राजाओंके दौरेके समय तो बहुत-से गरीब लोग घर छोड़कर भाग

जाते थे। महाराज लंकाधिपति रावण जब अपने राज्यका दौरा करता, तो प्रजामें हाहाकार मच जाता था। लोग भयसे पुकारने लगते थे—'रावण आ रहा है।' अपने अत्याचारसे लोगोंको रुलानेके कारण दशग्रीवका नाम रावण पड़ा था।

भक्त भगवान्‌का कर्मचारी है। वह स्वयं भगवान्‌का स्वरूप है; क्योंकि—

तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्।

भगवान् तथा उनके भक्तमें कोई अन्तर नहीं होता। भक्तके रूपमें स्वयं भगवान् पधारते हैं; किन्तु भक्तके आनेसे लोग प्रसन्न होते हैं। कोई प्रसन्न न भी हो तो भी उससे उसे डर नहीं लगता। इस श्लोकके सम्बन्धमें कई टीकाकारोंने कई प्रकारकी बातें उठायी हैं। वे कहते हैं—'भक्त किसीसे उद्विग्न न हो, यह बात तो ठीक है। उसके हृदयमें भगवान् हैं, अतः उसे उद्वेग नहीं होता; लेकिन उससे कोई उद्विग्न न हो, यह कैसे होगा? सबके हृदयका दायित्व भक्त कैसे लेगा?'

इस बातको लेकर टीकाकारोंने इस श्लोकके कई प्रकारके अर्थ किये हैं। एक अर्थ यह है—'भक्तकी एक समाधिकी अवस्था होती है। जब भक्त समाधिमें होता है, तो उससे कोई डरता नहीं।' लेकिन इस अर्थमें यह आपत्ति है कि **यस्मान्नोद्विजते लोको** यह बात तब बनेगी, जब भक्त भी रहे और लोग भी रहें। भक्त लोगोंमें न रहकर समाधिमें रहे तो श्लोकका अर्थ कैसे ठीक होगा? तब कहना यह पड़ेगा कि यह बात ज्ञानी भक्तके लिए कही गयी है। देह, इन्द्रिय, मन, अहंकार—ये ज्ञानीके स्वरूप नहीं हैं। ज्ञानी तो साक्षी है। वह डरनेवाले और डरानेवाले, दोनोंका द्रष्टा है। भक्त जब सर्वात्माको अपना स्वरूप जानकर उसमें स्थित हो गया, तब अपनेसे ही कोई कैसे डरेगा? अपने-आपसे किसीको कोई

भय नहीं होता। इसलिए आत्मस्वरूपमें स्थित ज्ञानी भक्तसे किसीको कोई भय नहीं है।

लोग डरते मनुष्यसे हैं। जो अपने स्वार्थके लिए काम नहीं करता, जिसमें स्वार्थ तथा भोगकी वासना नहीं है, जहाँ परमात्मा ही बैठा काम कर रहा है, जो कर्ता-भोक्ता नहीं है, वह किसीके भयका कारण कैसे बन सकता है? अतः संसारमें भक्तसे कोई डरता नहीं है।

लोकान्नोद्विजते च यः कुछ दुष्ट लोग ऐसे होते हैं कि उनको दुष्टताको सहन कर लो तो वे सहनशीलताका दुरुपयोग करते हैं। वे सहनशीलको कायर समझते हैं और उसे बार-बार सताते हैं। लेकिन भक्त कायर नहीं होता। कायर सबसे डरता रहता है और उसे सब डराते रहते हैं। भक्त न किसीको डराता है, न किसीसे डरता ही है। वह असमर्थ नहीं है। समस्त लोक और लोकपाल जिसके शासनमें रहते हैं, वे प्रभु उसके हृदयमें विराजते हैं और उसके अनुकूल हैं। वह तो प्रह्लादके समान सबसे निर्भय है।

एक दुर्वासाजीके समान तपस्वी होते हैं, जिनसे सब लोग डरते हैं। दूसरे ध्रुवके समान सकाम भक्त होते हैं, उनसे भी लोगोंको भय होता है। जब ध्रुवके सौतेले भाई उत्तमको वनमें किसी यक्षने मार दिया तो उन्हे भयंकर क्रोध आया। भगवान्का दर्शन होजानेपर, भगवान्की भक्ति मिलनेपर ध्रुवने यक्षोंकी अलकापुरीपर चढ़ाईकर बहुत-से निरपराध यक्षोंको युद्धमें मार दिया। ध्रुवके पितामह मनुने आकर उन्हें क्षमाका उपदेश किया; अन्यथा ध्रुव यक्षोंके ऊपर नारायणास्त्र चलाकर उनका सर्वनाश ही करने जा रहे थे। दुर्वासाजीसे सब डरते हैं। ध्रुव-जैसे सकाम भक्तोंसे भी लोगोंको भय रहता है; लेकिन प्रह्लाद-जैसे भक्तोंसे कोई नहीं डरता ओर प्रह्लाद भी किसीसे डरते नहीं थे।

ऐसे समर्थ भक्त भय तथा भयके सब कारणोंसे मुक्त होते हैं। प्रह्लाद सरीखे भक्त लोगोंसे उद्विग्न नहीं होते।

भयानां भयं भीषणं भीषणानाम्।
यद्भयात् वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति यद्भयात्।

जिसके भयसे काल भी डरता है, वायु जिसके भयसे बहता है, सूर्य जिसके भयसे तपता है, वह परमात्मा जिसके हृदयमें विराजमान है, वह किससे डरेगा ? वह विश्वमें किसीसे भी उद्विग्न नहीं होता।

श्रीशंकराचार्यजीके समीप एक बार एक तान्त्रिक आया। उसने कहा—'मेरी साधनाकी सिद्धिके लिए या तो सम्राट्का मस्तक चाहिए अथवा ब्रह्मज्ञानीका। सम्राट्का मस्तक तो मुझे मिल नहीं सकता। आप ब्रह्मज्ञानी हो ! शरीरका आपको मोह नहीं है। इसलिए अपना मस्तक देनेकी कृपा करो तो मेरी साधना सिद्ध हो जाय।

श्रीशंकराचार्यजीको भला सिर जानेका क्या भय ! ब्रह्मज्ञानीका शरीर ही उसी क्षण भस्म हो गया, जब ज्ञान हुआ। आचार्यपादने कहा—'मैं समाधिमें स्थित होता हूँ। तुम मेरा सिर काटकर चुपचाप ले जाना। किसीको पता लगेगा तो वे तुम्हें कष्ट देंगे।'

आचार्थ समाधिमें स्थित हो गये। लेकिन श्रीशंकराचार्यजीके शिष्य श्रीपद्मपादाचार्यजी भगवान् नृसिंहके आराधक थे और उसी समय अपने आसनपर ध्यान करने बैठे थे। उन्हें भगवान् नृसिंहका आवेश हो गया। इधर तान्त्रिकने श्रीशंकराचार्यका मस्तक काटनेको खड्ग उठाया ही था कि नृसिंह भगवान्के आवेशमें पद्मपादाचार्यने आकर उसे पकड़कर फाड़ डाला।

भक्तको मृत्युका भय नहीं होता। कोई उसकी निन्दा करे तो भी वह प्रसन्न होता है। वह कहता है—'यह तो तुम्हारी बड़ी कृपा

है। तुम्हारे कारण मुझे शांन्ति रहती है। प्रशंसा करनेवालोंको बात सुनकर तो यहाँ भीड़ ही होती है।' इसलिए कहा भी गया है—

तथा तथाचरेद्योगी सतां वृत्तिमगर्हयन्।
जना यथावमन्येरन् गच्छेयुर्नैव संगतिम्॥ जीवन्मुक्तिविवेक.

'भक्तको, साधकको ऐसा कोई काम नहीं करना चाहिए, जिसकी शास्त्र और सन्त निन्दा करते हैं। अर्थात् उसे कोई अधर्माचरण नहीं करना चाहिए। लेकिन व्यवहार ऐसा रखना चाहिए, जिससे लोग उसकी निन्दा करें और उसके पास न आयें।'

शास्त्रोंमें वर्णन है कि शिव-निर्माल्य नहीं खाना चाहिए। शैव सम्प्रदायमें इसपर विचार हुआ कि ऐसा निर्देश क्यों है? वहाँ शैवाचार्योंका निर्णय है—'भगवान् शंकरका प्रसाद मोक्षदायक, परम पवित्र है। जिनमें श्रद्धाकी कमी है, वे अनधिकारी हिचकें कि हमारा धन, हमारा धर्म, हमारा स्वर्ग इससे नष्ट हो जायगा; और निर्माल्य न हो, इसलिए अश्रद्धालुओंको दिव्य प्रसादसे वंचित करनेके लिए शास्त्रमें वैसा आदेश है।'

इसी प्रकार भक्त मानता है कि मेरी निन्दा करनेवाले मेरे शुभचिन्तक हैं। दूसरे लोग—संसारी लोग आकर यहाँ गड़बड़ी न करें, इसलिए वे मेरी निन्दा करते हैं। किसी सन्तने कहा है—

निन्दक नियरे राखिये, आँगन कुटी छवाय।
बिनु साबुन पानी बिना निरमल करै सुभाय॥

हममें क्या दोष, क्या त्रुटि है, यह निन्दा करनेवाला हमें बता देता है—जिससे हम उस दोषको दूर कर सकें। एक महात्मा पहले-पहल लखनऊ गये और अपने एक सम्बन्धीके यहाँ ठहरे। एक सज्जन उनसे मिलने आये तो महात्माकी निन्दा करने लगे। घंटे भर वे उस महात्माकी बुराई करते रहे। जब वे चुप हो गये तो महात्माने पूछा—'बस, या अभी और कुछ शेष है?'

वे बोले—'बस !'

महात्मा—'मैं तो बड़े ध्यानसे आपकी बातें सुन रहा था कि आप मुझमें कोई ऐसा दोष बतायेंगे, जिसे मैं नहीं जानता होऊँ। लेकिन आपने तो वही दोष बताये, जिन्हें मैं पहलेसे जानता हूँ।' एक जीवन्मुक्तका वचन है—

> मन्निन्दया यदि जनः परितोषमेति
> नन्वप्रयत्नसुलभोऽयमनुग्रहो मे।
> लोके जना हि जनतापरितोषणाय
> दुःखार्जितान्यपि धनानि परित्यजन्ति॥

लोग दूसरोंको प्रसन्न करनेके लिए उन्हें धन देते हैं, उनका सम्मान करते हैं और कोई हमारे दोष देखकर, हमारी निन्दा करके ही सन्तुष्ट होता है तो यह उसकी कृपा ही है।

जिन बातोंसे संसारी पुरुष उद्विग्न होते हैं, भक्त उन बातोंसे प्रसन्न होते हैं। भक्तका धन नष्ट हो गया तो वह इसलिए प्रसन्न हुआ कि धनकी रक्षा आदिमें जो समय जाता था, अब वह भी भजनमें लगेगा। धन लेकर भगवान्‌ने कृपा की। किसी भक्त दम्पतीका पुत्र मर गया तो कहने लगे—'पुत्र होनेसे पहले हम दोनों दिन-रात भजन करते थे। यह पुत्र हुआ तो इसके पालन-पोषण, नहलाने-खिलानेमें समय लगने लगा। यह तो भजनमें बाधा आगयी थी, उसे भगवान्‌ने उठाकर अनुग्रह किया। अब पूरा समय उन्हींके भजनमें लगा सकेंगे।

इस प्रकार धन, पुत्र, परिवार, प्रशंसा आदि जिनके जाने—नष्ट होनेके भयसे संसारके लोग उद्विग्न रहते हैं, भक्त उनके जानेसे प्रसन्न होता है। उसे इसकी क्या चिन्ता कि लोग क्या करते और कहते हैं ?

तू तो राम भजो, जग लड़वा दे।

तुम तो भगवान्का भजन करो। संसारके लोग लड़ते हैं तो उन्हें लड़ने दो। भक्त न किसीको उद्वेग देता और न किसीसे उद्वेग लेता है। यदि वह लोगोंको उद्विग्न करने लगे तो हृदय उद्वेगसे भर जायगा और लोगोंसे उद्विग्न होने लगे तो हृदय उद्वेगका खजाना हो जायगा। अतः तुम अपने हृदयको उद्वेगसे मत भरो। उसे शान्तिसे परिपूर्ण करो। भक्त अपने हृदयमें उद्वगको नहीं, भगवान्को बसाता है।

जिन वस्तुओंके नाश होनेका संसारी पुरुषको भय होता है कि धन नष्ट न हो, सम्मान चला न जाय, कोई बच्चोंको वहकाये नहीं, उन वस्तुओंको भक्त चाहता नहीं। वह चाहता है भगवान्को और भगवान्को कोई उससे ले लेगा, ऐसी आशंका नहीं है। अतः भक्त किसीसे क्यों उद्विग्न होगा? हम समुद्र देखते हैं तो डर लगता है कि उसमें हम डूब जायँगे या समुद्री जीव हमें खा लेंगे। लेकिन समुद्रको अपनी अनन्ततासे डर नहीं लगता। उसे अपने भीतरके जीवोंसे भी भय नहीं लगता कि वे उसे काटेंगे। इसी प्रकार उसके भीतरके जीवोंको समुद्रसे डर नहीं लगता कि वह उन्हें डुबा देगा। भक्त अपने भगवान्से एक होकर बैठा है। अतः कोई भक्तसे नहीं डरता और भक्त भी किसीसे नहीं डरता—

नोन्मत्तात् पिशुनाज्जनाद् विरमते सर्वात्मभूतः पुमान्।
तस्मात् सर्वसुहृत्तमावपि जनो नाशङ्कते कश्चन॥
अत्युग्रैर्जलजन्तुभिर्जलनिधिर्नैवाधिमेति क्षणं।
नो यादांसि भजन्ति भीतिमुदधेरत्यूर्जितात् सर्वतः॥

—अज्ञात.

जब हृदयमें भगवान् बैठे हैं, तब भक्तके हृदयमें हर्ष-अमर्ष-भय-उद्वेगके लिए स्थान ही कहाँ है? वह तो इनसे मुक्त ही है। उद्वेग होता है हर्षसे, अमर्षसे या भयसे। ये तीनों उद्वेगके हेतु हैं। जैसे

शोथ-रोगमें देहमें सूजन आती है, वैसे ही हर्षमें भी हृदयमें सूजन आती है। हर्ष हृदयका एक रोग ही है। भय आदिमें जैसे रोमांच होता है, हर्षसे वैसे हृदय फूलता है। दुःखसे हृदय सूखता है। दुःख सूखा रोगके समान है और हर्ष शोथके समान।

संसारमें प्रिय वस्तुकी प्राप्तिसे हर्ष होता है। जब किसी संसारासक्त पुरुषको धन-पुत्रकी प्राप्ति होती है, सम्मान या अधिकार मिलता है तब भीतर उसकी नस-नस फूलती है। लेकिन भक्त धन, पुत्र, सम्मान, पद पाकर प्रसन्न नहीं होता। एक राजाका खजाञ्ची एक रात देरतक हिसाबमें उलझा रहा। राजाने कहा—

'आप हिसाब सबेरे मिला लेना।'

खजाञ्ची बोला—'यदि हिसाबमें अपना कुछ घटता होता तो मैं सबेरे मिला लेता; किन्तु यहाँ तो बढ़ रहा है। पता नहीं किसका धन भूलसे आगया है। किसी दीन-दुखियाका चित्त 'हाय' भरे और वह 'हाय' राज्यको भस्म कर दे, उससे पहले ही उसका धन उसे लौटा दिया जाना चाहिए। इसलिए हिसाबमें धन क्यों बढ़ा, यह तो इसी समय ढूँढ़ लेना है।'

भक्त भगवान्‌की ही चर्चा, उनके ही ध्यान, नाम-जप, पूजनमें सुख मानता है। वह भजनको ही अपना धन समझता है। संसारी लोग जैसे गणित करते हैं अपनी आयकी, परस्पर पूछते हैं कि आज कितने करोड़के लोग इस कथा-सभामें आये, वैसे ही मेरे साथ एक बार कुछ साधक रहते थे जो परस्पर पूछते थे—'आज कितनी आमदनी हुई? इसका अर्थ था कि तुमने आज कितना नाम-जप किया?

एक गृहस्थ भक्त उस दिन उदास होते थे, जिस दिन उनके घर कोई अभ्यागत—साधु भोजन करने न आयें। वे कहते—'आजका दिन वन्ध्या—निष्फल चला गया।'

अमर्ष—मर्षणका अर्थ है सहन करना। अमर्षका अर्थ है असहनशीलता। जब संसारमें चार व्यक्ति साथ रहते हैं तो एक दूसरेकी सहकर रहना पड़ता है। पिता-पुत्र, पति-पत्नी, गुरु-शिष्य, भाई-भाई यदि एक दूसरेकी न सहें तों उनका सम्बन्ध चार दिन भी नहीं चल सकता। जब दस व्यक्ति साथ रहते हैं तो उनमें सब ईमानदार ही नहीं होते। साथ रहनेपर सहना ही पड़ता है।

कई लोगोंके हृदयमें सदा द्वेष-अमर्षकी अग्नि जला करती है। लेकिन भगवान्‌को गरम स्थानपर रहनेका अभ्यास नहीं है। भगवान् शंकर कैलासपर—हिमालयमें रहते हैं। भगवान् नारायण क्षीरसागरमें शेषकी कोमल, शीतल शैया पर सोते हैं। अतः यदि भगवान्‌को हृदयमें बसाना चाहते हो तो अपने हृदयको शीतल बनाओ। बात-बातमें क्रोध करोगे तो जिसपर क्रोध होगा; वह याद आयेगा। अपने घरमें कोई सम्मानित पुरुष आये हों, उनका सेवा-सत्कार करना हो और उनके सामने ही तुम किसीसे लड़ने लगो, जोर-जोरसे गाली-गलौज करने लगो तो यह बात शिष्टाचार-के भी विरुद्ध होगी। तुम्हारे हृदयमें प्रभु, समस्त लोकोंके स्वामी विराजमान हैं; फिर तुम किस बातके लिए दूसरोंसे लड़ते हो? दो आने पैसेके लिए या इसलिए कि किसीने नेत्र टेढ़े करके तुम्हें देखा, दो शब्द कह दिये तुमको? इन तुच्छ बातोंके लिए तुम प्रभुकी ओर पीठ करके खड़े होते हो?

एक सज्जनपर एक देवता प्रसन्न हुए। प्रकट होकर देवताने कहा—'वरदान माँगो; किन्तु यह स्मरण रखो कि जो कुछ तुम्हें मिलेगा, उससे दुगुना तुम्हारे घर पड़ोसीको प्राप्त होगा।

वे महोदय सोचकर बोले—'तब यह वरदान दीजिये कि मेरी एक आँख फूट जाय।'

देवताने कहा—'और कुछ माँगो!'

वे बोले—'मेरे द्वारके सामने एक कुआँ बन जाय। यह अमर्ष है कि मेरी आँख फूटेगी तो पड़ोसीकी दोनों फूट जायँगी। मैं एक आँखसे देखकर कुएँमें गिरनेसे बचा रहूँगा; किन्तु पड़ोसी अन्धा हो जायगा, उसके द्वारके सामने दो कुएँ होंगे तो उनमें गिरकर मरेगा ही।

मैंने सुना है कि जो ईमानदार मन्त्री हैं, उनके पुत्रोंको गिरानेके लिए जो मन्त्री ईमानदार नहीं हैं, उनके पुत्र हजारों-लाखों रुपये खर्च करके षड्यन्त्र करते हैं कि वे भी हमारे साथ भ्रष्टाचारमें सम्मिलित हो जायँ, जिससे जब हमारा भेद खुले तो हम उनका रहस्य भी प्रकट कर सकें। एक व्यक्ति ईमानदारीके कारण प्रशंसा पाता है और दूसरा बेईमान होनेसे निन्दित होता है तो ईमानदार व्यक्तिको भी वह बेईमान आदमी ईमानदारीसे हटानेका प्रयत्न करता है।

उचित तो यह है कि जो अपनेसे आगे जा रहे हैं, उन्हें और आगे बढ़ानेमें सहायता करो। जो तुमसे उन्नत हैं, सुखी हैं, यशस्वी हैं, उन्हें देखकर प्रसन्न होओ। जो तुम्हारे बराबर हैं, उन्हें देखकर प्रसन्न होओ। जो तुम्हारे बराबर हैं, उन्हें आगे बढ़ानेका अवसर दो! जो तुमसे पीछे हैं, उन्हें खींचकर बराबर ले आओ। यात्राका यह सामान्य शिष्ट नियम है कि जो तुम्हारे पीछे हैं और आगे बढ़ना चाहते हैं, उन्हें दाहिने करके आगे बढ़ानेका अवसर दो। बद्रीनाथकी यात्रामें कोई दुर्बल होता है तो उसे लोग सहारा देकर ले चलते हैं। ऐसे ही संसारमें हमें दुर्बलको सहारा देना चाहिए।

किसीको हर्ष हुआ, तो चित्त चञ्चल हुआ। उसमें उद्वेग आया। आमर्श हुआ, तो चित्तमें उद्वेग आया और भय लगा तो चित्तमें उद्वेग आया। लेकिन जिसके हृदयमें भगवान् बैठे हैं, वहाँ तो स्थान ही खाली नहीं है। अतः उसके पाससे ये स्वयं निवृत्त

हो जाते हैं। भक्तको हर्ष होता है तो भगवान्‌के स्मरणसे। उसे अमर्ष होता है तो उन्हींसे कि तुम कहाँ छिप जाया करते हो? भगवान्‌को छोड़कर दूसरे किसीकी याद उसे नहीं आती।

जहाँतक भयकी बात है, यह चित्तकी सबसे अधिक निरर्थक वृत्ति है। लोगों को भय लगता है कि उनका धन नष्ट हो जायगा, वे गरीब हो जायँगे। अरे, जब संसारमें आये थे तो कुछ लेकर आये थे? उस समय तो तुम नंगे आये थे। जिसने तुम्हें शरीर देकर भेजा, तुम्हारी चिन्ता उसे है। तुम क्यों व्यर्थ भय करते हो?

एक महात्मा जंगलमें रहते थे। किसीने उनके पास एक छोटा बच्चा छोड़ दिया। महात्माने बच्चेको पाल लिया। एक बुढ़िया प्रतिदिन दो रोटी महात्माके यहाँ उस बच्चेके लिए दे जाती थी। बच्चा कुछ वर्ष बाद बड़ा हुआ। एक दिन रोटी लेकर बुढ़ियाकी युवा लड़की आयी। बच्चेने अबतक बुढ़ियाके अतिरिक्त कोई स्त्री देखी नहीं थी। उसने पूछा—'तुम कौन हो? वे माताजी आज क्यों नहीं आयीं?'

लड़की—'मैं उनकी पुत्री हूँ। वे बीमार हैं। उन्होंने ही मुझे यहाँ रोटी पहुँचानेको भेजा है।'

लड़का—'तुम्हारा शरीर तो उन माता-जैसा नहीं है तुम्हारा वक्षःस्थल उठा हुआ क्यों है?'

लड़की—'ये स्तन हैं। जब मेरे बच्चा होगा, तो उसके पीनेके लिए इनमें दूध आयेगा।'

लड़का—'तुम्हारे बच्चा है?'

लड़की—'अभी तो नहीं है।'

लड़का—'अभी तुम्हारे पुत्र है नहीं और ईश्वरने उसके लिए तुम्हें ये अंग दे दिये हैं। तब जो ईश्वर बच्चेके आते ही इनमें

दूध भेज देता है, वह मुझे भी दे देगा। अव तुम कलसे रोटी मत ले आना।

स रक्षिता रक्षति यो हि गर्भे।

तुम रोटी-कपड़ेके लिए, रोगके भयसे इसलिए डरते हो; क्योंकि भगवान्से तुम्हारा परिचय नहीं है। भक्त भगवान्को पहचानता है। वह जानता है कि वे ही सबके रक्षक हैं।

भक्तके लिए मृत्यु तो भक्तिके मार्गकी यात्रामें मिलनेवाला नया वस्त्र है; क्योंकि वह जानता है कि मनकी जिस अवस्थामें शरीर छूटता है, वही अवस्था फिर प्राप्त होती है। जीवन वहींसे पुनः प्रारम्भ होता है।

विश्वमें प्रतिदिन लाखों लोग मरते हैं। तुम्हारे मरनेसे ही क्या बनने-बिगड़नेवाला है! जब किसी धनी व्यक्तिके पुत्र होनेवाला होता है तो वह बच्चेके जन्मसे पहले ही उसके लिए सौ-दो-सौ वस्त्र बनवा लेता है। सम्पूर्ण लोगोंके स्वामी ईश्वरने अपने बच्चोंमें-से प्रत्येकके लिए चौरासी लाख वस्त्र बनवा दिये हैं। उसकी इच्छा होती है कि मेरा बच्चा सरके तो सर्पका वस्त्र दे देता है। जब चाहता है कि बच्चा उड़े तो पक्षीका वस्त्र देता है। यह सब शरीर जीवके केवल वस्त्र ही हैं। अतः भक्त मृत्युसे डरता नहीं। वह देखता है कि सब देह तो अपने परम स्नेहमय प्रभुके ही दिये वस्त्र हैं।

संसारके हर्ष-अमर्ष-भयसे उद्विग्न होते-होते लाखों करोड़ों जन्म बीत गये। भक्त वह है जो भगवान्को अपना परम प्रियतम मानकर उनमें बैठ गया। उसे संसारमें कहीं, किसीसे कोई बेचैनी नहीं होती। यदि बेचैनी होती है तो केवल भगवान्से मिलनेको ही। परमात्मा मिल गया तो बेचैनी कैसी!

यस्मान्नोद्विजते लोकोमें **मद्भक्तः** नहीं आया है। इससे पहले और इसके बाद भी जो भक्तके लक्षण भगवान्‌ने बतलाये हैं, उन सबमें **मद्भक्तः है**। इस सम्बन्धमें एक महापुरुषने कहा—'जो विश्वमें किसीको उद्विग्न नहीं करता और जो स्वयं किसीसे उद्विग्न नहीं होता, हर्ष, असहिष्णुता, भय तथा उद्वेग जिसे छोड़कर स्वयं चले गये, वह भक्ति करे या न करे, भगवान्‌ने कहा कि मेरा प्रिय है। **एवं भूतः यः कश्चित् स च मे प्रियः** ऐसा जो कोई भी है, वह मुझे प्रिय है।'

हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तः इसमें एक ध्वनि है। भक्त होकर 'मेरे चित्तमें यह हर्ष आया, इसे त्यागना है। यह अमर्ष, भय या उद्वेग आया, इसे दूर करना है' इस प्रकारकी सावधानी यदि भक्तको रखनी पड़े तो यह ऐसी ही अवस्था होगी जैसे कोई सम्मानित व्यक्ति घर आगये तो उनको बैठाकर गृहस्वामी डंडा लेकर घरकी चौकीदारी करने लगा कि घरमें कोई कुत्ता या चोर प्रविष्ट न हो जाय। यह सेवाकी पद्धति तो नहीं हुई। यदि भक्तकी दृष्टि **हर्षामर्षभयोद्वेग**को दूर करनेपर ही सदा रहेगी तो उसे भगवान् भूल जायँगे। वह तो अन्तःकरणरूपी घरका सेवक बन जायगा। भक्तको तो अपने भगवान्‌में मन लगाकर उन्हींकी सेवा करनी चाहिए। घरमें स्वामी विराजमान हैं और घरका रखवाला उनकी सेवामें लगा है—यह बात चोर आकर देखेंगे तो स्वयं घरमें घुसनेका साहस उनको नहीं होगा। वे अपने-आप वहाँसे चले जायँगे। अतएव भक्तको **हर्षामर्षभयोद्वेग** ने स्वयं छोड़ दिया है। उसको इन्हें छोड़नेका प्रयत्न नहीं करना पड़ता, क्योंकि जो चित्त भगवान्‌में लगा है, उसमें दोषोंके लिए स्थान ही नहीं है। सांसारिक प्रसन्नता, स्पर्धा, द्वेष, भय तथा व्याकुलता उसके पास फटकते ही नहीं।

: १६ :

● *संगति*

भक्ति चित्तके दोष दूर करने या किसी अन्य उद्देश्यसे नहीं की जाती। उसका प्रयोजन केवल भगवान्‌की प्रसन्नता ही है। भगवान् केवल भक्तिसे ही प्रसन्न होते हैं। मनुष्यकी जाति, पौरुष, रूप, विद्या आदि गुणोंकी ओर वे नहीं देखते—

भक्त्या तुष्यति केवलं न च गुणैर्भक्तिप्रियो माधवः।

गुण तो अन्तःकरणके आभूषण हैं। कोई व्यक्ति विवाह करनेके लिए लड़की देखने जाय और उसका रूप, शील, विद्या न देखकर यह देखे कि उसने कैसे वस्त्र तथा आभूषण पहन रखे हैं, तो वह मूर्ख ही कहा जायगा। अन्तःकरणमें जड़े हीरोंके समान गुणोंसे भगवान् सन्तुष्ट नहीं होते। उन्हें गुणोंसे नहीं, अपितु भक्तके हृदयमें जो उनके प्रति प्रेम है, वह प्रिय है।

एक व्यक्ति पैर तो दबाता है; किन्तु उसका मन कहीं और है। तब उसका पैर दबाना शारीरिक सेवारूप कर्म, कर्म होनेपर भी भक्ति नहीं है। कोई व्यक्ति भक्ति करता है, जप-पूजनादिमें लगा है, किन्तु उसका कुछ फल चाहता है। उसके हृदयका प्रेम तो उस वस्तुमें है, जिसे वह पाना चाहता है। वह भगवान्‌से भक्तिके बदलेमें वह वस्तु चाहता है। ऐसी भक्ति भक्ति नहीं है। सेव्यके साथ मोल-तोल नहीं चलता। भक्ति तो केवल भगवान्‌को प्रसन्न करनेके लिए होती है।

माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः
स्नेहो भक्तिरिति ख्यातः ।

ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वेश्वर, करुणासागर, भक्त-वत्सल है; इस प्रकार उसके माहात्म्यका ज्ञान होकर उसमें मनकी सुदृढ़ तथा सबसे अधिक प्रीति हो, इसका नाम भक्ति है। जिसके हृदयमें भगवान्‌का माहात्म्यज्ञानपूर्वक उनमें सुदृढ़ तथा सर्वाधिक स्नेह है, वह भक्त है।

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये ।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ ॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम् ।

—भागवत ३.२९.११-१२

जब भगवान्‌की चर्चा, भगवान्‌का गुण सुननेको मिले, तभी चित्त द्रवित होकर बहने लगे और उस द्रवित चित्तकी धारा अखण्ड रूपसे भगवान्‌में ऐसे गिरे जैसे गङ्गाकी धारा समुद्रमें गिरती है।

ऐसा भक्त कैसा होता है ? इसे बतलाते हुए भगवान् भक्तके सम्बन्धमें जो कई प्रकारकी भ्रान्ति लोगोंके मनमें है, उसे दूर करना चाहते हैं।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१६॥

'जिसको कोई अपेक्षा नहीं है, जो पवित्र, निपुण, उदासीन, व्यथारहित है तथा सब आरम्भोंको छोड़ चुका है, ऐसा मेरा भक्त मुझे प्रिय है।'

अनपेक्षः—केवल भगवान् ही ऐसे हैं कि उनसे हम सब सम्बन्ध रख सकते हैं। संसारमें तो जो माता है, वह पिता नहीं

हो सकती और जो पिता है, वह माता नहीं बन सकता। भगवान्‌से तो प्रार्थना करते हुए हम कहते हैं—

त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव, त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

भला संसारमें पिता या माता, बन्धु तथा मित्र कैसे बन सकते हैं? **त्वमेव सर्वं** जिसे कहा जा सके, वह तो एकमात्र भगवान् ही हैं! इसलिए भक्त संसारमें किसीसे किसी सम्बन्धकी अपेक्षा नहीं करता। जब सर्वेश्वर, सर्वरूप भगवान् ही उसके माता-पिता, मित्र-सखा—सब बन गये तो उसे संसारमें अपने सम्बन्धी बनानेकी आवश्यकता ही क्या है? गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

तोहि मोहिं नाते अनेक, मानियें जो भावै।
ज्यों त्यों तुलसी कृपालु चरन-सरन पावै॥

अनपेक्षः—उत्तम-से-उत्तम शब्द, सर्वसुकोमल स्पर्श, परम सुन्दर रूप, अमृतोपम रस और सर्वश्रेष्ठ सुगन्ध भगवान्‌में है। उनके शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धकी अनन्त असीम मधुरिमाका क्षुद्रतम कण भी संसारकी किसी वस्तुमें नहीं है। वही भगवान् जिसके हृदयमें हैं, उसे संसारके पदार्थोंके पास शब्द, स्पर्श, रूप, रस या गन्धकी भिक्षा माँगने जानेकी क्या आवश्यकता है?

सम्पूर्ण ज्ञानके निधान तो भगवान् हैं। अतः उन्हें छोड़कर ज्ञानप्राप्तिके लिए, विद्याके लिए भक्त अन्यत्र कहाँ जायगा?

किसी समर्थका बनकर किसी दूसरेके पास किसी भी इच्छासे जाना अपने समर्थ स्वामीका अपमान करना है। ईश्वरके बनकर भी क्या तुम संसारके किंकर बनोगे? श्रीरूप गोस्वामी तो कहते है कि श्रीकृष्णका प्रेमी होकर श्रीबलरामसे भी प्रेम करना, प्रेममें व्यभिचार है। एक बड़े आदमीका सेवक किसी दूसरेके पास पाँच रुपये माँगने जाय, इसमें उसके स्वामीका अपमान है। अतः भक्त

होकर—भगवान्के होकर उनका अयश मत कराओ। भक्तको शरीर, मन, इन्द्रिय, बुद्धि—किसीके लिए संसारमें किसीसे कोई अपेक्षा नहीं होती।

भक्त जरूरतमन्द नहीं होता। उसे संसारमें किसीकी परवाह नहीं होती। किसी व्यक्ति या वस्तुको आना हो तो आये और जाना हो तो जाय। वह किसीको प्रतीक्षा-अपेक्षा नहीं करता। भक्तको खाने-पीने-सोनेकी भी अपेक्षा किसी दूसरेसे नहीं है। वह भगवान्में ही खाता-पीता-सोता है। जिसे किसी अन्यसे प्रयोजन नहीं, किसीसे कोई अपेक्षा नहीं, वह भक्त है।

भगवान् यहाँ यह बतला रहे हैं कि संसारके साधारण लोगोंकी अपेक्षा उनके भक्तमें क्या विशेषता होती है। संसारमें अच्छे-से-अच्छा नौकर खूब लगकर स्वामीको सेवा करता है; परन्तु स्वामीसे वेतन तो चाहता ही है। वह कहता है—'हम इनके लिए दिन-रात खटते हैं तो इन्हें भी तो हमारे भोजन, कपड़े, वेतन, ओषधि आदिका ध्यान रखना चाहिए।' इसी प्रकार जो कहे—'हमने इतना चन्दन घिसा, इतने दिन माला फेरी, इतने दिन पूजा की, इतने लाख जप किया, अब भगवान्को भी तो हमारा मन धर्ममें लगाना चाहिए। हमें कुछ तो धन-सुख-यश देना चाहिए।' यह भक्ति नहीं है। भजन करके ऐसी इच्छा करना उपाधि है। यह कपट है। जैसे लोग दो पैसेकी माला हनुमान्जीको चढ़ाकर उनसे पाँच सौ रुपया माँगते हैं।

जब घरमें विवाह पड़ता है तो लोग पुराना विवरण निकालते हैं। उसमें लिखा होता है कि अमुकके घर विवाह हुआ था तो उनके यहाँसे चार लड्डू आये थे। अब भले ही घरमें रखे लड्डू सड़ जायँ; किन्तु उनके घर तो चार ही लड्डू भेजे जायँगे। ऐसा व्यापार भक्तिमें नहीं चलता। भक्तको भगवान्से भी कोई अपेक्षा नहीं होती।

अनपेक्षःको व्याख्या करते हुए भक्त टीकाकार कहते हैं—मोक्षेऽपि अनपेक्षः गीताके निदिध्यासु टीकाकार श्रीशङ्करानन्दजी-ने भी यही व्याख्या की है। भक्ति निरपेक्षतामें ही उत्पन्न होती, फूलती और फलती है। कुछ ऐसे लोग हैं कि वे जिसकी आराधना करते हैं, उससे कोई याचना नहीं करते; दूसरेसे माँगते हैं। वृन्दावनके एक भक्त हैं। वे कभी-कभी मेरे पास आते हैं। वे कहते हैं—'श्रीकृष्णकी भक्ति तो मैं निष्काम करता हूँ। यदि कभी कोई आवश्यकता हुई तो बलरामजीसे प्रार्थना करता हूँ।' गोपी भावसे उपासना करनेवाले उद्धवजीसे और श्रीरामके भक्त अपनी कामना-पूर्तिकी प्रार्थना हनुमान्‌जीसे करते हैं। परन्तु किसीसे भी प्रार्थना की जाय, यह अपनी भक्तिकी सौदेबाजी, भक्तिको बेचना ही तो है।

अपेक्षाका त्याग किये बिना भक्ति नहीं होती। 'अपेक्षा = अप+ईक्षा। ईक्षा = दृष्टि, देखनेकी शक्ति जहाँसे अपगता हुई—चली गयी, तब मनुष्य अन्धा हो गया। काम, क्रोध, लोभ, मोहसे अन्धा हुआ मनुष्य ही अपेक्षा करता है। जब उसे दृष्टि प्राप्त हो जाती है, तब अनपेक्ष हो जाता है। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है कि वस्तुतः निरपेक्ष होना ही मुक्ति है। मोक्ष और कुछ नहीं है।

नैरपेक्ष्यं परं प्राहुः निःश्रेयसमनल्पकम्।
तस्मान्निराशिषो भक्तिर्निरपेक्षस्य मे भवेत्॥

—भागवत ११.२०.३५

निरपेक्षता ही सबसे बड़ी मुक्ति है। अतएव सम्पूर्ण रूपसे अपेक्षारहित होनेपर ही मनुष्य सच्ची भक्ति कर सकता है। आशा—अपेक्षा कोई न हो, तब भक्ति होती है। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है कि निरपेक्षताका यह इतना ही अर्थ नहीं है कि हम

किसीसे कुछ चाहते नहीं हैं; कोई बिना माँगे कुछ दे और तब भी न लिया जाय, यह निरपेक्षता है। 'हम चाहते तो नहीं थे, परन्तु कोई अपने-आप देने आगया तो ले लिया।' 'मना करनेपर भी कोई छोड़ गया तो उसे रख लेना है।' यह निरपेक्षता नहीं है। निरपेक्ष वह है जो स्वयं भगवान्‌के देनेपर भी स्वीकार नहीं करता। श्रीमद्भागवतमें आता है—

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥

—भागवत ३.२९.१३

जैसे गुरु कहते हैं शिष्यसे—'अब तुम सिद्ध हो गये, तुम्हीं शिष्य बनाओ।' वैसे भगवान् कहें—'तुम ब्रह्मा बनकर अब सृष्टि करो, अथवा मेरे लोकमें चलो, मेरे आभूषण बनकर मेरे शरीरपर रहो, मेरे समान रूपमें रहो, अथवा मुझमें मिल जाओ!' तो भक्त कहता है—'प्रभु, मुझे यह कुछ नहीं चाहिए। मुझे केवल आपकी सेवा चाहिए।'

सच बात तो यह है कि चाहनेकी कोई वस्तु है ही नहीं। ईश्वर पहलेसे अपने हृदयमें बैठा है। ज्ञान और मोक्ष अपने स्वरूप हैं। इसमें कोई वस्तु चाहनेकी तो है नहीं। यह जो संसारकी चाह—सांसारिक वस्तुओंकी अपेक्षा बीचमें आगयी, उसीने मनुष्यको अन्धा कर दिया। उसने नित्य प्राप्त वस्तुको अप्राप्त बनाकर धर दिया। इसीसे मनुष्य व्याकुल हुआ भटकता है। भक्तमें कोई अपेक्षा नहीं होती; क्योंकि परमात्मा नित्य प्राप्त है और संसारकी ओर उसकी दृष्टि नहीं है।

अनपेक्षः अर्थात् मोक्षाभिसन्धिशून्य। भक्त मोक्ष भी नहीं चाहता तब अर्थ, धर्म, काम तो बहुत छोटी वस्तुएँ हैं।

नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचित् मत्पादसेवाभिरता मदीहाः।
अन्योन्यतो भागवताः प्रसह्य सभाजयन्ते मम पौरुषाणि॥
—भा० ३.२५.३४

भक्त एकात्मता—केवल चिद्भाव नहीं चाहते। वे तो चाहते हैं कि हमारा भगवान्‌के साथ आस्वाद्य-आस्वादक भाव बना रहे। प्रभुको देखकर हमारे आनन्दमें बाढ़ आती रहे और प्रभुके आनन्दके हम कारण बनें।

अनपेक्षः मद्भक्तःसे यह भाव निकलता है कि भक्तको भगवान्‌की भक्ति तो अपेक्षित है; परन्तु दूसरा कुछ अपेक्षित नहीं है। अब इसमें मोक्षका क्या रूप है, इसे समझना चाहिए। किसी सज्जनने जीवनमें बड़ी लगनसे राजाकी सेवाकी। उनपर राजा प्रसन्न हुए और बोले—अब आप वृद्ध हुए। आपका शरीर सेवाके योग्य रहा नहीं। अब अपने घर रहिये। आपके निर्वाहके लिए आपको पेन्शन दी जाती है।'

भक्त कहता है—'अर्थ, धर्म, काम, कर्म, योग और उपासनासे मुक्ति देने तककी बात तो ठीक है; किन्तु सेवासे मुक्ति! ना, यह मुक्ति नहीं चाहिए।'

दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः। भागवत.

'सार्ष्टिकी पदप्रतिष्ठा, सालोक्यका भवन, सामीप्यका नैकट्य, सारूप्यकी वेशभूषा और आपसे एक होनेकी महत्ता हमको नहीं चाहिए। हमें तो आपकी सेवा ही चाहिए।' भक्त भगवान्‌की सेवा चाहता है, शेष सबसे वह अनपेक्ष है।

शुचिः शुचिता, पवित्रता और स्वच्छतामें अन्तर है। शरीरमें साबुन-तेल लगाकर उत्तम वस्त्र पहन लिये तो स्वच्छ वेशभूषा हो गयी। कपड़ेको साबुन लगाकर धोया और टिनोपाल लगा दिया तो सफेद हो गया; किन्तु यह पवित्रता नहीं है। गंगाजलमें

धोया कपड़ा देखनेमें मैला हो सकता है, उसमें सिकुड़न भी हो सकती है, परन्तु वह पवित्र है। भगवान्‌की प्रसन्नताके लिए स्वच्छता नहीं, पवित्रता अपेक्षित है। उनकी सेवामें जो चन्दन, धूप, पुष्प, वस्त्रादि लगेंगे, जो नैवेद्य उन्हें अर्पित होगा, वह तुम्हारी ईमानदारीकी कमाईका है या नहीं? तुम जो भोजन करते हो, वस्त्र पहनते हो, दूसरी वस्तुएँ काममें लेते हो, वह ईमानदारीसे प्राप्त धनका है या नहीं? और भगवान्‌को अर्पित करके प्रसादरूपमें काममें लेते हो या अपने भोगके लिए काममें लेते हो?

श्रीरामनुजाचार्यजीने कहा—'शास्त्रोक्त रीतिसे न्यायार्जित धनके द्वारा पुष्ट शरीर ही शुचि है। बेईमानीके धनसे, शास्त्रवर्जित कार्यसे प्राप्त धनसे जो अन्न-वस्त्र आया, उससे पुष्ट शरीर शुचि नहीं है।'

श्रीशंकराचार्यजीका कहना है—'शुचि'का अर्थ केवल बाहरी पवित्रता ही नहीं है। जिसका अन्तःकरण छल-कपट, दम्भ-पाखण्ड, काम-क्रोध, लोभ-मोह, राग-द्वेषादि दोषोंसे रहित है, वह शुचि है। शरीरसे तो चोरी, बेईमानी, हिंसा, असत्यभाषण, अनाचारादि दुष्कर्म न हों और मन राग-द्वेष, काम-क्रोधादिसे रहित हो।

जो लोग समझते हैं कि भक्त गन्दे रहते हैं, वे भ्रममें हैं। भक्त संसारी लोगोंके समान बाहरी स्वच्छताको महत्त्व नहीं देते, परन्तु वे बाहर-भीतर पवित्र होते हैं। जिसके हृदयमें पवित्रता नहीं है, उसके हृदयमें बैठकर भगवान् कैसे प्रसन्न होंगे? अपवित्रता तो मल है। जैसे पेट साफ न हो, शौच खुलकर न होता हो तो पेटमें मल एकत्र होनेसे शरीरमें अनेक रोग होते हैं, वैसे ही अन्तःकरण पवित्र न हो तो उसमें छल-कपट, काम-क्रोधादि रोग होने लगते हैं। ये काम-क्रोधादि अन्तःकरणके मल हैं। ये अज्ञानके पर्देको अधिक दृढ़ बनाते हैं।

वस्तुतः निरपेक्षता ही पवित्रता है। मनुष्यको गन्दा करनेवाली वस्तु यदि संसारमें कोई है तो वह अपेक्षा है। इसीने तुम्हें दीन-हीन-कंगाल बना रखा है। मनुष्य चाह-चाहकर मर रहा है। शुचिका अर्थ पवित्र नहीं है, उसका अर्थ है पवित्र करनेवाला। अग्निका नाम शुचि है। जब कोई धातुका पात्र किसी प्रकार स्वच्छ नहीं होता तो उसे अग्निमें डालते हैं। मेरी जन्मभूमिकी ओर मैंने देखा था कि घरमें लोगोंके जूठे बर्तन तो मिट्टीसे मलकर पानीसे धो लिये जाते थे; किन्तु यदि कुत्ता बर्तन जूठा कर दे तो उसे अग्निमें डालकर तब मलते-धोते थे। शास्त्रमें ऐसा विधान है कि मिट्टीके बर्तन एक बार जूठे हो जानेपर फिर शुद्ध नहीं होते। ये काँचके, चीनी मिट्टीके, पत्थरके बर्तन भी जूठे होकर शुद्ध नहीं होते। लेकिन धातुके बर्तन अग्निमें डाल दिये जायँ तो शुद्ध हो जाते हैं। अतः अग्निका नाम शुचि है। वह दूसरोंको शुद्ध करता है। ऐसे ही भक्त भी दूसरोंको पवित्र कर देते हैं।

'भक्तिरसामृतसिन्धु'में यह बात कही गयी है कि किसी भक्तके पाससे ही भक्तिकी प्राप्ति होती है। भक्तके पास श्रद्धासे जाओ। वहाँ नम्र बनकर बैठो और मनको एकाग्र करो। मनमें अभिमान मत रखो। इस प्रकार जब तुम्हारा चित्त निस्तरग होगा, तब उस भक्तके हृदयमें जो भावचन्द्रका उदय हो रहा है, उसकी छाया तुम्हारे चित्तमें पड़ेगी। तुम्हारे मनमें भगवान्‌का स्मरण होगा। तुम्हारे मुखसे भगवन्नाम निकलेगा। तुम्हारे शरीरमें रोमाञ्च होगा। तुम्हारे नेत्रोंमें प्रेमाश्रु आयेंगे। यह सब तुम्हारे भजनसे नहीं हो रहा है। यह तन्मयता उस भक्तके चित्तमें उदित भावचन्द्रके प्रभावसे है! जैसे जल जब स्वच्छ और निष्काम होता है तो उसमें चन्द्रमाका प्रतिबिम्ब पड़ता है, वैसे ही भक्त वह है जिसके पास श्रद्धा-नम्रतापूर्वक जाकर निरभिमान तथा एकाग्र

होकर बैठनेसे चित्तमें भगवान् स्फुरित होते हैं, मुखसे भगवन्नाम निकलता है, मन भगवान्‌के स्मरणमें तन्मय होता है, संसार भूल जाता है, चित्तके छल-कपट आदि मल नष्ट होते हैं।

शुचिः शब्द शुच् धातुसे बना है, जिसका अर्थ शोक तथा दीप्ति है। शुचि वह है, जिसके पास जानेसे जीवन चमक जाय, उसके दोष-मल नष्ट हों और उसमें दीप्ति आजाय।

धर्मात्माकी शुचिता यह है कि धर्मशास्त्रमें जैसे वर्णन हैं, उस रीतिसे शौच-स्नान, सन्ध्या-वन्दन आदि समस्त कर्मोंका आचरण करे, दान-जप आदि करता रहे। इसमें-से किसी कर्मसे शरीर और किसीसे चित्तकी शुद्धि होती है।

वेदान्तकी शुचिता है—**कर्मण्यसंगमः शौचम्**। भागवतमें यह शुचिताकी परिभाषा दी गयी है। कर्म कितना भी उत्तम हो, उसमें आसक्ति होगी तो वह बन्धनका हेतु बनेगा। केवल फला-सक्ति ही बन्धनका हेतु नहीं है, कर्मासक्ति भी बन्धनका हेतु है। इसलिए वेदान्ती कहते हैं—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥

—गीता ४.१८

जब कर्मासक्ति छूट जायगी, तब ठीक-ठीक शुचिता प्राप्त होगी। कर्ममें आसक्त न होना, जैसे अग्निपर कोई लेप नहीं चढ़ता वैसे जिसे कर्म लिप्त नहीं होते—वह कर्ता—भोक्तापनसे मुक्त पुरुष शुचि है।

भक्तकी शुचिता इन दोनोंसे विलक्षण है। हम सब सन्ध्या-वन्दन करते समय प्रायः प्रतिदिन कहते हैं—

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थांगतोऽपि वा।
यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः॥

भगवत्स्मरण हुआ तो पवित्रता आगयी। भगवान्‌के अतिरिक्त अन्य किसीका स्मरण ही अपवित्रता है। केवल भगवान्‌का स्मरण ही पवित्रता है। अपने तन, मन, जीवनको पवित्र करनेवाली एक मात्र वस्तु है पुण्डरीकाक्ष भगवान्‌का स्मरण।

अपि पापप्रसक्तो वा ध्यायन्निमिषमच्युतम्।
भूयः तपस्वी भवति पंक्तिपावनपावनः॥

पापमें आसक्तचित्त व्यक्ति भी यदि क्षण भरके लिए भी भगवान्‌का ठीक-ठीक स्मरण कर लेता है तो वह तपस्वियोंसे भी श्रेष्ठ और पंक्तिपावनोंको भी पावन करनेवाला हो जाता है।

दक्षः—दक्षका अर्थ है निपुण। लोगोंकी धारणा है कि भक्त माला भले फेर लें और कीर्तनमें भले नाच-कूद लें; किन्तु वे किसी सांसारिक कामके नहीं होते। उन्हें कोई काम ठीक-ठिकानेसे करना आता ही नहीं है। यह धारणा ठीक नहीं है। भक्त निपुण होता है। श्रीशङ्कराचार्यजीने यहाँ दक्षका अर्थ किया है—

प्रत्युत्पन्नेषु कार्येषु सद्यो यथावत् प्रतिपत्तुं समर्थः।

कोई नया काम जिसे अबतक समीपके लोगोंने जाना या किया न हो, अचानक आजाय तो भक्त देखते ही उसकी तहतक पहुँच जाता है और उसे ठीक-ठीक करनेमें समर्थ होता है।

श्रीरामानुजाचार्यजीने दक्षःका अर्थ शास्त्रोक्त कर्ममें निपुणता किया है। श्रीवल्लभ दीक्षित (श्रीवल्लभाचार्यके सम्प्रदायमें आचार्यसे पीछे हुए एक विद्वान्)ने दक्षःका अर्थ भगवत्सेवा-निपुण किया है। कोई ब्राह्मण नौकर रखकर भगवान्‌के श्रीविग्रहको पूजा करा लेना, बाजारसे माला तथा मुकुट आदि खरीद लाना, उपासना है; किन्तु यह भगवत्सेवामें दक्षता नहीं है। स्वयं पूजन करना, स्वयं चन्दन घिसने, माला गूँथने, नैवेद्य बनाने, मुकुट-कुण्डल निर्माण करनेमें कुशलता प्राप्त करनेका नाम दक्षता है।

मनमें भगवान्‌की सेवा-पूजाका चिन्तन करो तो पता लगेगा कि उनके मुकुटमें कहाँ हीरा, पन्ना, पुखराज, माणिक, मोती लगनेसे शोभा बढ़ती है।

मनुष्यकी सबसे बड़ी कुशलता—निपुणता इसमें है कि वह संसारके झांसेमें न फँसे। माया मनुष्यको ठग रही है। बुद्धिमान् वह है जो घरमें आये ठगोंसे ठगा न जाय। उन्हें पहचान ले। माया सबसे बड़ी ठगिनी है। यह लोगोंको शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध एवं मान-प्रतिष्ठादिके भिन्न-भिन्न लोभ देकर फँसा रही है। दक्ष वह है जो मायाके इन प्रलोभनोंमें न फँसे।

उदासीनो—उत्-ऊपर, आसीन-बैठना। जैसे आप मकानमें ऊपर छज्जेपर बैठे हैं। नीचे सड़कपर मोटरें, बसें, पैदल तथा दूसरी सवारियाँ जा रही हैं। नीचे कोई दुर्घटना भी हो जाय तो उससे आपकी कोई हानि नहीं है। आप पर्वतके शिखरपर बैठे हैं और नीचे नालोंमें बाढ़ आगयी है, तो आपको डूबनेका भय नहीं है। इसी प्रकार जो संसारके राग-द्वेष, सुख-दुःख, हर्ष-शोककी धारामें बहता नहीं है, उससे ऊपर बैठा है; उसे उदासीन कहते हैं।

उदासीनः, उद् इति ब्रह्म नाम, 'उद्' कहते हैं ब्रह्मको। उस ब्रह्ममें जो बैठा है, जिसकी स्थिति परमात्मामें है। **ऊर्ध्व-मूलमधः शाखंमें** जो ऊर्ध्वमूल परमात्मा है उसमें जो स्थित है, वह उदासीन है।

उदासीन तथा मध्यस्थमें अन्तर है। दोनोंके दो भिन्न-भिन्न अर्थ होते हैं। दो व्यक्ति परस्पर लड़ रहे हों, तीसरा व्यक्ति उनके पास जाकर, उन्हें समझाकर लड़नेसे रोक दे, उन दोनोंकी बात सुनकर बिना किसीका पक्षपात किये न्यायपूर्वक ठीक-ठीक निर्णय कर दे, तो वह तीसरा व्यक्ति मध्यस्थ कहा जायगा। लेकिन वह उदासीन नहीं कहा जा सकता।

कोई बच्चा अपने पिताके साथ, कोई सेवक अपने स्वामीके साथ अथवा कोई पत्नी अपने पतिके साथ कहीं जा रही है। अब बच्चे, सेवक या पत्नीका काम किन्हीं लड़ते हुए लोगोंके पास जाकर, उनकी बात सुनकर न्यायपूर्वक निर्णय करना नहीं है। वे तो जिसके साथ हैं, उसपर उनकी दृष्टि है। दूसरे लोग क्या करते हैं, इसपर उनकी दृष्टि नहीं जाती। यह उदासीनता है। भक्त अपने भगवान्‌के साथ है। उनकी दृष्टि भगवान्‌पर है। अतः संसारकी ओरसे वह उदासीन है। संसारमें लोग क्या करते अथवा कहते हैं, इसपर उसकी दृष्टि ही नहीं जाती।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ गीता ६.९

इस श्लोकमें उदासीन और मध्यस्थ दोनों शब्द दो अर्थोंमें स्पष्ट रूपसे आये हैं।

मेरे एक मित्रका कहना है—**शुचिर्दक्षः**में जो पवित्रता और दक्षताका वर्णन किया गया, उससे लगता है कि यह भक्त कर्ता है। इसका निषेध करनेके लिए उसे भगवान्‌ने उदासीन कहा। वह पवित्रतापूर्वक कर्म करता हुआ भी पवित्रताका आग्रही नहीं है। जैसे कोई सज्जन स्नान करके सन्ध्या कर रहे थे। इतनेमें कोई मजदूर उनके पाससे निकला तो मजदूरसे उनका वस्त्र छू गया। अब वे क्रोधमें भरकर उठे और गाली देने लगे—'मैं स्नान करके, शुद्ध वस्त्र पहनकर सन्ध्या वन्दन करने बैठा था, तूने मुझे छूकर अपवित्र कर दिया।' उसे मारने लगे। केवल छू जानेसे तो सन्ध्यामें विघ्न पड़ा नहीं था। **ॐ अपवित्रः पवित्रो वा** मन्त्रको पढ़कर जल छिड़क लेते, फिरसे भगवान्‌का नाम लेकर आचमन कर लेते और सन्ध्या-वन्दनमें लग जाते। लेकिन उनके क्रोधने सन्ध्या-वन्दन कर्ममें ही बाधा दे दी। अतः भक्त स्वयं पवित्र

रहनेका प्रयत्न तो करता है; किन्तु पवित्रताका आग्रही नहीं होता। किसीसे चार बूँद जलके छींटे उसपर भूलसे पड़ गये तो वह लड़ नहीं जाता।

इसी प्रकार वह कर्म करनेमें निपुण तो होता है; किन्तु उसमें फँसता नहीं। कर्म करता हुआ भी वह उससे ऊपर बैठता और उसमें अनासक्त रहता है। उसमें कर्म-कुशल लोग 'यही कर्म करूँगा' ऐसा आग्रह रखने लगते हैं। भक्तमें ऐसा आग्रह नहीं होता। शुचिता और दक्षतामें कर्ता-भोक्तापन न आने पाये, यह सूचित करनेके लिए **उदासीनः** कहा गया है।

उदासीनः प्रभुके कार्यको छोड़कर दूसरे सब कामोंके प्रति उदासीनता। पत्नी पतिकी सेवाके साथ देवर, ननद, सास, श्वसुरकी भी सेवा करती है; किन्तु यह सेवा पतिके नाते करती है। जहाँतक इन सबकी सेवासे पति प्रसन्न होता है, वहाँतक वह इनकी सेवा करती है। लेकिन यदि इन सबके काममें लगकर वह पतिको ही भूल जाय तो कर्तव्यच्युत मानी जायगी। संसारके सारे सम्बन्ध भगवान्के लिए हैं। संसारकी सेवा भी भगवान्के नाते करनी है। लेकिन संसारके जो कार्य भगवान्के स्मरण-भजनमें बाधा दें, वे तो त्यागने ही योग्य हैं।

नाते नेह रामके मनियत सुहृद-सुसेव्य जहाँ लौं।
अंजन कहा आँखि जेहि फूटे, बहुतक कहौं कहाँ लौं॥
तजो रे मन हरि विमुखनको संग।
जिनके संग कुमति उपजति है, परत भजनमें भंग॥

जो अविहित है, जो अपना कर्तव्य नहीं है, वह तो त्याज्य है। जो शास्त्रविहित कर्म हैं, उनसे भी काम्य कर्म अर्थात् इस लोकमें धन, सुख, यशके लिए किये जानेवाले कर्म तथा स्वर्गादि परलोकके सुखोंकी प्राप्तिके लिए किये जानेवाले कर्मोंसे भी भक्त

उदासीन हो जाता है। भगवत्सेवाके लिए किये जानेवाले नाम-जप, पूजा-पाठ आदि नित्यकर्म तथा उत्सवयात्रा, एकादशी-शिव-रात्रि आदिके नैमित्तिक उपासना-कर्म वह करता है। देखना यह है कि तुम्हारा आसन कहाँ है—संसारमें या भगवान्में ? भक्त सदा भगवान्के समीप बैठता है।

भक्त सद्गुणोंसे भी उदासीन होता है। कोई सकाम भक्ति करे तो उसके चित्तमें सद्गुण अपने-आप नहीं आयेंगे। वे भगवान्की आज्ञाकी अपेक्षा करेंगे कि भगवान् आज्ञा दें तो हम उस सकाम भक्तके हृदयमें जायँ। निष्कामता भी यद्यपि भक्तके हृदयमें भगवान् ही भेजते हैं; किन्तु आना तो इस बातका संकेत है कि स्वयं भगवान् उस भक्तके हृदयमें आनेवाले हैं। जैसे राष्ट्रपति या राज्यपालके आनेकी जहाँ सूचना मिलती है, वहाँ सरकारी कर्मचारी अपने-आप पहुँच जाते हैं और स्थानकी स्वच्छता, सजा-वट तथा सुरक्षाका प्रबन्ध करने लगते हैं। उन्हें बुलाना नहीं पड़ता और न उनसे यह सब प्रबन्ध करनेको प्रार्थना करनी पड़ती है। इसी प्रकार जहाँ-जिस चित्तमें भगवान्के आनेकी सूचना मिली—निष्कामता आयी, वहाँ सब देवता समस्त गुणोंके साथ पहले ही स्वयं आजाते हैं। वे स्वयं उस चित्तके रहे-सहे दोष दूर कर देते हैं। उसे उत्तम गुणोंसे सजाते हैं और क्रोध-लोभादि चोर-डाकू वहाँ घुस न आयें, इसकी सुरक्षाका प्रबन्ध भी स्वयं करते हैं।

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणाः मनोरथेनासति धावतो बहिः॥

—भागवत ५.१८.१२

जो मनोरथों—कामनाओंके पीछे संसारमें दौड़-भटक रहे हैं, उनके समीप सद्गुण कैसे आ सकते हैं ? जब वे स्वयं अपने चित्तमें बैठे, भगवान्से संसारमें दौड़ रहे हैं तो सद्गुण उनके पीछे कैसे

दड़ेंगे ? लेकिन जो भगवद्भक्त हैं और भक्तिके बदले कुछ भी नहीं चाहते, उनकी सेवामें सब देवता और सब सद्गुण स्वयं उपस्थित हो जाते हैं; क्योंकि उनके हृदयमें तो सबके स्वामी सर्वेश्वरेश्वर प्रभु पधारनेवाले हैं।

जब मनुष्य संसारके विषय चाहता है, इन्द्रियोंमें बैठे उनके अधिष्ठातृ देवता प्रसन्न नहीं होते। वे दुःखी होते हैं कि इसका जीवन व्यर्थ जा रहा है। लेकिन जब मनुष्य भगवान्‌को पानेकी इच्छा करता है तो इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ देवता प्रसन्न तथा आवश्यक हो जाते हैं। वे गुणोंको भी बुला लेते हैं कि इसके हृदयमें भगवान् प्रकट होनेवाले हैं। इसकी कृपासे हमें भी प्रभुकी सेवाका सौभाग्य प्राप्त होगा।

एक राजा कहीं विदेश गये थे। उनके कई रानियाँ थीं। विदेशसे राजाने रानियोंको पत्र लिखकर पूछा कि उन्हें क्या मँगाना है ? किसी रानीने अपने पत्रमें आभूषण लानेको लिखा, किसीने वस्त्र, किसीने खिलौने तथा किसीने और कुछ। राजाने अपनी रानियोंके पत्र पढ़े और उनमें जो कुछ लानेको लिखा गया था, वह सामग्री खरीद ली। लेकिन एक रानीके पत्रमें कुछ लानेको नहीं लिखा था। उसमें '१' लिखा था। राजाकी समझमें पत्र नहीं आया तो किसी विद्वान्‌से उन्होंने पूछा। उस विद्वान्‌ने बताया—'यह रानी कहती है कि उसे पदार्थ नहीं चाहिए। उसे तो एक आपको ही पानेकी इच्छा है।'

राजा अपनी राजधानी लौटे। जिस रानीने जो वस्तु मँगायी थी, वह उसके भवनमें भिजवा दी; किन्तु जिसने पत्रमें '१' लिखा था, स्वयं उसके भवनमें गये। ऐसे ही जो भक्त भगवान्‌को छोड़कर कुछ नहीं चाहता, भगवान् स्वयं उसके पास आते हैं और जब वे स्वयं ही आगये, तब उनके साथ कोई मन्त्री, सेनानायक, सिपाही

आये या नहीं, इसकी कोई आवश्यकता नहीं। स्वामी स्वयं ही जब आगये तो सेवकके आने न आनेकी क्या चिन्ता ? स्वामीको घरपर निमन्त्रण देकर बुलाया और बिठाया और स्वयं द्वारपर जाकर सेवकके आगमनकी प्रतीक्षा करने लगे, चिन्ता करने लगे कि अमुकजी तो अभी तक नहीं आये। यह भक्तिका, प्रीतिका विघ्न है। वे भगवान् हृदयमें आगये तो सद्‌गुण आयें या न आयें, भक्त उनसे उदासीन है। भक्तकी दृष्टि भगवान्‌की भक्ति प्रीतिमें ही रहती है। प्रीतिको ही वह सर्वस्व मानता है। भक्त भगवान्‌को लेकर संसारसे उदासीन हो जाता है। वह किसीसे शत्रुता, घृणा, द्वेष, राग या किसीकी मध्यस्थता नहीं करता।

मैं तो गिरधर हाथ बिकानी होनी होय सो होय।

गतव्यथः—व्यथाको मनमें मत आने दो। एक सज्जन चाहते थे कि उनके घरका कोई व्यक्ति सूर्योदयके समय सोया न रहे। भाव तो उत्तम था और उन्होंने प्रयत्न भी बहुत किया; किन्तु सफल नहीं हुए। संकल्पमें बाधा पड़ी तो क्रोध आया। घरमें अशान्ति रहने लगी और वे स्वयं दुःखी हो गये। दुःख तो है पापका फल और पाप था उनका सबसे अपेक्षा करना कि सब सूर्योदयसे पूर्व उठ जायें। भक्त ऐसी झूठ-मूठकी व्यथा नहीं पालता। उसे तो व्यथा तब होती है, जब भगवान्‌का स्मरण नहीं होता, उनका नाम भूल जाता है। भगवत्सम्बन्धको छोड़कर किसी सम्बन्धसे उसका चित्त व्यथित नहीं होता।

श्रीशङ्करानन्दजीने **गतव्यथः**का अर्थ किया है **नैनं कृताकृते तपतः** भगवत्प्राप्ति हो जानेपर भक्तको—'यह करना था और इसे मैंने नहीं किया' अथवा 'नहीं करना चाहिए था, जो मेरे द्वारा हो गया' ऐसी पश्चात्तापजन्य व्यथा नहीं होती। श्रुति भी कहती है—

नैनं तपति किमहं साधु नाकरवम् किमहं पापमकरवम् ।

'आज यह करनेसे रह गया और आज यह काम ठीक नहीं हुआ।' इस प्रकार कामकी चिन्ता भक्तको क्यों हो ? ये काम तुम्हें अपने लिए करने हैं या प्रभुके लिए ? अथवा संसारके लिए ? जब तुम प्रभुके सम्मुख बैठे हो, उनके प्रेममें मग्न हो रहे हो, तब कामकी चिन्ता क्यों ? भक्त अपने चित्तमें भगवान्‌को रखते हैं, अतः वहाँ व्यथाको कैसे रख सकते हैं ?

जिस कमरेमें मकड़ीके जाले लगे हैं, खटमल-मच्छर-पिस्सू हैं, उसमें क्या कोई अपने प्रियको ठहराना चाहेगा ? काशी नरेशके यहाँ अतिथि होकर पञ्चम जार्ज आनेवाले थे तो उन्होंने शौचालय इत्रसे धुलवाया। भगवान् तो सर्वलोक महेश्वर हैं। वे तुम्हारे हृदयमें आनेवाले हैं तो हृदयको स्वच्छ तो करना चाहिए। व्यथा तो चाण्डालिनी है। जिस हृदयमें वह चीख-पुकार रही है, उसमें भगवान् कैसे विराजेंगे ?

अपने घरमें कोई प्रिय आये और तुम कहो—'मेरे हाथमें दर्द है ! तब क्या वह तुमसे भोजन बनवायेगा ? क्या तुम्हें अपने पैर दबाने देगा ? व्यथा तो सेवासे ही वञ्चित कर देती है। अतः भक्तके मनमें धन, परिवार, सम्बन्धी किसी भी व्यक्ति या वस्तुके जाने, खाने या नष्ट होनेसे व्यथा नहीं होती। अर्थ, धर्म, काम—किसीके नष्ट होनेसे उसका चित्त व्यथित नहीं होता। छान्दोग्य उपनिषद्‌में कहा गया है—'सुकृत-दुष्कृत दोनों पाप्मा हैं।' दृष्टि दुष्कृतपर जाय या सुकृतपर, उसका भगवान्‌को छोड़कर अन्यत्र जाना ही पाप्मा—पापकी माँ, पापकी उत्पत्तिका कारण है।

सर्वारम्भपरित्यागी भक्त अधिक खटपट करनेवाला नहीं होता; क्योंकि भगवान्‌ने गीतामें ही कहा है—

सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ।

कर्म कोई ऐसा नहीं है, जिसमें कुछ न कुछ दोष न हो। अतः कैसा भी उत्तमसे उत्तम कर्म करो, उसकी कुछ न कुछ कालिख तो लगेगी ही।

एक सज्जनको मैं जानता हूँ। उनके मनमें यह बात थी कि 'अपने पास खूब पैसे हो जायँ तो काम-धाम छोड़कर ऋषिकेश जाकर भजन करेंगे। रुपया बेङ्कमें रख देंगे, उसके ब्याजसे शरीर-निर्वाह होता रहेगा। गंगा किनारे अपनी कुटिया बनवा लेंगे। नौकर भोजन बना दिया करेगा। शान्तिसे भजन करेंगे।' इस इच्छाको पूरी करनेके लिए उन्होंने व्यापार प्रारम्भ किया; क्योंकि खूब धन तो व्यापारसे, कारखाना चलानेसे ही आयेगा। अब उनपर आयकर विभागने मुकदमा चला दिया है। दो वर्षोंसे उस विभागके कार्यालयमें दौड़ रहे हैं। भजनकी बात तो पता नहीं कहाँ छूट गयी? अब आयकर अधिकारियोंके यहाँ घण्टे-दो-घण्टे प्रतिदिन दौड़नेमें लगते हैं।

कर्मका आरम्भ करोगे तो वह अपनेमें उलझायेगा।

श्रीशंकराचार्यजीने **सर्वारम्भपरित्यागी**का अर्थ किया है—लोक और परलोकमें जिन कर्मोंका फल प्राप्त होता है, उन सब काम्य कर्मोंका त्याग। भगवान्‌के लिए कथा-कीर्तन, जप-पूजन, पर्व-यात्रादि कर्म भगवत्प्रीत्यर्थ होनेवाले कर्म हैं। भक्त उनका त्याग नहीं करता।

मुख्य प्रश्न यह है कि आप कर्म किसलिए करते हैं? पूजन-कीर्तन महोत्सव भी लोग अपनेको प्रसिद्ध करनेके लिए करते हैं। जो कर्म भगवान्‌के लिए किये जाते हैं, वे बन्धनके हेतु नहीं हैं। उनके अतिरिक्त लौकिक-पारलौकिक सब कर्म भक्त त्याज्य मानता है। संसारमें व्यापार, कारखाने खोलना आदि होता है धन प्राप्तिके लिए। यज्ञ-तप होता है स्वर्गादिकी प्राप्तिके लिए। ऐसे जान-

बूझकर जो कर्म-विस्तार किया जाता है, उससे चित्तमें विक्षेप आता ही है और उसका फल होगा भगवान्‌का विस्मरण और भक्तको यह स्वीकार नहीं है।

श्रीरामानुजाचार्यने **सर्वारम्भपरित्यागीका** अर्थ किया है—'शास्त्रीय व्यतिरिक्त सर्वारम्भपरित्यागी।' दूसरे आचार्योंने इसका अर्थ किया है—'परमार्थ विरोधी सर्वारम्भ परित्यागी।' लेकिन यदि कोई समाधि लगाये तो उसमें भी तो चित्तवृत्ति निरोध होनेपर भगवान् छूट ही जायेंगे और यदि कोई प्रतिदिन भण्डारा करने लगे, तो उसमें भी चित्तमें बड़ा विक्षेप होगा। अतः भक्त भगवान्‌से विमुख करनेवाले सभी कर्मोंका त्याग कर देता है।

यो मद्भक्तः स मे प्रियः यहाँ कुछ लोग कहते हैं कि हर्ष-द्वेष, शोक-आकांक्षा रहित होना, सर्वारम्भका परित्याग कर देना आदि जो बातें भगवान्‌ने बतलायी हैं—ये भक्तके लक्षण नहीं, उसके आभूषण हैं। वह तो सहज स्वभावसे भगवान्‌को प्रिय है।

लोग जिसमें प्रेम करते हैं, उसीके आस-पास मँडराते हैं। उसीके लिए जीते हैं। अब कोई चाहे कि भगवान् उसके प्रेमी बन जायँ तो वह क्या करे? उसे भक्त बन जाना चाहिए।

हम भगतन के भगत हमारे।
सुन अर्जुन परतिज्ञा मोरी, यह व्रत टरत न टारे॥

प्रेमी जैसे अपने प्रेमास्पदके आस-पास चक्कर काटता है, भगवान् भी वैसे ही भक्तके पीछे लगे घूमते हैं। वे स्वयं कहते हैं—

अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः। भागवत

उत्तम भक्त कहते हैं कि प्रेम एकांगी श्रेष्ठ होता है। जैसे मछलीका प्रेम जलसे है। जलसे पृथक् होते ही वह अपने प्राण त्याग देती है; किन्तु जलका प्रेम मछलीसे नहीं है। जैसे चातकका प्रेम मेघसे है।

जलद जनम भरि सुरत बिसारइ।
जाँचत जल पबि पाहन डारइ॥
चातक रटनि घटे घटि जाई।
बढ़े प्रेम सब भाँति भलाई॥

भगवान् कहते हैं कि यह तो भक्तके प्रेमकी महिमा है कि वह यह अपेक्षा नहीं करता कि मैं भी उससे प्रेम करूँ; किन्तु मैं जल या मेधके समान जड़ नहीं हूँ। **यो मद्भक्तः** जो मेरा भक्त है **स मे प्रियः** वह मुझे प्रिय है। मैं भी उससे प्रेम करता हूँ। अतः भक्त तो स्वभावसे भगवान्‌को प्रिय है; किन्तु 'अनपेक्षः' आदिसे युक्त जो भक्त है, उसे 'प्रियः' कहनेका अर्थ है कि वह प्रियतर है—विशेष प्रिय है।

जैसे पत्नी अपने पतिको प्रिय है, लेकिन यदि वह पत्नी उत्तम वस्त्र, आभूषण धारण करती है, पतिके अनुकूल चलती है तो पतिको विशेष प्रिय होती है। ऐसे ही **एवम्भूतः भक्तः प्रियः-प्रियतरः**। इन गुणोंसे युक्त भक्त भगवान्‌को विशेष प्रिय है। शास्त्रकी कहनेकी यह परिपाटी है—

गङ्गा कनखले पुण्या।

गंगाजी तो सर्वत्र पुण्यदायिनी हैं। वे केवल कनखलमें ही पुण्यदायिनी हों अन्यत्र नहीं, ऐसी बात नहीं है। तब 'कनखले पुण्या' कहनेका तात्पर्य है कि कनखलमें गङ्गा विशेष पुण्यदायिनी हैं। इसी प्रकार यहाँ **यो मद्भक्तः स मे प्रियः**का अर्थ है कि इन बताये गुणोंसे युक्त जो मेरा भक्त है, वह मुझे विशेष प्रिय है। सामान्य रीतिसे सभी जीव भगवान्‌को प्रिय हैं।

सब मम प्रिय सब मम उपजाये।

●

: १७ :

● *संगति*

अब भगवान्‌के नित्य स्वभावका वर्णन करते हैं। भक्तके हृदयमें पहले उनकी उपस्थितिका भास होता है। इस अवस्थामें श्रद्धा-विश्वास होता है कि वे मेरे हृदयमें हैं, किन्तु उनकी उपस्थितिका अनुभव नहीं होता। उसके बाद भक्तके हृदयमें भगवान्‌की स्फूर्ति होती है। हृदयमें वे प्रत्यक्ष दीखते, हँसते-बोलते, खेलते-खाते हैं और तब भक्त उनके आनन्दमें मग्न हो जाता है।

भगवान्‌की उपस्थितिका बोध विश्वास-प्रधान है। हृदयमें उनकी स्फूर्ति ज्ञान-प्रधान और भगवान्‌के साथ आनन्द मिले, यह प्रियत्व-प्रधान है। जब भगवान् प्रियके रूपमें हृदयमें स्फुरित होने

लगते हैं, जब यह निश्चय हो जाता है कि भगवान् ही हमारे परमाराध्य, परम लक्ष्य, सर्वगुणगणैकनिलय, जीवनसर्वस्व हैं तो भक्त हृदयमें उन्हें पकड़कर आनन्दमग्न हो जाता है।

भक्तको यह आनन्दमग्नता इतनी अधिक होती है कि भगवान् भी भक्तके आनन्दमें मग्न हो जाते हैं और उससे प्रेम करने लगते हैं। संसारमें जिससे हमें सुख मिलता है, उससे प्रेम करते हैं। भक्तके हृदयमें इतना आनन्द होता है कि भगवान् भी उसे देखकर मुग्ध हो जाते हैं। वे भी सोचते हैं कि यह निर्मल आनन्दपूर्ण हृदय तो हमें चाहिए। भक्तमें इस आनन्द भावकी प्रतिष्ठा हो गयी इसकी पहचान क्या? यही अगले श्लोकमें बतला रहे हैं—

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥१७॥

'जो न हर्षित होता-न द्वेष करता, न शोक करता-न आकांक्षा करता, शुभाशुभको जिसने छोड़ दिया है और जो भक्तिमान् है, वह मेरा प्यारा है।'

हृष्यति द्वेषमें बुराई है, यह स्पष्ट ही है; किन्तु कोई प्रसन्न हो—हर्षित हो, इसमें क्या बुराई है? हर्ष हृदयका एक विकार है, यह समझमें आनेकी बात है। श्रुतिने कहा—

हृष्टो दृप्यति दृप्तो धर्ममनुक्रामति।

बहुधा लोगोंको संसारमें वस्तु, व्यक्ति, पद अथवा स्थिति पाकर हर्ष होता है। लेकिन इन सबसे तो उसे दर्प भी होगा कि 'मेरे पास इतना धन है, इतनी विद्या है, ऐसा विद्वान् मेरा मित्र है अथवा मैंने इतना तप किया।' और दर्प आसुरी सम्पत्ति है—

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥

—गीता १६.४

दर्प होनेपर मनुष्य धर्मका अतिक्रमण करता है—'हमारा कोई क्या कर लेगा'—ऐसा भाव उसमें आजाता है। इसमें भी कई प्रकारकी श्रेणियाँ हैं। दर्प होनेपर संसारी पुरुषकी दृष्टि दूसरेपर जाती है—'मेरे पास इतना जनबल, यह अधिकार है। गोपियोंकी, शृंगार रसके भक्तोंकी दृष्टि अभिमान होनेपर दूसरेपर तो नहीं जाती; किन्तु भगवान्‌को छोड़कर अपनेपर चली जाती है—

आत्मानं मेनिरे स्त्रीणां मानिन्योऽभ्यधिकं भुवि। भागवत.

वात्सल्यमें यशोदाजीकी दृष्टि पूतनापर चली गयी थी। सख्यमें गोप बालकोंकी दृष्टि बकासुर-अघासुरपर जाती है। लेकिन भगवान् तो सर्वत्र भक्तकी रक्षा करते हैं।

धर्मात्मा, तपस्वी, ज्ञानीका हर्ष भिन्न-भिन्न प्रकारका होता है। भक्तिमें भी दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य भावका हर्ष भिन्न-भिन्न प्रकारका होता है। लेकिन भक्तमें केवल भगवद् विषयक हर्ष होना चाहिए। वह अपने हृदयमे विराजमान भगवान्‌में तन्मय रहता है। वह बाह्य संसारमें यह नहीं देखता कि उसे प्रिय वस्तु, व्यक्ति अथवा स्थिति प्राप्त होती है या अप्रिय। आप स्वयं यदि संगीत जानते हैं तो भगवान्‌को गाकर रिझायेंगे। आपको बाहरसे गायक बुलानेकी क्या आवश्यकता है ? इसी तरह भक्त भी अपने हृदयमें प्रभुके आनन्दमें मग्न है। उसे बाहरी वस्तुसे प्रसन्नता लेनेकी आवश्यकता नहीं होती। बाहरसे इष्ट विषयकी प्राप्ति हो तब हर्ष हो, ऐसा तो संसारी पुरुष होता है। भक्त अपने हृदयमें उपस्थित, स्फुरित, परमानन्द स्वरूप भगवान्‌को देखकर,

उनका सान्निध्य प्राप्त करके नित्य आनन्दमग्न रहता है। बाहरसे इष्ट विषय प्राप्त करके उसे हर्ष नहीं होता।

न द्वेष्टि जो व्यक्ति सांसारिक वस्तु, व्यक्ति अथवा परिस्थितिसे हर्षित होता है, उसे उस वस्तु, व्यक्ति अथवा परिस्थितिसे द्वेष भी होगा, जो उसकी प्रिय वस्तु, व्यक्ति अथवा परिस्थितिकी प्राप्तिमें बाधा देती हो। 'यह हमारे आनन्दमें बाधा देगा, यह हमारा विषय सुख नष्ट करेगा', ऐसी आशंका उसे जिससे होगी, उससे उसका द्वेष होगा; क्योंकि उसका आनन्द नाशवान् है। भक्त ऐसा अविनाशी आनन्द लेकर बैठा है कि किसी देश, किसी काल, किसी स्थितिमें कोई भी निमित्त उसे घटा नहीं सकता। उसका आनन्द कार्य, कारण अथवा निमित्त—किसीके नाशसे नष्ट नहीं होता; क्योंकि उसके आनन्दके कारण तथा निमित्त भगवान् हैं और वे अविनाशी हैं। भक्तके लिए संसारका सभी रूप परमानन्दमय प्रभुकी क्रीड़ा, उनका कौशल है, तब वह द्वेष किससे करे? अत: भक्त **निर्वैरः सर्वभूतेषु** हो जाता है।

भगवान्‌ने पहले **अद्वेष्टा सर्वभूतानां**के द्वारा समस्त प्राणियोंसे सामान्य रूपसे द्वेष न करनेकी बात कही थी। अब **न द्वेष्टि**के द्वारा यह कह रहे हैं कि कोई आकर भक्तके सुख-शान्तिमें बाधा डाले तो उससे भी वह द्वेष नहीं करता। उसे अनिष्ट हो अनिष्टकी प्राप्ति हो, तब भी उसके चित्तमें द्वेषका उदय नहीं होता। कोई भक्तको चन्दन लगाये या चपत मारे—दोनों ही परिस्थितियोंमें उसे न तो हर्ष होता है और न रोष हो; क्योंकि वह चन्दन या चपत देखकर—दोनों क्रियाओंमें अपने प्रियतम प्रभुका हाथ देखता है। इसलिए **अद्वेष्टा सर्वभूतानां**में तो सामान्य रूपसे समस्त प्राणियोंसे द्वेष न करनेकी बात है और **न द्वेष्टि** में यह कहा गया कि जिन प्रसंगोंमें द्वेषका उदय होना

सामान्य व्यक्तिमें स्वाभाविक है, उन प्रसंगोंमें भी भक्तके चित्तमें द्वेषका उदय नहीं होता। कोई उसे मरणपर्यन्त पीड़ा दे, तब भी वह उससे द्वेष नहीं करता।

हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तः हर्ष-अमर्ष-भय-उद्वेगने स्वयं भक्तके हृदयमें आना छोड़ दिया है। द्वेष उसके हृदयमें आता ही नहीं; क्योंकि भगवान्‌ने दोषोंको आज्ञा दे दी है कि मेरे भक्तके हृदयमें मत जाना। जैसे यमराजके दूत जब पाश लेकर पापियोंको यमपुरी लानेके लिए चलने लगते हैं तो यमराज उनसे कानमें कहते हैं—

स्वपुरुषमभिवीक्ष्य पाशहस्तं वदति यमः किल तस्य कर्णमूले।
परिहर भगवत्कथासु मत्तान् प्रभुरहमन्यनृणां न वैष्णवानाम्॥

—विष्णुपुराण.

'मेरे दूतो! देखो, दूसरे सब मनुष्योंका स्वामी तो मैं हूं, किन्तु भगवान्‌के भक्त मेरी अधिकार-सीमामें नहीं हैं। इसलिए भगवत्कथा-कीर्तनमें लगे लोगोंसे तुम दूर ही रहना।' इसी प्रकार भगवान्‌के दोषोंको कह दिया है कि मेरे भक्तके हृदयमें जाना मत। क्योंकि श्रुति कहती है—

एष ह्येवैनं साधुकर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषत।
एष उ एवैनमसाधुकर्म कारयति तं यमधो निनीषते॥

—कौ० ब्रा० ३.८

भक्तके हृदयमें कोई परेच्छासे भी राग-द्वेष बलात् प्रविष्ट कराना चाहे तो वे कहते हैं—'भाई, अभी क्षमा करो! मेरे हृदयमें भगवान् विराजमान् हैं।' किसीने भक्तको निमन्त्रण दिया—'मेरे घरपर संगीत-गोष्ठी है, भोजनकी भी उत्तम व्यवस्था है, पधारिये!' तो भी भक्त कहेगा—'विवशता है। यहां हृदयमें प्रभु विराजमान हैं, उन्हें छोड़कर जाया नहीं जा सकता।' किसीने उसे गाली दी, तो भी प्रभुको छोड़कर गाली देनेवालेकी ओर वह चित्त नहीं ले

जाता। वह नहीं देखता कि कौन निमन्त्रण देता है और कौन गाली। वह तो अपने हृदयमें विराजमान प्रभुके आनन्दमें मग्न है। यहाँ आनन्द भावकी पूर्ण प्रतिष्ठा हो गयी।

जिसके पास अरब-खरब द्रव्य है, वह क्या कानी कौड़ी पाकर प्रसन्न होगा? अतः जो सर्वान्तर्यामी, सर्वलोकमहेश्वर, सर्वाविभामक प्रभुको प्राप्त कर चुका है, उसे किसी सांसारिक वस्तुके मिलनेसे क्या हर्ष होना है। ऐसे ही अरबपतिका एक नया पैसा खो जाय तो उसे क्या दुःख हो सकता है?

एक गृहस्थ महात्मा थे। उनके घर पुत्र उत्पन्न हुआ। लोगोंने समाचार दिया तो वे बोले—'समुद्रमें एक बूँद और बढ़ गयी।'

संसारिक पुरुषका सुख, धन तो बाहरी वस्तुओंमें है। उसके धनको कोई छीन भी सकता है, चुरा भी सकता है; लेकिन भक्तका कोष उसके हृदयमें है। उसे कोई भी नहीं छीन सकता।

एक सेठजी कलकत्तेसे बम्बईकी यात्रा कर रहे थे। उसके पास अधिक रुपया था। कलकत्तेसे ही एक चोर उनके साथ हो गया। दोनों रेलके प्रथम श्रेणीके यात्री थे। दिनमें सेठजी अपनी पेटी खोलते, वस्त्र निकालते और कभी-कभी रुपया भी गिन लेते। रातमें जब वे सो जाते तो चोर उनका सामान ढूँढ़ता; किन्तु उसे रुपया मिलता नहीं था। बम्बई पहुँचकर जब सेठजी स्टेशनसे घर जाने लगे तो चोरने उनके पैर छूकर, प्रणाम करके कहा—'मैं चोर हूँ। कलकत्तेसे आपके पीछे लगा था; किन्तु आपका रुपया मुझे मिला नहीं। आप जीते, मैं हारा। आप अब तो सुरक्षित पहुँच ही गये हैं, अतः बता दीजिये कि आप अपना रुपया रखते कहाँ थे?'

सेठजी बोले—'मेरे समान आपने भी अपना कोट टाँग रखा था। सोनेसे पहले जब आप लघुशंका करने जाते थे, मैं अपना

मनीबेग आपके कोटकी जेबमें डाल देता था और सबेरे उठकर जब आप शौच जाते तो मैं उसे जेबसे निकाल लेता था।'

सेठजीकी पेटी, बिस्तर, जेबें तो चोर ढूँढ़ता था; किन्तु उनका रुपया उसकी अपनी ही जेबमें होगा, यह बात उसके ध्यानमें कैसे आती ? इसी प्रकार भगवान् हैं तो सबके हृदयमें ही; किन्तु उनको संसारी लोग ढूँढ़ते नहीं हैं। वे बाहर भटक रहे हैं। भक्त अपने हृदयमें विराजमान भगवान्‌में निमग्न है। वह कहता है—'तुम मुझसे क्या छीन सकते हो ? मेरा क्या बिगाड़ सकते हो ? मैंने जिसे त्याग दिया, जिससे मेरा वैराग्य है, संसारकी उन वस्तुओंको कोई लेता या बिगाड़ता है तो मेरी उससे क्या हानि होती है ?'

वर्चस्के सम्परित्यक्ते दोषतश्चावधारिते।
यदि दोषं वदेत्तस्मै किं वा उच्चरितुर्भवेत्॥

जिस मलका त्याग कर दिया गया, यदि कोई उसे लेकर अपने खेतमें खादके रूपमें उपयोग करे अथवा 'यह बहुत दुर्गन्धित है' कहकर उसकी निन्दा करे, इससे फेंकनेवालेका क्या बनता बिगड़ता है ?

एक बार मैंने श्री उड़िया बाबाजी महाराजसे कहा—'लोग बड़ी ऐसी-वैसी बातें कहते हैं।'

उन्होंने कहा—'तुम मच्छरोंकी भनभनहाट समझनेका प्रयत्न ही क्यों करते हो ?'

एक कथा साधुओंमें कही-सुनी जाती है। किसी गाँवमें एक बैल वृक्षके नीचे बैठा जुगाली कर रहा था। इतनेमें एक मच्छर उसके नेत्रके सामने आकर भनभनाने लगा। बैलने पूछा—'तुम क्या चाहते हो ?'

मच्छर बोला—'मैं देरतक आपके सींगपर बैठा रहा। इसके लिए आप मुझे क्षमा करें !'

बैल—'मुझे तो यह पता नहीं कि तुम कब मेरे सींगपर बैठे और कब उसपर-से उड़े।'

इसी प्रकार भक्तको पता नहीं होता कि कौन उसके साथ क्या करता है; क्योंकि वह तो महानोंके भी परम महान् प्रभुमें स्थित है।

एक महात्माने मुझे बताया था—'भजन किसे कहते हैं? भजनका अर्थ है दुहराना। **भजनं नाम रसनम्** यह उपनिषद्ने कहा है। तुमने जो सत्संगमें, महात्माओंसे भगवान्का नाम, गुण, लीला सुनी है, अपने गुरुदेवके, मन्दिरमें भगवत्मूर्तिके जो दर्शन किये हैं, एकान्तमें बैठकर उसको बार-बार स्मरण करके उसका रस लो, इसका नाम भजन है।' इस रीतिसे जो भजन करनेमें लगा है, अपने भीतर रस पा रहा है, उसे बाहर देखने तथा बाहरी वस्तुओंसे राग-द्वेष करके हर्ष-द्वेष करनेका अवकाश कहाँ है?

यहाँ एक बात सोचने की है कि जबतक अन्तःकरण और शरीर है, इनके धर्म भी रहेंगे ही। हर्ष और द्वेष अन्तःकरणके धर्म हैं। अतः ये हों ही नहीं, ऐसा कैसे हो सकता है? अतएव **न हृष्यति** का अर्थ है **भगवद्दत्त हर्षमनुभवति हर्षस्य कर्ता न भवति।** भगवान्के दिये हुए हर्षका अनुभव तो भक्त करता है; किन्तु हर्षका कर्ता नहीं बनता। **न द्वेष्टि** का अर्थ भी ऐसे ही मानना चाहिए।

न वै स शरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति।

—छान्दोग्य० ८.१२.१

शरीर रहते प्रिय-अप्रियकी सर्वथा निवृत्ति नहीं हो सकती।

अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः। छान्दोग्य०८.१२.१

शरीर छूट जायगा, तब प्रिय-अप्रिय उसे स्पर्श नहीं करेंगे। जीवनमें प्रिय-अप्रिय आता तो भक्तके भी है; किन्तु वह उनके

पानेके निमित्तको नहीं देखता। वह देखता है कि इन्हें देनेवाला मेरा प्रियतम प्रभु ही है।

सांख्य दर्शनको रीतिसे विचार करें तो कार्य सब प्रकृतिके हैं और पुरुष द्रष्टा है। अतः हर्ष-द्वेष, शोक-आकांक्षाकी प्राप्ति द्रष्टा पुरुषको होती ही नहीं। वेदान्तकी दृष्टिसे जगत् मायामात्र है और आत्मा अकर्ता अभोक्ता है। इसलिए जो स्वयं देश-काल-वस्तु परिच्छेदसे रहित ब्रह्म है, उसे हर्ष-द्वेष, शोक-आकांक्षाकी प्राप्ति कैसी? भक्तके लिए हर्ष-द्वेष, शोक-आकांक्षाके जो निमित्त आते हैं, उन सबमें भगवान्की प्रेरणा, उन प्रभुका मंगलमय हाथ होता है। भक्तकी दृष्टि अपने प्रभुपर रहती है। वह प्रभु ही कर्ता-कारयिता, भोक्ता-भोजयिता हैं, यह भक्त देखता है।

न शोचति संसारो मनुष्य शोक तब करता है, जब उसका कोई प्रिय व्यक्ति, कोई प्रिय वस्तु नष्ट हो जाय, उससे पृथक् हो जाय। शोक भूतवृत्ति है। जैसे किसीको भूत लगा हो, ऐसे हो 'यह नहीं रहा, यह नष्ट हो गया, यह नहीं हुआ' इस प्रकार पिछली बातोंको स्मरण करके मनुष्यको शोक होता है। बीतेके लिए तो तुम शोक कर रहे हो और वर्तमानमें भगवान् जो तुम्हारे हृदयमें विराजमान हैं, उनकी उपेक्षा कर दो! भक्त कहेगा— भूत! भाग जा! जो हो गया, मुझे उसकी चिन्ताका अवकाश नहीं है। मैं वर्तमानमें अपने भगवान्के साथ बैठा हूँ।' भक्तको शोक नहीं होता—

> **यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपूरुषे।**
> **भक्तिरुत्पद्यते पुंसः शोकमोहभयापहा॥** भागवत १.७.७.

भगवान्की भक्ति आगयो तो वह शोक, मोह, भय तथा आर्तिको नष्ट कर देती है।

न कांक्षति जैसे शोक भूतवृत्ति है, वैसे ही आकांक्षा भविष्य-वृत्ति है। जो प्राप्त नहीं है, उसकी प्राप्तिके लिए आकांक्षा होती है। घरमें क्या-क्या नहीं है, इसकी सूची बनाओ और तब उनको लानेकी इच्छा करो। फिर प्रयत्न करो। भगवान् हृदयमें उपस्थित हैं और बाहरकी कोई वस्तु भक्तको चाहिए नहीं; इसलिए उसमें आकांक्षा नहीं होती।

विषयकी प्राप्तिसे हर्ष होता है। उसकी प्राप्तिमें बाधा पड़नेपर द्वेष होता है। प्राप्त विषय नष्ट हो जाय तो शोक होता है। अप्राप्त विषयकी प्राप्तिके लिए आकांक्षा होती है। यह सब तब हो, जब अपने चित्तमें अभाव हो। इन सबके द्वारा मनमें विषय आता है। हर्ष होगा तो चित्तमें वह वस्तु या व्यक्ति आयेगा, जिसे प्राप्त करके हर्ष हुआ है। द्वेष होगा तो चित्तमें शत्रु आयेगा। शोक होगा तो वह आयेगा जिसके न होनेसे शोक है और आकांक्षा होगी तो वह चित्तमें आयेगा जिसका अभाव प्रतीत हो रहा है। लेकिन भक्तके चित्तमें सांसारिक विषय आता नहीं। वहाँ भगवान् रहते हैं। अतः हर्ष-द्वेष, शोक-आकांक्षा उसके चित्तको स्पर्श नहीं करते।

शोक किसे होता है? जो 'शो'में—प्रदर्शनमें फँसा हो। शो ही परिणाममें जाकर शोक बन जाता है। भगवान्की भक्ति तो दूर, उनकी भक्तिकी इच्छा होते ही शोक भाग जाता है। घरमें आप किसी कारणसे दुःखी थे और मनमें आया कि कथा सुनने चलें। अब तत्काल यह बात मनमें उठेगी कि कल क्या सुना था, आज किस श्लोककी कथा है? मन लग गया कथाकी बात सुननेमें और जिस अभावको सोचकर आप शोक कर रहे थे, वह भूल गया।

इच्छाका नियम है कि वह निर्विषय नहीं होती। आप मोहनसे मिलना चाहते हैं तो मनमें मोहन आ जाता है। आप धन पाना

चाहते हैं तो चित्तमें धन आजाता है। इसलिए भगवान्के सम्बन्धकी कोई भी इच्छा आप जैसे ही करते हैं, चित्तमें भगवान् आजाते हैं। जब चित्तमें भगवान् आजायँगे तो संसारमें जो आपके हर्ष-द्वेष, शोक-आकांक्षाका विषय था, वह अपने-आप छूट जायगा।

सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात्।

—भागवत.

भगवत्कथाका सेवन चित्तमें तुरन्त भगवान्को ला देता है। अतः यदि परमात्माको अपने हृदयमें बन्दी बनाना चाहते हो तो उसके गुण, रूप, प्रभाव, लीला आदिको सुननेको, जाननेकी इच्छा करो।

गीतामें कहा है कि पण्डितजन शोक नहीं करते—

गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः।

कौन मर गया और कौन जीवित है, इसकी चिन्ता विद्वान् नहीं करते। अतः यहाँ जिस भक्तका वर्णन है, वह पण्डित। वह स्थितप्रज्ञ भी है; क्योंकि स्थितप्रज्ञका लक्षण है—

प्रजहाति सदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥ २.५५

इस भक्तने सब आकांक्षाएँ त्याग दी हैं। साथ ही यह भक्त गुणातीत भी है—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति॥ १४.२२

यह गुणातीतका लक्षण है और यह भक्त न द्वेष्टि न कांक्षति की स्थिति प्राप्त कर चुका है। इसलिए यहाँ भगवान् जिस भक्तका वर्णन कर रहे हैं, वह पण्डित, स्थितप्रज्ञ तथा गुणातीत ज्ञानी भक्त है।

शुभाशुभपरित्यागी—भगवान्का स्वभाव है कि वे जब प्राप्त होते हैं तो फिर उनका वियोग नहीं होता। वे जिसे पकड़ते हैं, उसे छोड़ना नहीं जानते। तृणावर्त श्रीकृष्णको उठाकर आकाशमें ले गया। श्रीकृष्णने उसका गला पकड़ लिया और बोले—

बालोऽहं न परिचिनोम्यभद्रभद्रं
यः क्रोडे कलयति तद्गलं दधामि।
तेन त्वं यदि म्रियसे न तन्ममागः०—आ० वृ० चम्पू.

'मैं तो बच्चा हूँ। कौन अच्छा, कौन बुरा, यह जानता नहीं। जो मुझे गोदमें लेता है, उसका गला पकड़ लेता हूँ। अब यदि मेरे गला पकड़नेसे तुम मरते हो तो इसमें मेरा कोई अपराध नहीं है।'

भगवान् अच्छा-बुरा नहीं देखते। उन्हें कोई गोदमें ले ले, हृदयमें धारण कर ले तो उसका कण्ठ पकड़ लेते हैं। फिर भगवान् छूट जायँगे, ऐसा भय नहीं रहता। जब भगवान् मिल गये और छूट सकते नहीं तब भक्तके लिए शुभ और अशुभकी चिन्ता क्यों आवश्यक होगी? अशुभ उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकते और शुभसे उसका कोई लाभ नहीं होता।

तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ। तद्व्यपदेशात्।
—ब्रह्मसूत्र ४.१.१३

परमार्थतत्त्वको जान लेनेपर पहले किये शुभाशुभ कर्म (सञ्चित) नष्ट हो जाते हैं और आगे किये जानेवाले कर्म (क्रियमाण) उससे संश्लिष्ट नहीं होते।

शुभ-अशुभसे भक्तिकी आनन्दनिष्ठामें बाधा नहीं पड़ती। भक्त साधन-साध्यभाव तथा बाध्य-बाधकभावसे सर्वथा मुक्त होता है। शुभ है साधना-साध्यभाव और अशुभ है बाध्य-बाधकभाव। 'शुभ दीप्तौ' जो जीवनको दीप्त करे-उज्ज्वल बनाये, उसे शुभ कहते हैं

और जो मलिन करे, उसे अशुभ कहते हैं। लेकिन भक्तने तो अपने समस्त कर्म, कर्मफल और कर्तृत्वका अहंकार भी भगवान्‌को अर्पित कर दिया है। वह परमोज्ज्वल हो चुका है और उसे अब कोई निमित्त मलिन कर नहीं सकता। गीतामें भगवान्‌ने कहा—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ ९.२७

महात्मा गान्धीजीके परिकरमें जो चार-छः विद्वान् पुरुष थे, उनमेंसे एक थे, श्रीमश्रूवालाजी। उन्होंने गीताके इस श्लोकका पाठ बदलकर इसे बड़ा सुन्दर प्रार्थना-रूप दे दिया था। उनका पाठ है-

यत्करोमि यदश्नामि यज्जुहोमि ददामि यत्।
यत्तपस्यामि भगवन् तत्करोमि त्वदर्पणम्॥

अपने समस्त कर्म **यत्करोमि**, अपने समस्त भोग **यदश्नामि**, अपने सब साधन **यज्जुहोमि ददामि यत्तपस्यामि** सबका भगवान्‌को अर्पण हो गया। सबके प्रेरक और फलदाता भगवान् ही हैं, ऐसी दृढ़ निष्ठा भक्तकी हो गयी। इसका फल स्वयं भगवान्‌ने बताया—

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥ ९.२८

इस श्लोकमें तत्' पदार्थकी प्रधानतासे शुभाशुभ कर्मोंके बन्धनसे मुक्त होनेकी बात कही गयी है। 'त्वं' पदार्थकी प्रधानतासे शुभाशुभ कर्मोंके बन्धनसे मुक्तिकी बात भी भगवान्‌ने कही है—

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ २.५७

'शुभाशुभपरित्यागी'—अशुभसे द्वेष नहीं, शुभकी आकांक्षा भी नहीं। परमात्माके अनुभवमें निमग्न है। दृष्टि संसारमें शुभाशुभ-पर नहीं, परमात्मापर है।

हरिद्वारमें एक विद्वान् पण्डित एक महात्माके पास आकर बोले-—'सुना है कि गुरु नानक बड़े ज्ञानी थे; किन्तु ग्रन्थ साहबमें तो बहुत अशुद्ध शब्द हैं। कैसे हुआ है ?'

महात्माने कागज, स्याही, लेखनी मँगाकर पण्डितको दी और बोले—'पण्डितजी ! पहले आप मुझे एक श्लोक लिख दीजिये। जो श्लोक आपको अच्छी प्रकार स्मरण हो, वह लिखिये; किन्तु मेरी ओर देखते हुए लिखिये। कागज-लेखनीकी ओर मत देखिये।'

पण्डितजी लिखने लगे; किन्तु दृष्टि तो महात्माके मुखपर थी। पहली पंक्तिमें ही चार अशुद्धियाँ हुईं। महात्माजीने समझाया—'इसी प्रकार गुरु साहबकी दृष्टि तो परमात्मापर रहती थी। मुखसे क्या निकला है, इसपर उनका ध्यान ही कहाँ जाता था ?

भक्त जब भगवान्पर दृष्टि रखकर चलता है, तब संसारके शुभ-अशुभ बहुत छोटे पड़ जाते हैं। शुभाशुभपर दृष्टि न डालना उसका स्वभाव बन जाता है। परित्यागीका अर्थ है —**परित्यक्तुं शीलमस्यास्ति इति।** सदा ही 'इन्' प्रत्यय शीलमें होता है। अतः परित्यागीका अर्थ है कि शुभाशुभकी उपेक्षा भक्तका स्वभाव बन चुका है। शुभ-अशुभके फलका त्याग भक्त करता है, ऐसा अर्थ यहाँ नहीं है; क्योंकि शुभका फल सुख है और अशुभका फल दुःख। **समदुःखसुखः** पहले कह चुके हैं। अतः इनके फलका त्याग तो पहले ही हो चुका। सुख-दुःखके साधन जो शुभ-अशुभ थे, वे भी भक्तसे छूट गये, यह तात्पर्य यहाँ है।

एक प्रकारके लोग ऐसे होते हैं कि भजन तो भगवान्का करते हैं; किन्तु भगवान्से चाहते संसारके विषय—धन, पुत्र, सम्मान आदि हैं। दूसरे प्रकारके लोग ऐसे होते हैं कि भजन भगवान्का करते हैं और उसके बदलेमें भगवान्को ही चाहते हैं। 'साढ़े तीन

करोड़ नाम-जप किया, इसमें पन्द्रह वर्षका समय लगाया, अबतक भगवान्‌के दर्शन नहीं हुए !' इसका अर्थ हुआ कि साढ़े तीन करोड़ नाम-जप तथा पन्द्रह वर्षके समयको वे भगवद्दर्शनका मूल्य मानते हैं। यह अन्योपायसाध्यत्व हुआ। साधन तो जप-तप-दान आदि कुछ और है और उससे पाना भगवान्‌को चाहते हैं। लेकिन जैसे यज्ञका फल स्वर्ग है, वैसे भगवान् किसी साधनके फल नहीं हैं।

अनन्योपायसाध्यत्वे महाविश्वासपूर्वकम्।

परमात्मा स्वयं फल है। भक्त वह है जिसमें साधनके बलसे भगवान्‌को प्राप्त करनेका अभिमान नहीं है। संसारके विषय प्राप्त करनेके लिए साधनकी आवश्यकता होती है। भगवत्प्राप्तिके लिए साधनकी आवश्यकता नहीं है। लेकिन ऐसा मानकर जो साधन छोड़ देंगे, वे तो धन कमानेमें—संसारमें लग जायेंगे। भगवान्‌की प्राप्तिका साधन है अनन्योपाय। केवल भगवान्‌पर ही दृढ़ विश्वास—

जब कब निज करुना सुभाउ तें द्रवहु तौ निस्तरिये।
तुलसिदास बिस्वास आन नहिं कत पचि पचि मरिये॥

यह अनन्यता है। जब अनन्यता आती है, तब भक्त शुभाशुभ-परित्यागी बन जाता है।

त्यज धर्ममधर्मं च उभे सत्यानृते त्यज।
उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तत्त्यज॥

—महाभारत.

यह ज्ञानकी पराकाष्ठा है कि धर्म-अधर्म, सत्य-झूठ इन सबको छोड़ दो और जिस निश्चयसे इनको छोड़ा है, उस निश्चयका भी त्याग कर दो। ऐसा हो कैसे ?

त्यज धर्ममसङ्कल्पादधर्मं चाप्यलिप्सया।
उभे सत्यानृते बुद्ध्या बुद्धिं परमनिश्चयात्॥

—महाभारत.

संकल्पके त्यागसे धर्मको और लिप्सा—लालचहीन होकर अधर्मको छोड़ दो। बुद्धिके द्वारा सत्य-झूठको त्याग दो और परमतत्त्वका निश्चय करके बुद्धिको भी त्यागकर अपने स्वरूपमें स्थित हो जाओ।'

भगवान् श्रीकृष्णने उद्धवसे कहा कि साधु-असाधुके विवेचनमें मत पड़ना—

न स्तुवीत न निन्देत कुर्वन्तः साध्वसाधु वा।
वदतो गुणदोषाभ्यां वर्जितः समदृङ् मुनिः॥
न कुर्यान्नवदेत् किञ्चिन्न ध्यायेत् साध्वसाधु वा।
आत्मारामोऽनयावृत्त्या विचरेज्जडवन्मुनिः॥

—भागवत ११.११.१६-१७

बुधो बालकवत् क्रीडेत् कुशलो जडवच्चरेत्।
वदेत् बालकवद् विद्वान् गोचर्यां नैगमश्चरेत्॥

—भागवत ११.१८.२९

'स्वयं शुभ-अशुभ कुछ न करे और जो लोग शुभ या अशुभ करते हैं, उनकी निन्दा-प्रशंसा भी न करे। मुनिको गुण-दोषदृष्टि-रहित होकर, मननशील और समदर्शी रहना चाहिए। कोई शुभ-अशुभ न करे, अच्छा-बुरा (निन्दा-प्रशंसा) न बोले, साधु-असाधु कुछ सोचे नहीं। इस प्रकार आत्माराम मुनि जड़की भाँति विचरण करे।'

'बुद्धिमान् होनेपर भी बच्चेके समान रहे, निपुण होनेपर भी पशुके समान शुभाशुभपर दृष्टि डाले बिना आचरण करे।'

मनुष्य जब शास्त्रनिषिद्ध कर्म करके अपनी इच्छापूर्ति करना चाहता है, तब वह पामर कोटिमें आता है। पामर—जो अपने-आपसे ही मर गया—मनुष्यत्वसे च्युत हो गया

है। जो लोग निषिद्ध कर्म तो नहीं करना चाहते; किन्तु सांसारिक सुखप्राप्तिकी इच्छा रखते हैं और उसके लिए विहित कर्म करते हैं, वे विषयी हैं। **सर्वारम्भपरित्यागी** वे हैं, जिन्होंने काम्य-कर्म—शास्त्रविहित सकाम कर्मोंका भी स्वरूपतः त्याग कर दिया है।

नारम्भानारभेत् क्वचित्।

कर्म करना तो चाहिए, किन्तु किसी कामनासे नहीं; भगवत्प्रीत्यर्थ ही करना चाहिए। अतः वे सकाम कर्म आरम्भ ही नहीं करते। लेकिन यहाँ जिस भक्तका वर्णन है, वह उससे आगे है। यह परमात्माको प्राप्त हुए भक्तका वर्णन है। यहाँ अशुभ कर्मकी तो चर्चा ही नहीं है। अत्यन्त मंगलस्वरूप, पुण्यसाधक कर्मोंकी भी उसे कोई अपेक्षा नहीं है।

अद्वैत वेदान्ती कहते हैं कि अन्तःकरणको शुद्ध करनेवाले कर्म भी वह नहीं करता। उनकी भी उसे आवश्यकता नहीं है। वे साधन तो तभी तक आवश्यक हैं, जबतक अन्तःकरण शुद्ध होकर परमात्माकी प्राप्ति होकर अविद्याकी निवृत्ति नहीं हुई। जब फल प्राप्त हो गया, तत्त्वज्ञान होनेसे आवरण भंग हो गया, अविद्या-निवृत्ति हो गयी, तब मल-विक्षेपको दूर करनेके लिए श्रवण-मनन-निदिध्यासन करनेकी क्या आवश्यकता है? पञ्चदशीकार कहते हैं—

शृण्वन्त्वज्ञाततत्त्वास्ते जानन् कस्माच्छृणोम्यहम्।
मन्यन्तां संशयापन्नाः किम्मन्येऽहमसंशयः॥
विपर्यस्तो निदिध्यासेत् किं ध्यानमविपर्ययात्।
देहात्मत्वविपर्यासं न कदाचित् भजाम्यहम्॥

—पञ्चदशी.

'जिनको तत्त्वका ज्ञान न हो, वे तत्त्वका स्वरूप श्रवण करें। मैं जानता हूँ, फिर किसलिए श्रवण करूँ? जिन्हें संशय हो ब्रह्मात्मैक्यमें, वे मनन करें। मुझे तो कोई संशय है नहीं, मैं क्या मनन करूँ? जिन्हें विपर्यय होता हो, वे निदिध्यासन करें। मुझे तो विपर्यय होता नहीं, स्वरूपज्ञानमें स्थित मैं कभी देहको 'मैं' स्वीकार नहीं करता, फिर निदिध्यासन क्यों करूँ?'

ज्ञानका अद्भुत प्रभाव भगवान्ने गीतामें भी बताया है—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमान् लोकान् न हन्ति न निबध्यते॥

—गीता १८.१७

'जिसमें कर्तापनका अहंकार नहीं है और जिसकी बुद्धि कर्ममें लिप्त नहीं होती, वह इन सारे लोकोंको मारकर भी न तो मारने-वाला होता और न इस कर्मसे बँधता है।' शरणागतिका भी यही रहस्य है कि उसमें शुभ-अशुभ दोनोंका परित्याग हो जाता है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

—गीता १८.६६

भगवान् कहते हैं—'सब धर्मोंका सम्पूर्ण त्याग करके केवल मेरी शरणमें आजाओ। मैं तुम्हें सब पापोंसे मुक्त कर दूँगा। चिन्ता मत करो।'

महाभारतमें कथा है कि युधिष्ठरके राजसूय यज्ञमें श्रीकृष्ण अपनी पटरानियोंके साथ इन्द्रप्रस्थ पधारे। यज्ञकी पूर्णाहुति हो जानेपर एक दिन सत्यभामाजीने द्रौपदीसे पूछा—सखि पाञ्चाली! हम सबके तो एक ये श्यामसुन्दर ही पति हैं और वही हमारे वशमें नहीं होते, किन्तु तुमने तो अपने पाँच पतियोंको वशमें कर रखा है। इसका रहस्य क्या है? क्या तुम कोई टोना-टोटका जानती हो?'

द्रौपदी बोली—'टोने-टोटकेका सहारा कोई साध्वी पत्नी अपने पतिको वशमें करनेके लिए नहीं लेती। पतिको यदि पता लग जाय कि पत्नी उसे वशमें करना चाहती है, तो वह उससे दूर ही दूर रहना चाहेगा। पतिको वशमें करनेका उपाय है, स्वयं उसके वशमें हो जाना।'

परमात्मा जो सबका पति है, वह कब वशमें होता है? जब अपनी बुद्धि कुण्ठित हो जाती है और अपने सब साधन—सब शुभाशुभका आश्रय त्यागकर मनुष्य परमात्माकी ही शरण ग्रहण करता है—

बुद्धिर्विकुण्ठिता नाथ समाप्ता मम युक्तयः।
नान्यत् किञ्चिद्विजानामि त्वमेव शरणं मम॥

कोई भगवान्‌को अपने धन-बलसे, भोग-बलसे—बहुत सामग्री अर्पित करके अथवा धर्मबलसे—यज्ञ, तप, जप आदि साधन-बलसे वशमें नहीं कर सकता। मोक्षकी धमकीसे भी भगवान् वशमें नहीं होते। जैसे सेवक कहे कि—'अब मुझसे सेवा नहीं होती, मेरी पेन्शन बाँध दो।' वैसे यदि भक्त कहे कि—'मैं अब मुक्तिका साधन करूँगा, मुझे मोक्ष स्वीकार करना है', तो भगवान् इससे वशमें नहीं होते। वे तो प्रसन्नतापूर्वक भक्तको मुक्त कर देते हैं।

मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न तु भक्तियोगम्।

लेकिन भक्तको तो न अर्थ चाहिए, न धर्म, न काम-भोग चाहिए और न मोक्ष। वह तो सब शुभाशुभ छोड़कर भगवान्‌की शरणमें आगया है। भगवान् श्रीराम जब वन जाने लगे तो उन्होंने लक्ष्मणसे कहा—'भैया, तुम अयोध्यामें रहो। यहाँ पिताजी हैं, माताएँ हैं, गुरुजी हैं और प्रजा है। भरत अयोध्यामें हैं नहीं, अतः यही नीति है और यही धर्मकी बात है कि तुम यहाँ रहकर सबका पालन करो, सबको सन्तोष दो।

रहहु करहु सबकर परितोषू।
न तरु तात होइहि बड़ दोषू॥

यह सुनकर लक्ष्मणने उत्तर दिया—

धरम नीति उपदेसिअ ताही।
कीरति भूति सुगति प्रिय जाही॥
मैं सिसु प्रभु सनेह प्रतिपाला।
मन्दर मेरु कि लेइ मराला॥

मेरा सर्वस्व तो आपका स्नेह है। आपके स्नेहमें पला मैं शिशु हूँ। हंसका बच्चा कहीं मन्दराचल या सुमेरु उठा सकता है? जिसे कीर्ति, ऐश्वर्य या उत्तम गति प्रिय हो, उसे धर्म-नीतिका उपदेश करना चाहिए। मुझे तो आपका प्रेम ही चाहिए।

जोग कुजोग ज्ञान अज्ञानू। जहाँ न राम प्रेम परधानू॥

घोर संसारी-पामर अशुभमें रत होता है। धर्मात्मा शुभमें रत रहता है। जिज्ञासु साधनमें लगा रहता है; किन्तु जिसे कुछ पाना नहीं है, वह तो **सर्व सर्वगत सर्व उरालय** प्रभुमें जो **अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्** हैं—परितुष्ट हैं। शुभाशुभपर उसकी दृष्टि जाती ही नहीं।

भक्तिमान् यः ये सब लक्षण तो ज्ञानीके हैं। जिसे ज्ञान प्राप्त हो गया, अब उसके लिए यह **भक्तिमान्** क्या? इसके सम्बन्धमें वेदान्तके जितने सम्प्रदाय हैं, सब यह मानते हैं कि ज्ञान और भक्ति साथ-साथ चलती हैं। भक्त और ज्ञानीमें कोई अन्तर नहीं है—

ज्ञानस्य या पराकाष्ठा सैव भक्तिरिति स्मृता।
भक्तेस्तु या पराकाष्ठा सैव ज्ञानं प्रकीर्तितम्॥

जो भक्तिकी पराकाष्ठा है, उसे ज्ञान और जो ज्ञानकी पराकाष्ठा है, उसे भक्ति कहते हैं। लेकिन विवेक करनेमें लगे जिज्ञासु भक्तिसे डरते हैं। श्रीउड़िया बाबाजी महाराजके साथ मैं एक बार खाँड़ा

ग्रामके ब्रह्मसत्रमें गया। श्रीमहाराजजीके साथ तो भक्तोंकी मण्डली रहती थी। सायंकाल भक्त समुदायने तबला, झाँझ, घण्टा बजाकर संकीर्तन प्रारम्भ किया। वहीं गंगा किनारेके एक विरक्त हरिनामदासजी भी थे। वे संकीर्तन प्रारम्भ होते ही—'द्वैत आया! द्वैत आया' कहते हुए भाग खड़े हुए।

लेकिन यह बात विचारकी कमी सूचित करती है। परमात्माके स्वरूपके विवेकका प्रयोजन ही यह है कि यह जान लिया जाय कि जिसे द्वैत कहते हैं, वह परमात्मासे भिन्न नहीं है।

तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ।
प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा दृष्टान्तानुपरोधात्। —ब्रह्मसूत्र.

जगत्‌को परमात्मासे अभिन्न जाननेके लिए ही विवेक किया जाता है। अतः—

द्वैतं बन्धाय बोधात्प्राक् प्राप्ते बोधे मनीषया।
भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्॥
—बोधसार.

मुक्तिसे पूर्व तो द्वैत बन्धनका कारण होता है; किन्तु निर्मल बुद्धिसे ब्रह्मात्मैक्यज्ञानरूप बोध हो जानेपर भक्तिके लिए जो द्वैतकी कल्पना है, वह तो अद्वैतसे भी सुन्दर है।

जाते समरसानन्दे द्वैतमप्यमृतोपमम्।
तादृशी यदि भक्तिश्चेत् सा तु मुक्तिशताधिका॥
—बोधसार.

श्रीनरहरि स्वामी अपने बोधसार नामक ग्रन्थमें लिखते हैं—'समरस आनन्दका उदय होनेपर तो प्रतीयमान द्वैतप्रपञ्च भी अमृतके समान—ब्रह्म ही हो जाता है। यदि इसी प्रकारकी भक्ति भी हो तो वह तो मुक्तिसे सौ गुनी अधिक आनन्दप्रदा है।

सर्वेश्वरस्तु सुधिया गलितेऽपि भेदे
भावेन भक्तिसहितेन समर्चनीयः।
प्राणेश्वरश्चतुरया मिलितेऽपि चित्ते
चेलाञ्चलव्यवहितेन निरीक्षणीयः॥

—बोधसार.

'निर्मल बुद्धिके द्वारा ब्रह्मात्मैक्य बोध होनेसे सर्वेश्वरसे आत्माका भेद मिट जानेपर भी भावपूर्वक भक्तिसहित परमात्माकी अर्चा करना ही उचित है। जैसे अपने प्रियतम पतिसे चित्त मिल जानेपर भी चतुर स्त्रीको यही चाहिए कि वह घूँघटकी ओटसे ही पतिको देखे। इससे आकर्षण एवं माधुर्य बढ़ता ही है।'

श्रीशङ्कराचार्यजीने भी कहा है—

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरंगः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः॥ षट्पदी.

'नाथ! भेदकी निवृत्ति हो जानेपर भी प्रभो! मैं आपका हूँ, आप मेरे नहीं हैं; जैसे तरंग समुद्रकी होती है, समुद्र तरंगका नहीं होता।'

प्रियतम हृदये वा खेलतु प्रेमरीत्या
पदयुगपरिचर्यां प्रेयसी वा विधत्ताम्।
विहरतु विदितार्थो निर्विकल्पे समाधौ
ननु भजनविधौ वा तद्द्वयं तुल्यमेव॥

—बोधसार.

जो अपने पतिकी प्रेयसी—प्रियतमा हो चुकी है, वह चाहे प्रेमक्रीड़ामें प्रियतमके वक्षःस्थलपर क्रीड़ा करे अथवा उनके चरणद्वयकी सेवा करे। इसी प्रकार जिसे तत्त्वज्ञान हो गया है, वह निर्विकल्प समाधिमें स्थित रहे या भगवान्‌का भजन करे, उसके लिए ये दोनों बातें समान हैं।

ज्ञानियोंके शिरोमणि, परमहंस-चक्रचूड़ामणि श्रीशुकदेवजी अपना अनुभव सुनाते हुए कहते हैं—

परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्य उत्तमश्लोकवार्तया।
गृहीतचेता राजर्षे आख्यानं यदधीतवान्॥

—भागवत २.१.४

राजर्षि परीक्षित! मैं निर्गुण अद्वितीय तत्त्वमें परिनिष्ठ हूँ; किन्तु ऐसा होनेपर भी मैंने जो यह इतना बड़ा ग्रन्थ श्रीमद्भागवत पढ़ा सो मेरे चित्तको उत्तमश्लोक भगवान्‌की चर्चाने पकड़ लिया था—अपनी ओर बलात् खींच लिया था; क्योंकि—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्थाप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिं इत्थम्भूतगुणो हरिः॥

—भागवत १.७.१०

जिनकी हृदयग्रन्थि, अविद्याग्रन्थि—चिज्जड़ग्रन्थि ध्वस्त हो चुकी है, ऐसे आत्माराम मननशील महात्मा श्रीभगवान्‌की निष्काम भक्ति करते हैं; क्योंकि भगवान्‌में ऐसे गुण ही हैं।

श्रीमधुसूदन सरस्वती कहते हैं—

जीवन्मुक्तिदशायां तु न भक्तेः फलकल्पना।
अद्वेष्टृत्वादिवत्तेषां स्वभावो भजनं हरेः॥

—जीवन्मुक्ति वि०

किसीसे द्वेष न करना जैसे तत्त्वज्ञानीका स्वभाव है, वैसे ही भगवान्‌का भजन करना भी उसका स्वभाव ही होता है।

तत्त्वज्ञानी वेदान्ती मौनी हो जाय, ऐसा तो नियम नहीं है। वह बोलेगा तो क्या बोलेगा? यदि वह भगवान्‌की चर्चा नहीं करता तो संसारकी चर्चा करेगा, किसी राजाका, सेठका गुणगान करेगा; राजनीतिकी, लोगोंकी निन्दा-प्रशंसाकी बातें करेगा। यह ठीक है कि ज्ञानीके लिए संसार और भगवान् दोनोंकी चर्चा

समान है; किन्तु जो भगवच्चर्चा छोड़कर संसारकी चर्चा करता है, उसमें वैराग्यकी न्यूनतासे संसारका लगाव है और जो संसारकी चर्चा छोड़कर भगवच्चर्चामें लगा है, उसमें वैराग्यकी पूर्णता है, यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा।

जब मैं गृहस्थ वेशमें वृन्दावनमें परमहंसाश्रममें रहता था तो कभी-कभी वहाँके वृद्ध सन्त श्रीहाथी बाबाजी महाराज घूमते हुए आकर मेरे पास बैठते थे। एक दिन वे आकर बैठे थे, उसी समय एक सज्जनने मुझसे पूछा—'भगवान्‌का भजन करनेसे क्या लाभ है ?'

श्रीहाथीबाबाजी बोले—'यह बनियाँ है क्या ?'

अरे भाई, संसारमें तो सब कहीं लाभ-हानि सोचते ही हो, भगवान्‌का भजन तो इससे ऊपर उठकर करो। ज्ञानीको तो कुछ पाना नहीं रहता और उसकी कुछ हानि भी होनेवाली नहीं होती; किन्तु भगवान्‌में ऐसे गुण हैं और ज्ञानीका ऐसा स्वभाव हो जाता है कि वह भजन करता है।

प्रायेण मुनयो राजन् निवृत्ता विधिषेधतः।
नैर्गुण्यस्था रमन्ते स्म गुणानुकथने हरेः॥

—भागवत २.१.७

'विधि-निषेधसे जो परे हो गये हैं, ऐसे निर्गुणमें स्थित मनन-शील आत्माराम भी श्रीहरिके गुणानुकथनमें आनन्दपूर्वक लगे रहते हैं।'

जब जिह्वा है और बोलना है तो चर्चा किसकी करें ? संसारकी चर्चाका तो अर्थ ही है निन्दा-स्तुति। कवि कर्णपूर कहते हैं कि मेरी जिह्वा संसारकी निन्दा-स्तुति करते-करते अपवित्र हो गयी है। अतएव उसे पवित्र करनेके लिए मैं आनन्दकन्द व्रजचन्द्र नन्दनन्दनके गुणसागरमें डुबाता हूँ।

मातर्वाणि तवाऽनिशं करुणया लब्धप्रमोदा वयं
किं नु त्वां स्तुमहे त्वयैव यजतां तोयेन कस्तोयधिम् ।
एतत्प्रत्युपकुर्महे भगवतः कृष्णस्य लीलामृत—
स्रोतस्येव निमज्जयामि भवतीं नोत्थेयमस्मात् पुनः ॥

—आ० वृ० चम्पू०

स मे प्रियः भगवान्में ऐसे गुण हैं और ज्ञानीका ऐसा स्वभाव है कि वह भक्ति करता है। भगवान् कहते हैं कि ऐसा ज्ञानी भक्त मुझे प्रिय अर्थात् अत्यन्त प्रिय है—**प्रियो हि ज्ञानिनोत्यर्थम्।**

ऐसा ज्ञानी भक्त भगवान्को इतना प्रिय है कि वह उनपर अपना स्वत्व मानता है। एक बार एक विद्वान् भक्त जगन्नाथपुरी गये। वे जब दर्शन करने पहुँचे तो मन्दिरके पट बन्द हो गये थे। भक्त जिसे अपना सर्वस्व मानता है, उस प्रभुपर ही तो रोष आ सकता है। वे भक्त विद्वान् रुष्ट होकर बोले—

ऐश्वर्यमदमत्तोऽसि मामवज्ञाय वर्तसे।
उपस्थितेषु बौद्धेषु मदधीना तव स्थितिः॥—उदयनाचार्य.

'जीवन भर मैंने तुम्हारा प्रतिपादन किया, तुम्हारी उपासना की और आज मैं दर्शन करने आया तो द्वार बन्द करके बैठे हो! ऐश्वर्यके कारण मतवाले बनकर मेरी उपेक्षा करते हो! लेकिन बौद्ध जब तुम्हारा खण्डन करने आयेंगे तो तुम्हारा प्रतिपादन मैं ही करूँगा।'

भगवान् कहते हैं कि मैं जगत्को धारण करता हूँ; किन्तु ज्ञानी मुझे धारण करते हैं, अतः ये ज्ञानी भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय हैं।'

ज्ञानी प्रियतमोऽतो मे ज्ञानेनासौ बिभर्ति माम्।—भागवत.

अपने ज्ञानसे वह भगवान्को धारण करता है। भगवान् उस ज्ञानीके ज्ञान तथा आनन्दसे पुष्ट-सन्तुष्ट, आनन्दित होते हैं।

•

: १८-१९ :

• *संगति*

जीव भगवान्‌की भक्ति करता है और भगवान् जीवसे प्रेम करते हैं। यह सम्पूर्ण जगत्—जड़-चेतन समस्त दृश्य प्रपञ्च भगवान्‌की गोदमें ही है। जीवने भले ही उन्हें विस्मृत कर दिया है; किन्तु उनके संकल्पमें ही समस्त विश्व होनेके कारण वे उसे भूले नहीं हैं। जीव तो यह भी कहता है—'ईश्वर है ही नहीं अथवा कोई ईश्वर है भी तो उदासीन है। उससे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। लेकिन यह कहनेपर भी ईश्वरने उसे अपनी गोदसे हटाया नहीं है। कोई चोरी, अनाचार आदि कुछ भी दुष्कर्म करे, ईश्वर उसका पालन-पोषण बन्द नहीं करता। पुत्र भले पिताको कह दे—'यह मेरा पिता नहीं' लेकिन पिता पुत्रसे स्नेह करना नहीं छोड़ता। ईश्वरकी पृथ्वी सबका धारण करती है। वायु सबका श्वास बनती है। जल, अग्नि, आकाश, सूर्य-चन्द्र आदि सबको अपनी-अपनी सेवा देते हैं। ईश्वर हृदयमें विराजमान है, नित्य प्राप्त है और उसका प्रेम भी सबको सर्वदा प्राप्त है। लेकिन जीव उसे भूल गया है, इसलिए ईश्वर तथा उसके आनन्दका अनुभव नहीं होता।

ईश्वरके प्रेमका अनुभव उसे होता है, जो उसका भक्त है। भगवान्‌को वह अधिक प्रिय है जो उनकी नित्य होती कृपावर्षाका अनुभव करता है। जो प्रत्येक अवस्थामें भगवान्‌के स्नेहको

पहचानता है, जो यह देखता है कि भगवान्‌ने यह चन्दन मुझे लगाया—यह उनकी कृपा है और भगवान्‌ने यह चपत मुझे लगायी, यह भी उनकी कृपा ही है। इस प्रकार जो प्रत्येक स्थान-पर, प्रत्येक समय, प्रत्येक अवस्थामें भगवत्कृपाका ही साक्षात्कार करता है, ऐसे अपने परम प्रिय भक्तका लक्षण वे बतला रहे हैं—

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥१८॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येनकेनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥१९॥

'जो शत्रु-मित्रमें तथा मानापमानमें समान है, सर्दी-गर्मी एवं सुख-दुःखमें समान है, आसक्ति रहित है, निन्दा-स्तुतिमें समान है, मननशील है और जो कुछ मिल जाय उसीमें सन्तुष्ट रहता है, अपना घर नहीं बना बैठा है, स्थिर बुद्धि है और भक्तिमान् है, वह मनुष्य मुझे प्रिय है।'

सर्वत्र पश्यति समं भगवत्स्वरूपं-
योऽसौ कथं समवगच्छति शत्रुमित्रे।

'जो सर्वत्र समानरूपसे सबको भगवान्‌का ही स्वरूप देखता है, वह किसीको शत्रु और किसीको मित्र कैसे मान सकता है?'

शत्रुसे द्वेष और मित्रसे राग होता है। सामान्यरूपसे भक्त किसीसे द्वेष नहीं करता, यह बात **अद्वेष्टा सर्वभूतानां**में कह दी गयी थी। **न द्वेष्टि**में यह कह दिया गया कि द्वेषका कारण उपस्थित करनेवालेसे भी वह द्वेष नहीं करता। लेकिन तब भी उसके चित्तमें यह तो पहचान रहती ही है कि इसने कष्ट पहुँचाया था। अब कहा जा रहा है कि एक साथ सामने कष्ट देनेवाला शत्रु

और सुख पहुँचानेवाला मित्र खड़ा है, तो भी भक्त दोनोंमें समान भाव रखता है। **शातनात् शत्रुः** जो सताये, वह शत्रु और **मेद्यति स्निह्यति इति मित्रम्** जो अपने स्नेह दे, जिसे देखकर हृदय स्निग्ध हो जाय, वह मित्र। इन दोनोंके प्रति भक्तका समान भाव रहता है। जीवन्मुक्त पुरुषका वर्णन करते हुए कहा गया है—

यश्च मे दक्षिणं बाहुं चन्दनेन समर्चयेत्।
वामं परशुना छिन्देत् उभौ तौ मे समौ मतौ ।।

—जीवन्मुक्ति विवेक

'जो मेरी दाहिनी भुजामें चन्दन लगाता है और जो मेरी वाम भुजाको फरसेसे काटता है, मेरे लिए दोनों समान हैं।'

यहाँ यह बात ध्यानमें रखनी चाहिए कि इस स्थानपर जो बात कही जा रही है, वह किसी सामान्य संसारी पुरुषकी, राजनीतिक नेताकी, व्यापारीकी या साधककी बात नहीं है। यह भगवान्के उत्तम कोटिके ज्ञानी भक्तकी बात है।

योगवासिष्ठमें महाराज इक्ष्वाकुकी एक कथा है। ऐसे भगवद्भक्त थे कि कमलपुष्प देखकर भगवान् पुण्डरीकाक्ष और काले मेघ देखकर **मेघश्याम** कहकर वे समाधिस्थ हो जाते थे। उन्हें सर्वत्र भगवान्के ही दर्शन होते थे। एक बार उनके शत्रुने चढ़ाई करके उनकी राजधानी अयोध्याको घेर लिया। महाराज इक्ष्वाकुने अपने मन्त्रीसे पूछा—'यह नरेश धर्मका पालन करता है या नहीं? प्रजाकी धर्मपूर्वक रक्षा करता है या नहीं?'

मन्त्रीने कहा—'मुझे यह पता है कि यह धर्मात्मा है और अपने राज्यकी प्रजाका धर्मपूर्वक पालन करता है।'

इक्ष्वाकु—'तब यह युद्ध क्यों करना चाहता है? इसे राज्य ही तो चाहिए। शासक धर्मात्मा होना चाहिए और उसे धर्मपूर्वक

प्रजाका पालन करना चाहिए। यदि वह ऐसा कर सकता है तो वही राज्य करे। मैं राज्य करूँ, इस हठसे युद्ध करके लोगोंको मृत्युमुखमें डालना मुझे अभीष्ट नहीं है।'

इक्ष्वाकुने राज्य उस शत्रुको बुलाकर दे दिया। इतना करके वे शत्रुके द्वेषसे या अपना अपमान मानकर वहाँसे चले गये हों, यह भी नहीं किया। **भिक्षामटनरिपुरे** शत्रुके नगरमें ही भिक्षा माँगकर शरीर-निर्वाह करने लगे। ऐसा महापुरुष स्वत्वसे वञ्चित कैसे रहता ? उनका राज्य उन्हें पुनः प्राप्त हो गया।

यह बात ऐसे भक्तोंकी है, जिनके सर्वस्व भगवान् हैं और भगवान् कहते हैं कि ऐसे भक्तोंके बिना मैं अपने-आपको भी पसन्द नहीं करता। चक्रके पीछे लगनेसे भयभीत दुर्वासाजी जब भगवान् नारायणकी शरणमें गये तो उनसे भगवान्ने कहा—

नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना।
श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा॥

—भागवत ९.४.६४

'दुर्वासाजी ! मैं तो उस स्थितिकी कल्पना ही नहीं कर सकता, जब मेरे साधुभक्त नहीं होंगे और मैं होऊँगा। अपने साधुभक्तोंको त्यागकर न मैं स्वयं रहना चाहता हूँ और न इन लक्ष्मीजीको रखना चाहता हूँ जो केवल मेरी परायणा हैं और जिनकी आत्यन्तिकी परमगति मैं ही हूँ।

अस प्रभु छाँड़ि भजहिं जे आना।
ते नर पसु बिनु पूँछ बिषाना॥

गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा—ऐसे भक्तवत्सल, परमोदार, कृपापारावार प्रभुको छोड़कर जो किसी औरका सेवन करते हैं, वे मनुष्य होते हुए भी बिना सींग-पूँछके—पशुओंमें भी निकृष्ट डूँडे और बंडे पशु हैं।'

समः शत्रौ च मित्रे च ज्ञानी भक्त प्रह्लाद इसके आदर्श हैं। हिरण्यकशिपु जब किसी उपायसे प्रह्लादको मार नहीं सका तो अपने गुरुपुत्र षण्ड तथा अमर्कसे उसने कहा—'आप लोग अपने मन्त्र बलसे इसे मार दें।'

शुक्राचार्यके उन पुत्रोंने अभिचार-प्रयोग करके कृत्या उत्पन्न की। लेकिन जब वह राक्षसी प्रह्लादपर झपटी तो उनकी रक्षामें पहलेसे नियुक्त भगवान्‌को सुदर्शनचक्र कृत्यापर टूट पड़ा। चक्रके भयसे वह भागी और उसने अपने उत्पन्न करनेवाले षण्ड तथा अमर्कको मार दिया। इससे प्रह्लाद बहुत दुःखी हुए। अपने वधके प्रयत्नमें लगे उन दोनों गुरुपुत्रोंको शत्रु न मानकर यही माना कि ये मेरे शिक्षक थे। उनको जीवित करनेके लिए प्रार्थना करते हुए प्रह्लादजी बोले—'हे प्रभु! यदि अपने ऊपर शस्त्रसे प्रहार करनेवालोंसे, अपनेको विष देनेवालोंसे, समुद्रमें डुबानेवालोंसे, हाथीके पैरके नीचे तथा पर्वतसे गिरानेवालोंसे मैंने द्वेष न किया हो, इनके प्रति मेरे मनमें कश्चित् भी द्वेषभाव न आया हो तो उस समताके प्रभावसे ये गुरुपुत्र जी उठें।' वे दोनों इस प्रार्थनासे जीवित हो गये।

भगवान्‌की समताकी चर्चा तो क्या की जाय; किन्तु वे भी भक्तोंके लिए आदर्श उपस्थित करते हैं। महाभारतके युद्धकी समाप्तिके पश्चात् अश्वत्थामाने पाण्डवोंका वंश नाश करनेके लिए ब्रह्मशिरस् अस्त्रका प्रयोग किया था उसके प्रभावसे अभिमन्युकी पत्नी उत्तराके गर्भसे मृत शिशु उत्पन्न हुआ। उसीका नाम आगे परीक्षित पड़ा। मृतपुत्र होनेके समाचारसे पाण्डव शिविर में हाहाकार मच गया। श्रीकृष्ण सूतिकागृहमें पहुँचे और बोले—'अर्जुनके रथपर सारथि बनकर बैठनेपर भी और पाण्डवोंको युद्धके लिए उपयुक्त राय देते रहनेपर भी यदि मेरे मनमें पाण्डवों तथा

कौरवोंके प्रति सर्वथा समान भाव रहा हो तो इस समताके प्रभावसे यह मृत शिशु जी उठे।' परीक्षित जीवित हो गये।

भगवान्‌में तो यह समता, दयालुता आदि गुण नित्य निवास करते हैं। भक्त जब निरन्तर भगवान्‌का चिन्तन तथा भगवद्-गुणोंका अनुसन्धान करता है, तब वे समता, दयालुता आदि सद्‌गुण उसके हृदयमें भी प्रकट हो जाते हैं।

मित्र सामने आता है तो वह विषाद हरता है। मित्रके आनेसे विषाद मिट जाता है और हृदय खिल उठता है। शत्रु सामने आता है तो वह अभिमानको तोड़ता है। अपनेमें जो बड़प्पनका गर्व है, उसे शत्रु नष्ट करता है। मित्र यदि विषाद हरण करनेवाली ओषधि है तो शत्रु अभिमान हरण करनेवाली। विषाद और अभिमान दोनों चित्तके रोग हैं। भगवान्‌को यदि कोई वस्तु सबसे अधिक अप्रिय है तो वह अभिमान है।

तस्यापि अभिमानद्वेषित्वाद्दैन्यप्रियत्वाच्च। नारद भक्तिसूत्र.

इसलिए शत्रु जब हमारा अभिमान नष्ट करता है, तब भगवान् प्रसन्न होते हैं और जब मित्र हमारा विषाद दूर करता है, तब भी वे प्रसन्न होते हैं। भक्त वह है जिसे संसारकी प्रत्येक क्रिया, चाहे वह अच्छी हो या बुरी, भगवान्‌की ओर ही ठेलती है। मनमें यदि विकार आया तो भक्त सावधान हो जाता है और संस्कार आया तो भगवत्स्मरण होता है।

भक्तकी दृष्टिमें सर्वत्र भगवान् होते हैं। उसकी दृष्टिमें न कोई शत्रु होता है और न कोई मित्र। श्रेष्ठ भक्तका लक्षण श्रीमद्-भागवतमें बताया गया है—

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥ ११.२.४५

सब प्राणियोंमें भगवान् और भगवान्में सब प्राणी। कोई काले वस्त्र पहनकर आये या श्वेत, वस्त्र देखकर बच्चे—अज्ञानी डरते हैं। जो देखता है कि इस वस्त्रमें वही हमारा परम प्रेमास्पद है, वह नहीं डरता।

समस्त दृश्य-प्रपञ्चमें प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्मको और प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्ममें समस्त प्रपञ्चको देखना ज्ञानीकी दृष्टि है। ब्रह्मातिरिक्त कुछ है ही नहीं। एक अद्वितीय सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही सर्वत्र परिपूर्ण है। अतएव ज्ञानी भक्तकी दृष्टिमें शत्रुमित्रका भेद नहीं है। वह शत्रु-मित्रमें समान है, यह कहनेका भी तात्पर्य यह है कि लोग देखते हैं कि अमुक व्यक्ति भक्तसे शत्रुताका और अमुक मित्रताका व्यवहार करता है; किन्तु भक्तका व्यवहार दोनोंके प्रति समान है। वह तो दोनोंमें ही भगवान्को देखता है। यह उत्तम कोटिके भक्तका लक्षण है। मध्यम कोटिके भक्तका लक्षण कहा गया—

ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च।
प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः॥

—भागवत ११.२.४६

जो भगवान्से प्रेम, उनके सेवकों, भजन करनेवालोंसे मित्रता करता है; जो मूर्ख हैं—अज्ञानके कारण भगवान्को भूलकर संसारके भोगोंमें फँसे हैं, उनके प्रति कृपा रखता है और अपनेसे द्वेष करनेवालोंकी उपेक्षा करता है, वह मध्यम कोटिका भक्त है। यही भक्त अभक्तोंको दुःखी देखकर उनपर कृपा करता है। उत्तम भक्त तो सबको भगवत्स्वरूप देखता है। अतः वह न तो किसीपर कृपा ही करता है और न उपदेश।

प्रह्लादको मारनेके लिए हिरण्यकशिपुका जब कोई प्रयत्न सफल नहीं हुआ तो स्वयं ही हाथमें खड्ग लेकर उन्हें मारनेको

उद्यत हुआ। भगवान् नृसिंहने प्रकट होकर उसे मार डाला और प्रह्लादसे बोले कि वर माँगो। प्रह्लादने कहा—'आप स्वामी और मैं सेवक! मेरे आपके मध्य लेने-देनेका व्यापार कैसा? फिर भी आप कुछ देना ही चाहते हैं तो यह वरदान दीजिये कि मेरे मनमें कभी कुछ माँगनेकी कामना ही न हो।'

> अहं त्वकामस्त्वद्भक्तस्त्वं च स्वाम्यनपाश्रयः।
> नान्यथेहावयोरर्थो राजसेवकयोरिव॥
> यदि रासीश मे कामान् वरांस्त्वं वरदर्षभ।
> कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम्॥

७.१०.६–७

इसके बाद प्रह्लादजीने फिर प्रार्थना की—'प्रभो! मेरे इस पिताने आपसे द्वेष किया और मुझ आपके भक्तको अकारण ही अपराधी मानकर कष्ट देता रहा है। इसका यह पाप भयानक है; किन्तु उसके फलस्वरूप इसे नरक न भोगना पड़े। आप इसे इसके पापसे मुक्त कर दीजिये।'

जिसने प्राण लेनेकी अनेक बार, अनेक प्रकारसे चेष्टा की, नाना प्रकारकी यातनाएँ दीं और जो स्वयं हाथमें खड्ग लेकर मारनेको उद्यत था, उसे भी कष्ट न हो, उसे भी नरककी यातना न भोगनी पड़े, यह भक्तका भाव है।

बंगलाकी 'तापसमाला' नामक पुस्तकमें एक कथा आती है। एक महात्मा नौकासे नदी पार कर रहे थे। नौकामें कुछ दुष्ट लोग भी थे। महात्माका घुटा सिर देखकर उन्होंने कहा—'इसी की घुटी चाँदपर जूते मारनेमें कैसा मजा आयेगा!' कहकर ही वे नहीं रह गये, सचमुच महात्माके सिरपर जूते मारने लगे। महात्मा शान्त बने रहे उसी समय आकाशवाणी हुई—'महात्माजी! आप कहें तो नौका उलटकर इन सब दुर्जनोंको डुबा दी जाय।'

महात्मा हाथ जोड़कर बोले—'प्रभो ! आपकी असीम कृपा है; किन्तु आप कुछ उलट-पुलट ही करना चाहते हैं तो नौका उलटनेकी तो कोई आवश्यकता नहीं है। नौकाने तो कुछ बिगाड़ा नहीं है। दोष इन लोगोंकी बुद्धिका है। अतः इनकी बुद्धिको ही कृपा करके आप उलट दें। उसे ऐसी कर दें कि आपके स्मरणमें लगे।'

शत्रुसे पराजय प्राप्त होती है और मित्र जय दिलाता है। लेकिन जिसके लिए जय-पराजय,सुख-दुःख, हानि-लाभ समान हैं, उसके लिए कौन शत्रु और कौन मित्र? भगवान्ने भक्तको अपने जीवनमें यही तो करनेको कहा है—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

—गीता २.३८

एक मार्ग चलते व्यक्तिसे शरीरमें चाकू लग जाता है, एक डाक्टर जान-बूझकर शरीर चाकूसे चीरता है और शत्रु चाकू निकाल लेता है मारनेके लिए, इन तीनों बातोंमें तुम्हारे मनकी क्रिया तीन प्रकारकी होती है। राह चलतेसे चाकू लग गया तो अनजानमें लगा। उसे क्षमा कर दोगे; बहुत हुआ तो थोड़ा क्रोध कर लोगे। डाक्टर तो शरीरका दोष दूर करनेको चाकूसे शरीर काटता-चीरता है। उसे फीस दोगे, उसकी प्रशंसा करोगे, उसका उपकार मानोगे। शत्रुने चाकू मारा नहीं, केवल निकाला है; किन्तु उसे देखकर डरोगे। यह सब मनोवृत्तिका ही तो अन्तर है। अब तुम अपनी मनोवृत्तिकी परीक्षा करो कि तुमको सर्वत्र शत्रु-द्वेष, अहित ही दीखता है या सर्वत्र प्रेम दीखता है। अथवा तुम सर्वत्र भगवान्को देखते हो ?

एक हीरा भूमिसे निकाला गया। उस समय वह बहुत कुरूप था। उसे जौहरीने बहुत थोड़े मूल्यमें खरीद लिया। इसके बाद

वह उसे जब काट-छाँटकर सुन्दर बनानेके लिए मशोनपर चढ़ाया गया तो वह बहुत रोया। जब उसमें छिद्र किया गया, तब तो वह और भी दुःखी हुआ। किन्तु जब उसमें सूत्र पिरोकर हारके मध्यमें लगाकर उसे भगवद्विग्रहको धारण कराया गया, तब उसे पता लगा कि उसे खरादने, काटने, छेदने आदिकी क्रियाएँ वस्तुतः उसे उज्ज्वल करने, चमकाने, सुन्दर बनाकर गौरवास्पद बनानेके लिए ही थीं।

एक घड़ेमें गंगाजल भरकर सन्तोंकी गोष्ठीमें रखा गया। किसीने कहा—'धन्य है यह घड़ा, कि सन्तजन इसमें भरे जलका पान करेंगे।'

घड़ा बोला—'आज तो मुझे भी प्रतीत हो रहा है कि मैं सचमुच धन्य हूँ। लेकिन जब कुम्हारने मुझको मिट्टीके रूपमें फावड़े मार-मारकर खोदा था, पानी मिलाकर अपने पैरोंसे मुझे रौंदा था, चाकपर चढ़ाया था, बाहर-भीतर थापोसे मेरा अंग-अंग पीटा था, धूपमें सुखाकर और अवेंमें बन्द करके मुझे जलाया था और जब बाजारमें ले जानेपर लाग मुझे ठोंक-ठोंककर देखते थे तो मैं बार-बार रोया, बार-बार दुःखी हुआ और समझता था कि यह कुम्हार और ये सब लोग अत्यन्त निष्ठुर हैं—बड़े क्रूर हैं। उस समय मुझे कहाँ पता था कि यह सब मुझे धन्य बनानेके लिए किया जा रहा है। उस समय तो लगता था कि सारा संसार मेरा शत्रु है।' आज मैं सचमुच धन्य हूँ। मेरी तपस्या सफल हुई, मेरा जीवन सार्थक हुआ कि वह आपकी सेवामें लग रहा है।

विचार करके देखो तो पता लगेगा कि जो हमसे शत्रुता करता है, वह हमें सहनशक्ति देता है, वैराग्य देता है। वह तो वन्दनीय है। भगवान्ने ही हमारे जीवन-निर्माणार्थ यह शत्रुका रूप धारण किया है। जिसके नेत्र द्वेषके रंगसे रंगीन हैं, उसे सारा

संसार अपना शत्रु ही दीखता है। लेकिन भक्तके हृदयसे—भक्तकी दृष्टि देखो तो सम्पूर्ण संसार भगवान्‌के रूपमें दीखेगा।

भक्त सम है। यह 'सम' भी सर्वात्मा भगवान्‌का एक नाम है। समका साधारण अर्थ है तुल्य, समान। 'स'—सदृश, मान—प्रमा अर्थात् समान ज्ञानवाला। शत्रु और मित्रकी आकृति ही तो भिन्न है। स्वर्णकी बनी बन्दरकी मूर्ति और स्वर्णकी ही बनी मनुष्यकी मूर्तिमें आकृतिका भेद भले हो, स्वर्णको पहचाननेवाला दोनोंका एक जैसा मूल्यांकन करता है। भक्त देखता है कि शत्रु-मित्रकी आकृतिमें भेद होनेपर भी दोनोंके रूपमें भगवान् ही हैं।

'भा'का अर्थ है शोभा—श्री। जिसकी शोभा समान रहती है, जिसका मुख शत्रुको देखकर मुरझाता नहीं, नेत्र टेढ़े नहीं होते और मित्रको देखकर जिसके चेहरेपर कान्तिकी लहर नहीं दौड़ती, वह सम है।

नैतादृशं ब्राह्मणस्यास्ति वित्तम् यथैकता समतासंगता च।

—महाभारत.

व्यवहारमें राग-द्वेष न हो, सबके प्रति समभाव हो और एक ही आत्मतत्त्व सर्वत्र परिपूर्ण है—इसमें बुद्धिकी स्थिति हो, यही ब्राह्मणकी महानतम सम्पत्ति है।

भक्तकी दृष्टि तत्त्वदृष्टि है। सामान्य संसारीकी भाँति उसकी दृष्टि नहीं है। चन्द्रमाके सामने उसके प्रति अनुराग रखनेवाला चकोर, कुमुदिनी आये या उसे अप्रिय माननेवाला कमल; किन्तु वह अपनी चन्द्रिका दोनोंपर समान रूपसे ही डालता है। अग्नि आहुति देनेवाले और गन्दगी डालनेवालेको समान रूपसे ताप देता है। वायु, जल, पृथ्वी, आकाश आदि सब तत्त्व अपने शत्रु-मित्रके प्रति समान रहकर उन्हें अपना लाभ देते हैं। इसी प्रकार भक्तकी दृष्टि भी तत्त्वदृष्टि है। उसमें शत्रु-मित्रका भेद नहीं होता!

संसारकी सभी वस्तुएँ तत्त्वदृष्टिसे एक ही हैं। चाहे वे प्रकृतिसे बनी हों, परमाणुओंसे बनी हों, कर्मसे बनी हों, गुणोंसे बनी हों या ईश्वर उन रूपोंमें प्रतीत हो रहा हो। सर्वत्र एक परमतत्त्व ही परिपूर्ण है। इसमें स्थूल, सूक्ष्म और कारणका भेद नहीं है। यह दृश्यमान जगत् चित्रके समान है; किन्तु कागजपर बने चित्रके समान नहीं। मनमें बने चित्रके समान—मनोराज्यके समान यह संसार न होनेपर भी प्रतीत हो रहा है। वस्तुतः तो इस सबके रूपमें एक अद्वितीय आत्मतत्त्व ही भास रहा है और आत्मा सच्चिदानन्द है। इसका अर्थ हुआ कि ये सब आनन्दके ही आकार हैं। जन्म-मृत्यु, सुख-दुःख, पाषाण-प्रतिमा—ये सब आनन्दकी ही मूर्तियाँ हैं! सच्चिदानन्द परमात्मा ही सर्वरूप है। मित्रके भीतर वही परमात्मा छिपा है और शत्रुके भीतर भी वही छिपा है। केवल ऊपरसे देखनेपर शत्रु-मित्र दीखता है। परमात्मा नहीं दीखता। लेकिन भक्त उस परमात्माको देखता है। अतः शत्रु-मित्र दोनोंके प्रति वह सम है।

मित्र हृदयमें राग उत्पन्न करके और शत्रु हृदयमें द्वेष उत्पन्न करके बन्धनमें डालता है। राग-द्वेष बन्धनके हेतु हैं। द्वेष आज दुःख दे रहा है तो राग चार दिन बाद दुःख देने ही वाला है। अतः कर्मकी दृष्टिसे, व्यवहारकी दृष्टिसे, दुःख तथा बन्धनका कारण होनेकी दृष्टिसे शत्रु-मित्र दोनों समान ही हैं।

संसारकी सब वस्तुएँ परस्पर मिली-जुली हैं। अच्छाईमें बुराई और बुराईमें-से भी अच्छाई निकल आती है। कभी विष अमृतका काम कर देता है और कभी अमृत भी विष बन जाता है। कभी मित्रका आचरण शत्रु-जैसा हो जाता है और कभी शत्रु ऐसी मित्रताका काम कर देता है, जैसा मित्र भी नहीं कर सकता।

हितत्त्व सर्वत्र भरपूर है। वह चाहे जो भी रूप धारण करे, उसमें कोई न कोई हमारा मंगल ही रहता है।

मैं जब संन्यासी हुआ तो मेरे घरके लोग बहुत दुःखी हुए। एक तो उन्हें मेरे वियोगका दुःख था और दूसरे मेरे सम्बन्धमें इस चिन्ताका दुःख था कि—'कहाँ रहेंगे, क्या खायँगे, कैसे रहेंगे ? लेकिन मेरे संन्यास लेनेके कुछ समय बाद ही सन् १९४२ का 'भारत छोड़ो !' आन्दोलन छिड़ गया। उस समय देशमें स्थान-स्थानपर बड़ी-बड़ी घटनाएँ हुईं। मेरी जन्मभूमिके समीपके पुलिस स्टेशनको भीड़ने घेर लिया और जला दिया। उसमें पुलिसवालोंको भी जीवित जला दिया। इसके बाद सेनाके लोग आये, गोलियाँ चलीं और गिरफ्तारी हुई। बहुत लोग पकड़े गये। अस्सी लोगोंपर सरकारने मुकदमा चलाया, जिनमें सोलहको प्राणदण्ड मिला। उस समय मेरे मित्र, परिचित तथा घरके लोग कहते थे—'अच्छा हुआ कि संन्यासी होकर पहले ही घर छोड़ गये। यहाँ रहते तो आन्दोलनमें सम्मिलित हुए बिना मानते नहीं और पीछे पता नहीं, क्या-क्या भोगना पड़ता।' इस प्रकार मनुष्यको तत्काल तो पता नहीं होता। उसे जिसमें हानि दीखती है, उसीमें-से लाभ निकल आता है। जिसमें लाभ प्रतीत होता है, वह काम हानिकर सिद्ध होता है। मनुष्यका सबसे बड़ा लाभ तो इसीमें है कि संसारकी आसक्ति छोड़कर वह भगवान्‌की ओर चले। सबसे बड़ी हानि है भगवान्‌को भूलकर संसारमें लगना।

सा हानिस्तन्महच्छिद्रं सा चान्धजडमूढता।
यन्मुहूर्तं क्षणं वापि वासुदेवं न चिन्तयेत्॥

'जो मुहूर्त, जो क्षण भगवच्चिन्तनके बिना बीता, वही सबसे बड़ी हानि हुई। वही बड़ा भारी दोष हुआ। उसी समय हम अन्धे, जड़ और मूर्ख बन गये।'

लोग कभी अच्छी बातोंसे भी बुराई ग्रहण कर लेते हैं। एक मनुष्य कथा सुनने आया। उसने सुना—किसीसे कुछ चाहना नहीं चाहिए। इच्छा करनी ही नहीं चाहिए। ईश्वरसे कुछ माँगना नहीं चाहिए। अब उसने कहा—'हम ईश्वरसे कुछ नहीं चाहेंगे।' लेकिन मनुष्योंसे, पुत्र-परिवारसे, शरीरसे, कुछ चाहोगे या नहीं ? इनसे कुछ न चाहे बिना तो काम चलता नहीं। इनसे तो बहुत कुछ चाहिए। नाना प्रकारकी अपेक्षा-आकांक्षा इनसे है। तब उसे कथासे लाभ कहाँ हुआ ?

कथाका लाभ इसमें था कि वह इस क्रमसे समझता। १. किसीसे कुछ नहीं चाहिए। २. यदि कुछ चाहिए ही तो केवल ईश्वरसे ही चाहिए। ३. परमेश्वरमें मन इतना मिल जाय कि चाहनेकी आवश्यकता ही न रह जाय। समझना ऐसी बात चाहिए, जिससे अपना मन ईश्वरकी ओर चले। ऐसी बात नहीं समझनी चाहिए जिससे मन ईश्वरसे विमुख हो।

भगवान् यह नहीं चाहते कि उनसे कुछ चाहा न जाय। उनसे कुछ चाहा जाय तो उन्हें कोई अशान्ति या घबराहट नहीं होती। अभावग्रस्त अथवा कृपण ही माँगनेवालोंसे घबराता है। भगवान्के पास न अभाव है, न वे कृपण हैं। उन उदारशिरोमणि करुणा-वरुणालय सर्वेश्वर सर्वशक्तिमान्के पास अभाव किसी बातका नहीं है। वे जब भक्तको निष्काम होनेको कहते हैं, तब वे चाहते हैं कि उसके हृदयमें केवल वे ही विराजमान हों। मनुष्य जब कोई वस्तु या व्यक्ति चाहता है तो वह वस्तु या व्यक्ति इसके हृदयमें आयेगा। भगवान्को यह प्रिय नहीं है कि उनका भक्त उन्हें छोड़कर अन्यत्र देखे और उसके हृदयमें संसारकी वस्तुएँ बसें। संसारकी कामनासे हृदय केवल भगवान्का मन्दिर नहीं रह जाता; वह धर्मशाला बन जाता है, जहाँ एक आया, दूसरा गया—यह क्रम

चलता ही रहता है। निष्कामताका अर्थ है कि संसारकी कोई वस्तु, व्यक्ति या स्थिति न भगवान्‌से चाहो न किसी अन्यसे। कामना तुम्हारे मनमें उठे ही नहीं।

तुम श्रीरामकी उपासना करते हो। कोई वस्तु तुमने श्रीरामसे नहीं माँगी, हनुमान्‌जीसे माँग ली। अब मनमें रामजी तो थे ही, हनुमान्‌जी भी आये और वह वस्तु भी आयी। यह बात अनन्यतामें बाधक ही तो बनी। संसारमें यदि कोई तुम्हारी कामना पूरी करनेवाला मित्र है तो वह भगवान्‌से तुम्हारी दृष्टि अपनी ओर खींचता है और यदि कोई तुम्हारी कामनामें बाधा देनेवाला शत्रु है तो वह भगवान्‌से तुम्हारी दृष्टि अपनी ओर खींचता है। जब शत्रु-मित्र दोनों ही भगवान्‌से दृष्टि अपनी ओर खींचनेवाले हैं, तो दोनों भक्तके लिए समान रूपसे उपेक्षणीय हो गये, उन दोनोंसे-ही उसे बचकर रहना है।

सच्चा मित्र वह है जो भगवान्‌में लगाये और शत्रु वह है जो वैराग्य उत्पन्न करे। इस प्रकार वह भी मित्र ही हुआ। जैसे एक मनुष्य कहीं बँध गया है तो एक उसे हाथ पकड़कर खींचता है और दूसरा उसकी रस्सी काटता है। दोनों उसे छुड़ानेमें सहायता कर रहे हैं, अतः समान हैं। इस रीतिसे मित्र और शत्रु दोनों भगवत्प्राप्तिमें सहायक होनेसे हमारे हितैषी हैं।

शत्रु और मित्र दोनोंको भगवान्‌ने ही तो भेजा है। एकको उन्होंने प्रेरणा दी—'इसे संसारसे उद्विग्न करो!' दूसरेको प्रेरणा दी—'इसे मेरी ओर आनेके लिए प्रोत्साहित करो।' भगवान्‌के द्वारा भेजे हुए होनेसे दोनों भक्तको समान रूपसे प्रिय हैं।

शत्रु-मित्र दोनोंके भीतर हमारे प्रभु ही विराजमान हैं। वे दोनोंके भीतर कार्यवाहक बनकर हमारे प्रति वात्सल्य लिये बैठे हैं। उन्होंने बाहरी रूप कुछ भी बनाया हो, हैं तो हमारे परम

प्रेमास्पद ही। ज्ञानकी दृष्टिसे शत्रु-मित्र दोनोंके नाम-रूप तो प्रतीति मात्र हैं और आत्मा तो दो हैं नहीं, एक ही है। अतः ज्ञानी भक्त शत्रु-मित्र न देखकर दोनोंमें समत्वका, एक परमतत्त्व-का, एक परमात्माका अनुभव करता है।

तथा मानापमानयोः समः भक्तके लिए मान-अपमान है ही नहीं। जो बात सामान्य लोगोंको अपमानकारक जान पड़ता है, वह भी अपने प्रियके द्वारा हो तो सम्मान बन जाती है। अपने प्रियतमके द्वारा जो होता है, वह सम्मान ही होता है। मैं एक मित्रके यहाँ भोजन करने गया था। वहाँ उनके एक मित्र आये थे। उनके लिए भोजनमें जो 'बड़ा' परोसा गया, तोड़नेपर उसमें-से रूई निकली। यह देखकर सब लोग हँसने लगे। वे भी खूब हँसे; क्योंकि वह रूई तो उनके मित्रने जानबूझकर उनके बड़ेमें भरी थी। इसमें अपमान मानकर भला वे क्यों रुष्ट होते।

संसारमें मनुष्यको कभी मान प्राप्त होता है और कभी अपमान। मानका अर्थ है माप। लम्बाईको—देशको गज, फीट आदिसे मापा जाता है। समयको सेकेण्ड, मिनट, घण्टे, दिन आदिसे मापते हैं। वस्तुको मन, सेर, छटाँकमें मापते हैं। इस प्रकार 'मान'का अर्थ है—परिच्छिन्नता, घेरा। जब हम अपनेको परिच्छिन्न करके एक घेरेमें बाँध लेते हैं, तब यह मान हमारे साथ जुड़ता है और जहाँ मान जुड़ता है, वहाँ अपमान भी जुड़ता है। देहमें आत्मबुद्धि हुए बिना मान-अपमान नहीं होता। श्रीप्रबोधानन्द सरस्वतीने भक्तको कैसे रहना चाहिए, यह बतलाते हुए कहा है—

भ्रातस्तिष्ठ तले तले विटपिनां ग्रामेषु भिक्षामट,
स्वच्छन्दं पिब यामुनं जलमलं चीराणि कन्थां कुरु।

सम्मानं कलयाति घोरगरलं नीचापमानं सुधां,
श्रीराधामुरलीधरौ भज सखे वृन्दावनं मा त्यज ॥

—वृन्दावनमहिमामृतम्

'भाई, श्री राधा-माधवका भजन करते हुए वृन्दावन-वास करो। वृन्दावन त्यागकर कहीं अन्यत्र मत जाना; किन्तु वहाँ कहीं कुटिया या भवन मत बनाने लगना। एक वृक्षके नीचे रहने लगोगे तो उस स्थानसे आसक्ति हो जायगी। भोजनके लिए व्रज-वासियोंके घरसे भिक्षा माँग लेना और प्यास लगे तो जी भरकर श्रीयमुना-जल पीना। मार्गमें पड़े चिथड़ोंसे शरीर ढकनेको गुदड़ी बना लेना। सबसे ध्यान देनेकी बात यह है कि सम्मानको अत्यन्त भयंकर विष समझकर उससे सावधानी पूर्वक बचना और तुमसे छोटे लोग तुम्हारा अपमान करें तो उसे अपने लिए अमृत मानना।'

संसार लोग सिरपर मानापमानका भार लेकर चलते हैं। जिसको श्रेष्टताका अभिमान इतना बड़ा हो कि उसे हर बातमें सर्वत्र अपमान ही लगे, वह पामर पुरुष है। जिसे कहीं सम्मान और कहीं अपमान यथायोग्य प्रतीत हो, वह विषयी है। साधक विषयीसे उलटे स्वभावका होता है। वह अपमानको सम्मान तथा सम्मानको अपमान मानता है। मनुस्मृतिमें कहा है—

सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यं उद्विजेत विषादिव।
अमृतस्येव चाकांक्षेदवमानं द्विजोत्तमः॥

—मनुस्मृति.

ब्राह्मणको चाहिए कि वह सम्मानसे उसी प्रकार डरे जैसे मनुष्य विषसे डरता है। जहाँ सम्मान होता हो, वहाँ बार-बार न जाय। लेकिन अमृतकी भाँति अपमानकी आकांक्षा करे। जहाँ

अपमान होता हो, वहाँ बार-बार जाय। क्योंकि सम्मान देहाभिमानको दृढ़ करता है और अपमान उसे काटता है। अतः जो परमार्थके मार्गमें चलना चाहता है, उसे सम्मानसे बचना और अपमानका स्वागत करना चाहिए। इसमें बात क्या है?

अवमानात्तपोवृद्धिः सम्मानात्तपसः क्षय।

बात यह है कि अपमानसे तपस्या बढ़ती है, सहनशीलता आती है और सम्मानसे तपस्याका ह्रास होता है, अहंकार बढ़ता है।

एक बार मैं यात्रा कर रहा था। ट्रेनमें जिस डिब्बेमें चढ़ा, उसमें सीटोंपर पेशावरी पठान सोये थे। मैं एक पठानके पैरोंके पास बैठ गया तो उसने मुझे बार-बार पैरसे मारा। कहता था—'गान्धीका चेला जान पड़ता है।' मैं कांग्रेसमें तो था ही, चुप बना रहा; किन्तु मनमें बहुत दुःख हुआ। यात्राके बाद एक महात्माके पास जाकर मैंने अपने मनका दुःख सुनाया तो वे बोले—'जब तुम्हारा अपमान होता है तो तुम ऐसे स्थानपर बैठे होते हो जहाँ तुम्हारा अपमान किया जाय। जो नालीमें पड़ा है, उसके ऊपर तो गन्दा पानी गिरेगा ही। जो कूड़ेके ढेरपर बैठा है, उसके सिरपर कोई ऊपरसे कूड़ेकी टोकरी उलटता है तो कूड़ा उलटनेवालेका क्या दोष है? कूड़ेके ढेरपर तो तुम स्वयं बैठे हो। इस हड्डी, माँस, रक्त, चर्म, मल-मूत्रकी राशि—शरीरसे राग करके जब तुम देहमें बैठते हो, जब देहको 'मैं' मान लेते हो तब तुम्हारा अपमान होता है। यह तो ईश्वरकी कृपा है कि अपमान आता है। अपमान कहता है कि देहमें-से ऊपर उठो! इस नालीमें, इस कूड़ेके ढेरपर मत बैठो। तुम्हारे पिताका घर कितना निर्मल, कितना मनोरम है! वहाँ चलो, कूड़ेपर क्यों बैठे हो? अतः अपमान करनेवाला तो तुम्हारा हितैषी ही है।'

भक्त देहको ओर देखता ही नहीं। उसका कोई मान करे या अपमान। सम्मान और अपमान करनेवाले प्रभु ही हैं। प्रलयकालमें जब जीव अज्ञाननिद्रामें डूबा था, तब भगवान्ने इस सदुद्देश्यसे सृष्टि रचना की, जिससे अज्ञानसे जागकर जीव अपने कर्मानुसार अर्थ, धर्म, काम या मोक्षका सुख उपलब्ध करे। लेकिन जागकर जीव प्रसन्न नहीं हुआ। वह तो मान-अपमान, सुख-दुःखको पकड़कर बैठ गया और दुःखी होकर रोने लगा। भक्त इस सबको पकड़ता नहीं। वह केवल भगवान्को हृदयमें पकड़कर बैठता है।

अधिक सम्मान मनुष्यको फँसाता है और अपमान जीवनको ऊपर उठाता है। धूलि भी पैरके नीचे पड़नेपर उड़ती है। कभी-कभी महात्मा लोग जान-बूझकर अपमानका वरण करते हैं। मुझे एक सन्तने सुनाया कि वे जब गंगोत्तरी गये तो एक महात्माकी कुटियाके बाहर यह बोर्ड लगा देखा 'मेरे पास खाली हाथ मत आना।' ये यह सुन चुके थे कि वे महात्मा नंगे रहते हैं, कोई सामग्री पास रखते नहीं हैं। इनके मनमें आया कि यात्री जो पैसे इन्हें देते हैं, उसका ये करते क्या हैं? इसलिए छिपकर उन महात्माकी गतिविधि देखने लगे। दिनमें जो यात्री उनके यहाँ दर्शन करने गये, उनमें-से किसीने एक पैसा, किसीने दो पैसा, एक आना वहाँ डाल दिया। शामको महात्माने वे पैसे उठाये, उन्हें गिना और फिर जाकर वे सब गंगाजीमें फेंक दिये।

दो-तीन दिन जब यही क्रम दिखायी पड़ा तो इन्होंने महात्मासे पूछा—'आप यह क्या करते हैं? जब आपको पैसे नहीं चाहिए तो आपने यह बोर्ड क्यों लगा रखा है?'

महात्मा बोले—'यात्री यहाँ आते हैं तो पण्डोंसे पूछते हैं कि यहाँ कोई त्यागी, विरक्त, ज्ञानी महात्मा हैं या नहीं? हैं तो उनके दर्शन कराओ!' पहले पण्डे मेरे पास लोगोंको ले आते थे।

इससे बहुत भीड़ रहती थी। व्यर्थ अशान्ति बनी रहती थी। अब यह बोर्ड लगा देनेसे लोग समझते हैं कि इस कुटियामें कोई लालची रहता है। इसलिए वे यहाँ आना नहीं चाहते और पण्डे भी नहीं लाते। अब तो भूले-भटके लोग ही आते हैं। भजनके लिए एकान्त-शान्त अवसर मिलता है।'

एक फक्कड़ सन्त गंगातटपर रहते थे। वे कभी-कभी फिरोजाबाद शहरमें जाते थे। फिरोजाबादकी चूड़ियाँ प्रसिद्ध हैं। वे वहाँ किसी चूड़ीवालेकी दूकानमें जाकर पैरको ठोकर मारकर एक-दो बण्डल चूड़ियोंके फोड़ देते। इससे चूड़ीवाले उन्हें पीटते थे। एक बार इसी प्रकार चूड़ियाँ फोड़नेपर चूड़ीवाले उन्हें पीट रहे थे, इतनेमें उन्हें पहचाननेवाले कोई सज्जन वहाँ आगये। उन्होंने चूड़ीवालेको रोका और सन्तसे पूछा कि आप यह चूड़ियाँ क्यों फोड़ते हैं तो वे बोले—'बीच-बीचमें मुझे यह देखते रहना आवश्यक जान पड़ता है कि पिटनेपर क्रोध आता है या नहीं। जब अपने मनकी परीक्षा करनी होती है, मैं यहाँ आ जाता हूँ।'

एक बार श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके एक युवक भक्तने उनसे अपने घर पधारनेकी प्रार्थना की। बाबाजीने उसे आश्वासन दे दिया कि कभी घूमते-घामते उसके गाँवके पाससे निकले तो उसके घर आयेंगे। पैदल चलनेका उनका नियम था। एक बार घूमते हुए उसके घर पहुँच गये। उस समय घरपर वह युवक नहीं था। उसके आर्यसमाजी विचारोंवाले पिता घरपर थे। उन्होंने देखा कि एक तन्दुरुस्त साधु कमण्डल लिये घरपर आया है तो बोले—'तुम अच्छे हट्टे-कट्टे हो। काम क्यों नहीं करते? मुफ्तकी रोटी खानेका स्वभाव क्यों डाल रखा है?'

श्रीमहाराजने कहा—'काम मिलता कहाँ है?'

वे बोले—'तुम मेरे बैलोंके लिए चारेकी कुट्टी काट दो तो मैं तुम्हें आज भर पेट खिला दूँगा !'

श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज चुपचाप बैलोंके लिए चारेकी कुट्टी काटने लगे। उनके लिए तो जैसी सैकड़ों लोगों द्वारा की गयी पूजा, वैसा ही यह अपमान। वे चारा काट रहे थे, उतनेमें वह युवक घर आया। श्रीमहाराजीको चारा काटते देख पैरोंपर गिर पड़ा।

श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजने मुझे दो बातें बतलायीं—'एक तो किसीसे माँगना नहीं और दूसरे निमन्त्रण देकर किसी बड़े आदमीको कभी अपने यहाँ बुलाना नहीं।' इन दोनों नियमोंका वे स्वयं पालन करते थे। हाथरसका एक ब्राह्मण उनके पीछे पड़ गया कि उसकी कन्याके विवाहके लिए बाबा किसी सेठसे उसे रुपये दिला दें। बाबा कहते थे—'मैं तो माँगता नहीं हूँ। तुम किसी सेठको तैयार करो। यह यदि मुझसे पूछेगा तो मैं उसे तुम्हें कन्याके विवाहके लिए रुपये देनेको कह दूँगा।'

वह ब्राह्मण कई बार आया। जब उसका आग्रह पूरा नहीं हुआ तो उसने गालियाँ बकना प्रारम्भ किया। इससे भी बाबापर कोई प्रभाव नहीं हुआ तो उसने छुरेसे श्रीमहाराजजीकी नाकपर चोट की। लोगोंने उसे पकड़ लिया; किन्तु दूसरोंसे उसे छुड़ाकर बाबा उसे अपनी कुटियामें ले गये और दूध पिलाया। क्रोधमें आये अपने श्रद्धालुओंसे, जो उस ब्राह्मणको पीटना चाहते थे, बाबा बोले—'यदि किसीने इनको कुछ भी कहा तो मैं यहाँसे चला जाऊँगा और फिर कभी इस प्रदेशमें मुख नहीं दिखाऊँगा।'

आदर पूर्वक उस ब्राह्मणको बाबाने विदा किया। नाकका घाव थोड़े समयमें ठीक हो गया! पीछे वह ब्राह्मण पागल हो गया था।

स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराजके विद्यागुरु स्वामी श्रीविश्वेश्वराश्रमजी महाराज बड़े विद्वान् थे। पढ़ने-पढ़ानेमें ही लगे रहते थे। गंगातटपर नरवरमें रहते थे। पक्के सनातनधर्मी और आचारनिष्ठ थे। उनसे लोगोंने कहा—'उड़ियाबाबा तो सब लोगोंसे प्रणवका उच्चारण करवाते हैं और वर्णाश्रम धर्मका आदर नहीं करते। सबके यहाँ भिक्षा कर लेते हैं। कीर्तन कराते हैं।'

वे वृद्ध सम्मानित विद्वान् बहुत भोले—सरल स्वभावके थे। लोगोंकी बातें सुनकर अप्रसन्न हो गये। श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजको जब यह सूचना मिली कि वे अप्रसन्न हैं तो अपने साथके लोगोंको लेकर उनके दर्शन करने गये। उस समय वहाँ भी आस-पासके प्रतिष्ठित लोग बैठे थे। सबके सामने ही श्रीविश्वेश्वराश्रमजी महाराज श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजको गालियाँ देने, डाँटने लगे—तू डण्डी स्वामी होकर कसकुटा (झाँझ बजानेवाला) हो गया है! शूद्रोंसे प्रणवका उच्चारण करवाता है! भ्रष्ट—पतित हो गया है।'

उन्होंने देर तक खूब गालियाँ दीं। श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके साथके लोगोंको क्रोध आया। उनमें-से एक ब्रह्मचारी तो क्रोधके कारण मरने-मारनेपर उतारू हो गये; किन्तु बाबाने सबको रोक दिया कि कोई एक शब्द भी न बोले। चुपचाप गालियाँ सुनते रहे। जब गालियाँ देकर स्वामीजी चुप हो गये तो बाबा उठकर चले आये। बाबा न तो कीर्तन करते थे, न प्रणवका किसीसे उच्चारण कराते थे। कीर्तन तो श्रीहरिबाबाजी महाराज कराते थे। श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज तो अवधूत दशामें रहते थे। लेकिन गालियोंका उन्होंने तनिक भी बुरा नहीं माना; हँसते हुए चले आये।

दण्डी स्वामी श्रीविश्वेश्वराश्रमजी महाराजका शरीर जब

पूरा हुआ तो बाबा अपने सब भक्तोंके साथ नरवर गये। वहाँ खूब संकीर्तन हुआ, बड़े उत्साहसे उनके भण्डारेमें योगदान किया। ये महात्मा लोग प्रिय-अप्रियमें समानवृत्तिसे रहनेवाले होते हैं।

प्रियप्रायावृत्तिर्विनयमधुरो वाचि नियमः,
प्रकृत्या कल्याणी मतिरनवगीतः परिचयः।
पुरो वा पश्चाद् वा तदिदमविपर्यासितरसं,
रहस्यं साधूनां निरुपधि विशुद्धं विजयते॥

—उत्तररामचरित.

मनमें सबके प्रति प्रेम, विनयकी मिठास, वाणीका संयम, स्वभावसे ही सर्वहितकारिणी मति, सत्पुरुषोंके साथ मेल-जोल सामने या पीछे—हर समय विपरीत रसका उदय न होना—यह साधुओंका निष्कपट निष्कारण विशुद्ध जीवन-रहस्य है।

भक्तोंके जीवनमें प्यार ही प्यार होता है—

अप्रेक्ष्यफलममात्मनो विदधति प्रीत्या परेषां प्रियं,
लज्जन्ते दुरितोद्यमादिव निजस्तोत्रानुबन्धादपि।
विद्यावित्तकुलादिभिश्च यदमी यान्ति क्रमान्नम्रतां,
रम्या कापि सतामियं विजयते नैसर्गिकी प्रक्रिया॥

—विदग्धमाधव.

सत्पुरुष यह बिना देखे कि इसने कभी हमारा प्रिय कार्य किया है या नहीं, दूसरोंका प्रिय करते ही रहते हैं। कोई उनकी स्तुति करे तो ऐसे लज्जित होते हैं, जैसे कोई पाप अपनेसे बन गया हो। विद्या, धन आदि किसीसे गर्व उन्हें नहीं होता। ये सब गुण बनावटी नहीं, स्वाभाविक रूपमें सज्जनोंमें—भक्तोंमें होते हैं।

एक बार मैं एक महात्माका दर्शन करने गया। ज्येष्ठकी दोपहरी थी। भोजनादिसे निवृत्त होकर चला था। तेज लू चल

रही थी। पाँच मील पैदल जाना था। उनकी कुटियापर पहुँचा तो द्वार बन्द था। मैंने द्वार खटखटाया। द्वार खुला और वे मुझे देखकर बोले—'अन्दर आजाओ।' मेरे कुटियामें आजानेपर बोले—'बाहर गर्मी पड़ रही हो तो भीतर आजाना चाहिए।' उनका तात्पर्य यह था कि जब बाह्य जगत्‌में कष्ट हो, अपमान हो तो अन्तर्मुख हो जाओ।

मानापमानमें फँसनेपर मनुष्य अपने लक्ष्य और साधन दोनोंसे गिर जाता है। एक अवधूत थे। मैं उनसे भली प्रकार परिचित था। बड़े विरक्त—त्यागी थे। केवल लंगोटी लगाये रहते थे। उन्हें तम्बाकू खानेका व्यसन था और तम्बाकू खानेवाला चाहे जहाँ थूक देता है। वे भी इसके अपवाद नहीं थे। एक बार वे किसी साधुकी कुटियापर गये। तम्बाकू खाकर वहाँ थूक दिया। साधु रुष्ट होकर बोला—'इस प्रकार थूकना है तो अपनी कुटिया बनवा लो, तब वहाँ थूकना। दूसरोंकी कुटियामें थूकते तुम्हें लज्जा नहीं आती?'

अवधूतजीको उस साधुकी बात लग गयी। वे वहाँसे सीधे लखनऊ गये। लखनऊ जाकर टिक गये। वहाँ उनका सम्मान बढ़ा। किसी भक्तने उनके चरणोंमें एक लाख रुपये अर्पित किये, जिनसे कनखलमें विशाल भवन बनवाया गया। यद्यपि नाम उसका कुटिया ही है।

एक बातने—अपमानके एक अनुभवने त्याग, वैराग्य सब फेंक दिया और जो अवधूत थे वे ईंट लानेवाले गधे गिननेके काममें लग गये। अतः इस बातसे बहुत सावधान रहना चाहिए कि भगवान्‌के अतिरिक्त कोई अन्य वस्तु हृदयपर अधिकार न कर ले। चित्त मान-अपमानमें न उलझ पड़े। मान-अपमानके चक्करमें पड़कर मार्ग छूट जाता है। लौकिक रीति भी यही है—

स्वकार्यं साधयेद् धीमान् कार्यध्वंसो हि मूर्खता।

बुद्धिमान् पुरुषको चाहिए कि अपना काम बनाये। अपने उद्देश्यको ही नष्ट कर देना मूर्खता है। जब अपना काम यह बनाया कि भगवान्का भजन करना है, भगवान्से प्रेम करना है, भगवत्प्राप्ति अपना लक्ष्य है तो सम्मान पाकर फूलो मत और अपमान होनेपर सूखो मत; क्योंकि दोनोंमें ही भगवान् भूल जाते हैं। भक्त मान या अपमानकी ओर न देखकर भगवान्की ओर देखता है।

मेरे साथ मेरे एक मित्र रहते थे। वे मुझे हाथ भो जोड़ते थे और मेरा बहुत आदर भी करते थे। उनमें एक बात थी कि वे बार-बार यह बात यह कहते थे—'मैंने डबल एम० ए० किया और उनके सर्टिफिकेट फाड़कर गंगामें फेंक दिये।'

मुझे लगा कि अपने सर्टिफिकेट फाड़नेका गर्व इनके मनमें बैठ गया है। एक दिन बातचीतमें मैंने कह दिया—'बेचारेने किसी प्रकार तो एम० ए० किया।' मेरी बात पूरी होनेसे पहले ही उनका मुख क्रोधसे लाल हो गया और बोले—'तुम मुझे समझते क्या हो ? मैं अभी तुम्हें दस वर्ष पढ़ा सकता हूँ।'

वहाँ हिन्दीके वयोवृद्ध सम्पादक श्रीलक्ष्मणनारायण गर्देजी भी बैठे थे। वे बोले—'आपने अपने सर्टिफिकेट गंगाजीमें नहीं फेंके हैं, वे आपके हृदयमें ही सुरक्षित रखे हैं।'

इसलिए अपने चित्तको शरीरमें, शरीरके सुख-दुःख, मान-अपमानमें नहीं रखना चाहिए। चित्तको ईश्वरमें रखना चाहिए। भक्तके व्यवहारका 'गुर' यह है कि वह देखता है—'यह बात उस प्रभुको कैसी लगेगी ?'

भक्तकी दृष्टि देहपर नहीं जाती। वह भगवान्को अपने हृदयमें लिये है और बाहर भी सबमें सर्व रूपमें उन्हें ही देखता है। इसलिए उसे मान-अपमान नहीं दीखते। वह प्रत्येक अवस्थामें सम है।

शीतोष्णसमः सर्दी और गर्मी शरीरको लगती है और अभ्यासके अनुसार लगती है। जिसका जैसा अभ्यास हो, उससे वैसी सर्दी या गर्मी सही जाती है। मैं गङ्गोत्तरी गया तो वहाँकी सर्दी मेरे अनुकूल नहीं पड़ती थी। हाथ-पैर ठिठुरते और दाँत भी कभी-कभी बजते थे; लेकिन वृन्दावनकी गर्मी मैं सरलतासे सह लेता हूँ।

गंगोत्तरीमें स्वामी श्रीकृष्णाश्रमजी महाराज दिगम्बर रहते हैं। वे कौपीन भी नहीं लगाते और न धूनी ही जलाते हैं। उन्हें वहाँकी सर्दी सहनेका अभ्यास हो गया है। लेकिन वे हरिद्वार आये तो माघके महीनेमें भी उन्हें बहुत पसीना होता था और बराबर पंखा झलनेकी आवश्यकता पड़ती थी। गर्मी वे नहीं सह सकते।

शीतोष्णसमःका यह अर्थ नहीं है कि भक्तको बम्बई ही रहना चाहिए, जहाँ न अधिक सर्दी पड़ती न अधिक गर्मी और वृन्दावनमें जो रहे, वह भक्त नहीं है। सर्दी-गर्मी दोनों भगवान्के विधानके अनुसार, प्रकृतिके नियमानुसार आती हैं। सर्दी ही बनी रहे गर्मी न आये या गर्मी ही रहे सर्दी न आये, ऐसा हठ करनेसे भगवान्का चिन्तन छूट जायगा। यह किसीके हाथकी बात नहीं है। अपने कमरेको तुम 'एयर कण्डीशन' करके समशीतोष्ण बनाये रख सकते हो; किन्तु रात-दिन उस कमरेमें ही तो बन्द नहीं रहोगे। कमरेसे बाहर नगरमें, बाजारमें भी जाना पड़ेगा। वहाँ सर्दी या गर्मी भी लगेगी। इनको सह लो यही इसका उपाय है।

भक्त जैसे शरीरके मान-अपमानको नहीं देखता, वैसे ही शरीरको सर्दी लगती है या गर्मी, इसकी भी चिन्ता नहीं करता। वह न सर्दीकी आकांक्षा करता है, न गर्मीकी और न ही वह दोनोंको भगा देना चाहता है। बहुत सर्दी लगी तो तनिक आग जलाकर बैठ गये, बहुत गर्मी लगी तो पंखा झल लिया; किन्तु शरीरको

इतनी महत्ता भक्त नहीं देता कि उससे भगवान्का चिन्तन ही छूट जाय।

सर्दी और गर्मी—दोनों ही अवस्थाओंमें भक्त अपने प्रियतम प्रभुके स्पर्शका अनुभव करता है।

सुखदुःखेषु समः सुख और दुःख स्थूल पदार्थ नहीं हैं। मकान, कपड़ा, बर्तन, आदिके समान 'यह सुख' अथवा 'यह दुःख' इस रूपमें कभी नहीं दीखते। सुख-दुःख इदंताके विषय नहीं होते; क्योंकि ये आभासभास्य नहीं हैं, अर्थात् अहंकारके द्वारा इनका ग्रहण नहीं होता। ये साक्षीभास्य हैं, अहंकारके रूपमें ही इनका ग्रहण होता है। 'मैं सुखी अथवा मैं दुःखी' सदा इसी रूपमें सुख-दुःख आते हैं। जीव सुख-दुःख 'अहं'की कारपर चढ़कर आता है।[1]

सुख-दुःख आभास-प्रत्ययके रूपमें हैं, इसलिए ये स्वप्न और जाग्रत्में समान ही रहते हैं। जैसे जाग्रत्में देखे घड़े और स्वप्नमें देखे घड़ेमें अन्तर है। जाग्रत्का घड़ा मिट्टीसे बना है और स्वप्नका घड़ा मनोमय है। ऐसा अन्तर सुख-दुःखमें नहीं है। जाग्रत्का सुख-दुःख जैसा है, वैसा ही स्वप्नका भी है।

जब हम अपने साक्षी स्वरूपको भूलकर आभाससे—अहंकारसे तादात्म्यापन्न होते हैं, तब 'अहं सुखी' 'अहं दुःखी' इत्याकारक अभिमान करनेपर ही हमें सुख-दुःखका अनुभव होता है। जिसमें अभिमान नहीं है, उस सुख-दुःखका अनुभव भी नहीं होगा।

कोई बहते जलको अपना कहे तो यह क्या है ? अरे, जल तुम्हारा कैसे हो गया ? तुमने जलको बनाया तो था नहीं। नदीसे

---

१. इसका विवेचन सत्साहित्य-प्रकाशन ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित (प्रथम संस्करण) 'सांख्य योग' (द्वितीय अध्यायका प्रवचन) में 'मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय'(पृष्ठ ८७)एवं 'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः'(पृष्ठ २९८)की व्याख्यामें देखिये।

या कुएँसे तुमने जल भर लिया। तुम्हारे लोटेमें आजानेसे तुम्हारा हो गया? इसी प्रकार यह पृथिवी, वायु, अग्नि, आकाश आदि सब ईश्वरके बनाये हैं। इस सम्पूर्ण सृष्टिमें ऐसा कुछ भी नहीं है जो 'मेरा' कहने योग्य हो।

एक मनुष्यने भाँग पी ली। उसे भंगके नशेमें यह प्रतीत हुआ कि मैं नदीके दूसरे तटपर घरसे दूर पड़ा हूँ। वह चिल्लाने-रोने लगा कि मोटर लाओ, नदीमें नौका इस पार बुलाओ और मुझे घर पहुँचा दो। अब उसका दुःख मिटानेको क्या तुम मोटर और नौका मँगाओगे? वह मोटर या नौका मँगानेसे सुखी नहीं होगा। घरमें तो वह है ही। उसका दुःख मिटानेके लिए उसका नशा उतरे, ऐसा उपाय करना है। नशा उतरनेपर वह देखेगा कि मैं तो अपने घरमें ही हूँ।

ऐसे ही सच्चिदानन्दघन परमात्माका अंश यह जीव 'मैं-मेरा'के नशेमें है। इसे अविद्याका नशा चढ़ा है। अज्ञानकी मूर्च्छामें है, यह नशा उतरे बिना यह सुखी नहीं होगा।

मैंने एक पागलको निकटसे देखा। उसके आँगनसे एक बाँसका ऊपरी सिरा दीखता था। पागल बार-बार चिल्लाता—'वह! वह चुड़ैल बाँसके ऊपर बैठी है।' उसके घरके लोगोंने वह बाँस काट दिया। उसके बाद पागल चिल्लाने लगा—'वह घरकी मुंडेरपर बैठी है।' अब घरकी मुंडेर गिराओ। इस रीतिसे पागलके साथ पागल बनकर बाँस काटने, घरकी मुंडेर गिरानेसे तो उसका पागलपन मिटेगा नहीं। उसके दुःखकी जड़ तो उसके रोग—उसके पागलपनमें है। उसका रोग मिटे तो दुःख दूर हो।

'मैं सुखी-मैं दुःखी' यह 'अहं' अपने स्वरूपको न जाननेके कारण आभासमात्र वस्तुसे तादात्म्य करके होता है। भक्त आभास-से एक नहीं होता। वह अपने 'मैं'को न देखकर केवल परमात्माको

देखता है। अतएव उसे पूरा संसार और संसारके सब सुख-दुःख दीखते नहीं और दीखते भी हैं तो वह उन्हें जादूके खेलके समान असत् अथवा भगवान्‌की लीला देखता है।

सङ्गविवर्जितः संगका अर्थ है आसक्ति। भक्त कहीं संसारमें शरीरमें या अन्तःकरणमें आसक्ति करके बँधता नहीं है। उसका संग, उसकी आसक्ति तो एकमात्र भगवान्‌में ही है। वह सदा भगवान्‌के साथ ही रहना चाहता है।

संगका अर्थ है साथ होना। भगवान्‌ने गीतामें कहा—

संगात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते।
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

२.६२-६३

किसीका साथ करो, चाहे शरीरसे किसीके साथ रहो या मनसे किसीका चिन्तन करो तो उसे पानेकी इच्छा हो जायगी। शरीरसे साथ रहना ही संग नहीं है। रहनेको तो लोग शत्रुके पड़ोसमें भी रह लेते हैं, अपने द्वेषीके साथ भी यात्रा कर लेते हैं। संगका अर्थ है प्रियबुद्धसे वस्तु या व्यक्तिका चिन्तन। जब प्रियबुद्धिसे किसीका चिन्तन करोगे तो उसे पानेकी इच्छा-कामना होगी।

यदि वह अभिलषित वस्तु मिल गयी तो उसे और पाने, अधिक समय तक पास रखनेका लोभ होगा—'लोभाल्लोभः प्रवर्धते।' उसके मिलनेमें बाधा पड़नेपर अथवा प्राप्त वस्तुके छिन जानेकी सम्भावना होनेपर क्रोध आयेगा। उससे विवेक नष्ट हो जायगा और विवेक नष्ट होनेपर स्मृतिमें विभ्रम होता है; यह ठीक या यह ठीक नहीं, यह पता नहीं लगता। स्मृति-विभ्रमसे बुद्धि नष्ट होगी, वह कुछ नहीं सोच पायेगा। बुद्धिका नाश ही सर्वनाश है। उसका पतन निश्चित है।

इस प्रकार संग राग-द्वेष, सम्मोह, स्मृतिभ्रंश, बुद्धिनाशसे सर्वनाशपर्यन्त पहुँचा देनेवाला है। संसारमें किसी वस्तु या व्यक्तिके साथ आसक्ति दुःख ही देती है; क्योंकि जिसे चाहोगे वह मरेगा। उसे तो नष्ट होना है, वियुक्त होना है। इसलिए साधकको कहीं भी आसक्ति नहीं करनी चाहिए। ज्ञानी भक्तका तो यह स्वभाव है। उसकी आसक्ति भगवान्‌में इतनी सुदृढ़ होती है कि अन्यकी आसक्ति उसमें आती ही नहीं। वस्तुतः उसकी दृष्टिमें भगवान्‌से अतिरिक्त कोई वस्तु ही नहीं है। सर्वत्र, सर्व रूपमें एक प्रियतम प्रभु ही लीला कर रहे हैं। अतः वह उनकी भक्तिमें ही तन्मय रहता है।

तुल्यनिन्दास्तुतिः जब कोई निन्दा करता है तो वह हमारे किन्हीं सच्चे या झूठे दोषोंका ही वर्णन करता है। यदि उसने सच्चे दोष बतलाये हैं तो उपकार किया है, उन दोषोंको दूर करनेके लिए सावधान किया है। यदि उसने झूठे दोष हममें बताये हैं, तो भी हमारे अहंकारको घटाया ही है। इसलिए निन्दा करनेवाला हमें ऊपर उठाता है—

मन्निन्दया यदि जनः परितोषमेति
नन्वप्रयत्नसुलभोऽयमनुग्रहो मे।

हम जिसकी निन्दा करते हैं, दूसरा उसीकी स्तुति करता है। हम जिसकी स्तुति करते हैं, दूसरा उसीकी निन्दा करता है। एकने कहा—'तुम्हारे शरीरमें तो मल-मूत्र भरा है।' अब उसपर बिगड़ो, डण्डा लेकर पीछे पड़ो उसके, तो लड़ाई होगी; राग-द्वेष बढ़ेगा। तुम उसकी बात सुनकर कहो—'हम भी बचपनसे यही सत्संगमें सुनते आये हैं, दूसरोंसे कहते हैं और समझते भी हैं कि शरीर मल-मूत्रकी थैली है। आपकी बात ठीक है। यह शरीर तो निन्दनीय है ही। यह माता-पिताके रज-वीर्यसे—गन्दगीसे बना,

गन्दगीमें पेटके भीतर रहा, इसके भीतर गन्दगी ही भरी है। इसके सब उपादान गन्दे हैं और इससे मल-मूत्र, पसीना-थूक, रक्त-मांस, नख-केश जो बाहर निकले, वही गन्दा। यह तो सर्वथा निन्दनीय है।'

अब हुआ यह कि वह निन्दक तुम्हारी बातका अनुमोदक-मात्र रह गया और यदि आत्माकी वह निन्दा करे, तो यह सम्भव नहीं है; क्योंकि आत्मा तो दो नहीं है। तुम्हारा उसका आत्मा तो एक ही है। अतः अपनी निन्दा कोई कैसे करेगा—

शरीरं यदि निन्दन्ति सहायास्ते जना मम।
आत्मानं यदि निन्दन्ति स्वात्मानं स्वयमेव हि॥

—जीवन्मुक्तिविवेक.

कभी-कभी सत्पुरुष भी किसी स्वजनकी प्रशंसा या निन्दा करते हैं; किन्तु उनका तात्पर्य निन्दा या स्तुति करना नहीं होता। वे यदि किसीको 'भक्तराज' कहते हैं और वह भक्त नहीं है, कृपण-बेईमान-लोभी है तो सत्पुरुष यह चाहते हैं कि वह अपने दोष त्यागकर भक्त बने। वे जिसकी स्तुति करते हैं—उसमें वे गुण देखना चाहते हैं, जो बता रहे हैं। अतः उनकी प्रशंसासे गर्वमें न आकर उनके द्वारा निर्दिष्ट गुणोंको अपनेमें ले आनेका प्रयत्न करना चाहिए। इसी प्रकार जब वे किसीकी निन्दा करते हैं तो चाहते हैं कि उसका अभिमान नष्ट हो और वह अपने दोषोंको जान-समझकर त्यागे। तो सत्पुरुष न तो द्वेष भावसे किसीकी निन्दा करते और न चाटुकारी करनेके लिए किसीकी प्रशंसा ही करते हैं।

तुम किसीकी जिह्वा नहीं पकड़ सकते। लोगोंको न तो तुम निन्दा करनेसे रोक सकते हो न प्रशंसा करनेसे। वे तो अपने संस्कारके अनुसार दूसरोंको देखते और उसीके अनुसार निन्दा या स्तुति करते हैं। संसारमें ऐसा कोई नहीं हुआ या है, जिसकी

निन्दा लोगोंने न की हो और बुरे-से-बुरे व्यक्तिके भी कुछ प्रशंसक निकल ही आते हैं। मर्यादापुरुषोत्तम, धर्मके परमादर्श श्रीरामकी भी लोगोंसे निन्दा की। गोस्वामी तुलसीदास जैसे परम भक्तने भी रामचरितमानसमें संकेत किया है—

सिय निन्दक अघ ओघ नसाये।

अयोध्याके लोग सतीशिरोमणि श्रीजनकनन्दिनाजीकी निन्दा करते थे कि वे रावणके यहाँ रही हैं। उनके सतीत्वपर शंका करते थे और श्रीरामकी निन्दा उन्हें स्त्रीजित कहकर करते थे। श्रीकृष्णचन्द्रकी निन्दा तो लोग अबतक करते हैं। धर्मराज युधिष्ठिरकी लोग निन्दा करते हैं कि वे जुआरी थे। संसारके लोग तो ईश्वर तककी निन्दा करते हैं, उन्हें भी दोष लगाते हैं। अतः तुम कैसे आशा कर सकते हो कि तुम्हारी निन्दा नहीं करेंगे। तुम चाहे जितने सद्‌गुणी बन जाओ, निन्दा करनेवाले तुम्हें छोड़ नहीं सकते।

निन्दा कौन करता है? जो पीछे होता है। मनुष्य अपनेसे आनेवालेकी निन्दा करता है। जो बल, बुद्धि, धन, पद, परिवार, यश, दान, त्याग आदिमें तुमसे पीछे है, वही तुम्हारी निन्दा करेगा। भगवान्‌के हृदय में धर्म और पीठमें अधर्मका स्थान है। पुरुषका भी उन्होंने अपने-जैसा ही बनाया है। धर्म हृदयमें और अधर्मकी गहरी पीठपर। अतः जो तुमसे आगे हैं, वे तो लौटकर तुम्हारे दोष देखेंगे नहीं; जो तुमसे पीछे हैं, उन्हें तुम्हारे अधर्म, अवगुण, त्रुटियोंकी गठरी ही दीखती है। मनुष्य अपनेसे आनेवालेसे ही ईर्ष्या, स्पर्धा, घृणा, द्वेष करता है।

निन्दासे किसीको कोई वास्तविक हानि नहीं होती। लोकमें तो भले व्यापारीकी निन्दासे उसकी साख गिरती हो और राज-

नैतिक नेताकी निन्दासे उसके पदके छिन जानेका भय हो; किन्तु परमार्थके साधककी निन्दासे कोई हानि नहीं होती। निन्दा तो उसे अपने दोषोंसे सावधान करके तथा उसके अभिमानको घटाकर ऊपर ही उठाती है।

परमार्थके साधकको अपनी स्तुतिसे सावधान रहना चाहिए; क्योंकि यदि उसे तुमने अपनी मान लिया तो अभिमान बढ़ेगा। स्तुति करनेवाले नीचे ही गिराते हैं। प्रतिष्ठा शूकरी विष्ठा साधकके लिए सुअरकी विष्ठाके समान प्रतिष्ठा त्याज्य है।

प्रायः स्त्रियाँ प्रशंसा करनेवालोंके ही जालमें पड़कर गिरती हैं। बहुधा कामुक लोग उनके सौन्दर्य, वाणी, गति आदिकी प्रशंसा करते हैं और वे उनकी कपटपूर्ण प्रशंसासे अभिमानमें आकर वास्तविकता भूल जाती हैं। इससे प्रशंसकोंके प्रति आकर्षण बढ़ जाता है। उच्च पदाधिकारियों तथा नेताओंको भी उनके प्रशंसक ही कर्तव्यच्युत करते हैं। प्रशंसा करके वे अपना काम करा लेते हैं और ऐसा करनेमें अनेकोंके साथ अनजानमें ही अन्याय हो जाया करता है।

इससे बचनेका उपाय है कि स्तुतिको अपनी मत मानो। सद्गुण जितने हैं, वे तो भगवान्‌के हैं। शरीरमें कोई सद्गुण नहीं है। भगवान्‌से ही सद्गुणोंका यत्किञ्चित् प्रकाश व्यक्तिमें दिखायी देता है। अतः कोई तुमको धर्मात्मा कहे तो यह देखो कि धर्म तो भगवान्‌में रहता है। इसलिए धर्मस्वरूप, धर्मकी आत्मा तो भगवान् ही हैं। यह तुम्हारे भीतर बैठे अन्तर्यामीकी स्तुति की गयी है। कोई तुम्हें परोपकारी कहे तो यह देखो कि सर्वत्र हिततत्त्वके रूपमें तो प्रभु व्यापक हैं। वे सबका भरण-पोषण-रक्षण करनेवाले हैं। स्वयं अपने कर्मफलके अधीन

पुरुष दूसरेका हित क्या करेगा ? कोई तुम्हें दयालु कहे तो देखो कि दया तो नित्य परमात्मामें ही निवास करती है।

इस प्रकार जब कोई स्तुति करे तो वह अपनी स्तुति करता है, यह अभिमान मत करो। वह प्रभुकी स्तुति करता है, यह देखो और जब कोई निन्दा करता है तब भी वह तुम्हारी निन्दा कहाँ करता है ? वह तो निन्दा करता है देहको, अविद्याकी। भक्त वह है, जो निन्दा-स्तुति दोनोंसे ऊपर उठ गया है। दोनोंको अपनेमें नहीं जोड़ता।

मौनी लोग निन्दा-स्तुति किये बिना माननेवाले तो हैं नहीं। चाहे जैसे रहो और चाहे जहाँ जाकर रहो, प्रशंसा-निन्दा करने-वाले सबको, सर्वत्र मिल जाते हैं। तब इससे बचनेकी उपाय ? चुप रहो। दोनोंको अपनेमें स्वीकार मत करो। गीतामें मौनको मानस तप कहा है—

> **मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।**
> **भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥** १७.१६

मनको प्रसन्न रखो। बार-बार मनमें दुःख आना तमोगुणका लक्षण है। बार-बार भीतरसे आनन्दकी हूल उठे। आनन्द छलके चित्तमें। सोम—चन्द्रमाके समान मुख प्रसन्न रहे। मुखपर और चित्तमें उग्रता न हो। मौन रहे। मन-इन्द्रियाँ वशमें रहें; क्योंकि बार-बार मनमें भोगेच्छाका आना रजोगुणका लक्षण है। चित्तका भाव शुद्ध हो। छल-कपट, ईर्ष्या-द्वेष, काम-क्रोध-लोभादि मनमें न हों—यह मानस तप है।

यहाँ भगवान् किस अर्थमें 'मौन'का प्रयोग कर रहे हैं ? परमात्मतत्त्वका मनन करना मौन है या एकदम बोलना बन्द कर देना मौन है अथवा कभी-कभी सप्ताहमें, महीनेमें या दिनमें कुछ समय बोलना बन्द रखना मौन है ? इसे समझनेके लिए कुछ बातें

समझना चाहिए। मनका स्वभाव बड़ा विचित्र है। कोई अपनी निन्दा करता है, तब चुप नहीं रह जाता और कोई प्रशंसा करता है, तब भी बोलनेकी इच्छा होती है। भले हो उसकी प्रशंसाको अस्वीकार करके नम्रतासूचक शब्द ही बोलनेकी इच्छा हो।

कोई निन्दा करे तो लोग एककी चार सुनानेकी इच्छा करते हैं। एक दिन एकपर कोई दोष लगा। वह मेरे पास आये और बोले—'जिसने मुझमें दोष देखा है, उसमें ऐसे और इससे भी बड़े बहुत दोष हैं।'

उनके ऐसा कहनेसे यह तो सिद्ध नहीं हुआ कि उनमें यह दोष नहीं है। यह तो प्रतिपक्षीपर दोषोंका प्रत्यारोपण हुआ। दूसरे प्रकारके व्यक्ति हैं जो दोष लगनेपर अपनी निर्दोषिता सिद्ध करनेके लिए युक्तियाँ देते हैं। भक्त न दोषका प्रत्यारोपण करता और न अपनेको निर्दोष बनानेके लिए युक्ति तथा प्रमाण देता है। वह मौन रहता है; क्योंकि दोष लगानेवाला देहको ही तो दोष लगाता है। भक्त देहको 'मैं' नहीं मानता। निन्दा हो या स्तुति, चुप रहना चाहिए। निन्दामें कुछ सचाई हो तो उस दोष-को दूर करना चाहिए और स्तुतिको भगवान्‌की मानना चाहिए। उपनिषद्‌में मौनके विषयमें आया है—

पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्।
बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ
मुनिरमौनं च मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः।

—बृह० उप० ३.५.१

पहली बात यह कि मनुष्यको सबसे पहले पण्डित बनना चाहिए। वेदान्त-श्रवण करके श्रुतिका तात्पर्य निर्धारण करे; इसके पश्चात् विद्याका अभिमान छोड़कर बालकके समान सरल भावसे रहे—**ज्ञानबलभावेन तिष्ठेत्।** श्रवण किये तत्त्वका मनन

करके संशयको निवृत्त करे। तब उस सरल भावको भी त्यागकर शान्त हो जाय। मनन किये तत्त्वमें स्थित हो—निदिध्यासन करे। श्रुति कहती है—

वृक्षमिव तिष्ठासेच्छिद्यमानोऽपि न कुप्येत् न कम्पेतोत्पल-मिव तिष्ठासे—च्छिद्यमानोऽपि न कुप्येत न कम्पेताकाशमिव तिष्ठासेच्छिद्यमानोऽपि न कुप्येत न कम्पेत्यादि।

—सुवालोप० १३.२

पत्थरको भाँति—वृक्षकी भाँति हो जाय। कोई सताये, मारे, काटे, तो भी न क्रोध करे और न पीड़ासे काँपे। इसके पश्चात् मौन और अमौन, शान्ति और विक्षेप दोनोंसे ऊपर उठकर ब्रह्म-ज्ञानी होता है।

एक महात्माने एक वर्षका मौन रखा। जब मौनकी अवधि एक महीना शेष रह गयी तो अपने समीप जानेवालोंसे लिखकर वे प्रायः पूछते—'मौनकी समाप्तिपर मुझे पहले कौन-सा शब्द बोलना चाहिए?' मौनके समयमें उन्होंने अपने सब भक्त-प्रेमी लोगोंके नामसे उन-उन लोगोंके भावानुसार भगवान्‌की प्रार्थनाके एक-एक पद लिखे। यह क्या मौन हुआ? मौनके समय अपना भगवान्‌से क्या भाव है, यह तो भूल गया और दूसरोंका क्या भाव है, उन्हें कैसे प्रार्थना करनी चाहिए, यह सोचनेमें दूसरोंका ही चिन्तन होता रहा। मौनकी समाप्ति किस शब्दसे हो, समाप्तिपर क्या और कैसे उत्सव हो, यह चिन्तन चलता रहा।

मैं कई मौनी लोगोंके सम्पर्कमें रहा हूँ। मुखसे भले न बोलें, कागजपर लिख-लिखकर दिन भर बात की जाती है। हाथ भी कर्मेन्द्रिय है और वाणी भी कर्मेन्द्रिय है। जब मनमें आयी हुई बात प्रकट कर ही दी गयी तो वह वाणीके स्थानपर हाथसे

लिखकर की गयी; यह तो मौन नहीं हुआ। मौनका तात्पर्य है परमात्मासे मिलना। उपनिषद्में आया है—

तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्।

—बृहदा० उप० ४.३.२१

जैसे कोई युवा व्यक्ति अपनी प्रिय पत्नीके आलिंगनमें आबद्ध होकर इतना मग्न हो जाता है कि उसे बाहर क्या हो रहा है, कौन कहाँ क्या कर रहा है, इसका कुछ पता नहीं रह जाता और चित्तके भीतर भी कोई हलचल नहीं रहती; वैसे ही मौन है भक्तका भगवान्में इतना तन्मय हो जाना कि बाह्य संसारका पता न रहे और चित्तमें भी कोई संकल्प-विकल्प न उठे।

भक्तका मौन वाणीसे सर्वथा चुप हो जाना नहीं है। यहाँ 'मौन' भक्तका लक्षण कहा गया है। भगवान्का गुणानुवाद छूट जाय, भगवन्नाम लेना छूट जाय, ऐसा मौन उसे इष्ट नहीं है। जंगली क्षेत्रमें जीभमें छेद करके उसमें कील ठोंक लेनेवाले मौनी मैंने देखे हैं। ऐसा मौन भक्तको इष्ट नहीं है। ज्ञानी भक्तका मौन है—**मन मस्त हुआ तब क्यों बोले।**

किसीने प्रशंसा की तो और किसीने निन्दा की तो दोनोंको अपने लिए अग्राह्य मानकर चुप हो गये। कोई बलवान् कुत्ता आक्रमण करे तो दुर्बल कुत्ते पूँछ दबाकर खिसक जाते हैं। निन्दा-स्तुति बलवान् कुत्तोंका आक्रमण है। इनमें बोलनेसे चोट लगेगी—गिरना होगा। यहाँ मौन होकर खिसक जाना ही उत्तम है। सावधानी इतनी रखनी है कि दूसरेके घरमें न घुसा जाय और जंगलमें न भागा जाय। अपने प्रभुके पास भाग आया जाय। दूसरेके गुण-दोष देखने लगे तो दूसरेके घरमें घुसे और संसारके

कार्यमें लगे तो जंगलमें भटक गये। यह दोनों न करके हृदयमें स्थित प्रभुके पास चले जाओ! अन्तर्मुख हो जाओ।

श्रीस्वामी विद्यारण्यजीने गो-पश्वादिवत् मौनका आदर्श बतलाया है। जैसे गाय-भैंस बिना प्रयोजन नहीं बोलती हैं, वैसे जब सचमुच प्रयोजन हो तभी बोले। बोलनेका तात्पर्य है, अपने हृदयकी बात दूसरेतक पहुँचाना। अतः यह देखना चाहिए कि कब, क्या, किससे, कैसे और किस प्रयोजनसे बोलना चाहिए। किसीके यहाँ कोई मरा है तो उस समय उत्सवका समाचार देना उपयुक्त नहीं है। भोजन करते हुए व्यक्तिसे अपनी पेचिशकी बीमारी बताना ठीक नहीं है। क्या बात कहने योग्य है और क्या नहीं, यह भी देखना पड़ता है। किससे क्या कहना चाहिए, यह भी विचार करना पड़ता है। जो व्यापारीके सम्बन्धमें राय लेने आया है, उसे वैराग्यकी बात सुनाने लगे और तत्त्वके जिज्ञासु विरक्तको समाचारपत्रके सम्वाद सुनाओ तो यह नासमझी मानी जायगी। निरर्थक, अनाप-शनाप बोलना भी मूर्खता है। एक ही बात नम्रतासे कही जा सकती है। और साधारण बात भी रूक्ष ढंगसे कही जा सकती है। अतः बोलनेका ढंग भी आना चाहिए। जब बोलना आवश्यक हो तभी बोलना चाहिए। सत्य कहो, थोड़े शब्दोंमें कहो, उपयुक्त समयपर उपयुक्त व्यक्तिसे बोलो और प्रिय तथा हितकर बोलो—**सत्यं हितं मितं ब्रूयात् अविसंवादि-पेशलम्**। सत्य, हितकर, संक्षिप्त, विवादरहित और मधुर—यह वाणीके पाँच भूषण हैं।

जब दो व्यक्ति बोल रहे हों तो बीचमें तीसरा बोल पड़े, किसी सत्संगमें या अन्य चर्चामें इसलिए बोल उठे कि स्वयंको भी यह बात ज्ञात है, ऐसा करना अनुचित है। अपनी गुणख्यातिके लिए कभी नहीं बोलना चाहिए। मौनी वह है जो आवश्यक

होनेपर ही बोले और ठीक समयपर, उपयुक्त व्यक्तिसे, कम-से-कम शब्दोंमें, सत्य, प्रिय तथा हितकर बात ही बोले।

भक्त वह है जिसका मन परमात्मामें ही लगा रहता है। अपने स्वार्थके लिए अथवा किसीको कष्ट देनेके लिए, किसीके अहितके लिए जो कभी कुछ नहीं बोलता। वह भगवद्गुणानुवाद, भगवन्नाम अथवा सर्वरूप भगवान्‌की सेवाके लिए ही वाणीका विनियोग करता है।

सन्तुष्टो येनकेनचित् भक्तिमें इसका गम्भीर अभिप्राय है। धर्मात्मा कहता है कि तुम धर्मका मूल्य देकर सन्तोष प्राप्त कर सकते हो। अर्थात् यज्ञ, दान, तप करो तो उसके फलस्वरूप चित्तमें सन्तोष आयेगा। योगी कहता है कि असन्तोषके दो ही कारण हैं—चोरी करना और आवश्यकतासे अधिक संग्रह करना। जब कोई चोरी, बेईमानी करता है तो उसे पकड़े जानेका भय होता है। इससे असन्तोष होता है। जब अपने पास बहुत संग्रह होता है, तो उसके छीने जाने, चुराये जाने, ठगे जानेका भय होता है! योगीका कहना है कि धारणा, ध्यान करके समाधि प्राप्त करने—अपने स्वरूपमें स्थित होनेका प्रयत्न करोगे तो ये सांसारिक वस्तुएँ जिन्हें तुमने न्याय-अन्यायसे एकत्र कर लिया है, तुम्हारे मनको बाहर खीचेंगी। जबतक उनको अधिक पानेका लोभ है, उनके नष्ट होनेका भय है, वे बनी रहें—ऐसा मोह है, तबतक मन अन्तर्मुख होकर एकाग्र नहीं होगा। तबतक चित्त-वृत्तिका निरोध नहीं हो सकता। अतएव सन्तोष करना पड़ता है कि ये रहना हो तो रहें, जाना हो तो जायँ, मिटना हो तो मिटें।

सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः।

यदि जीवनमें सन्तोष आगया तो अनुत्तम—सर्वश्रेष्ठ सुख मिलेगा। यह योगीके सन्तोषका स्वरूप है। वेदान्ती केवल निषेध

पक्ष नहीं रखते—आत्मन्येवात्मना तुष्टः अपने-आपमें अपने-आपसे सन्तुष्ट—अपनेसे भिन्न कुछ है ही नहीं, अविद्याकी निवृत्ति हो गयी, नाम-रूपात्मक प्रपञ्च प्रतीत होनेपर भी बाधित हो गया; अब अपनेसे भिन्न कुछ है ही नहीं, अतः असन्तोषका कारण ही नहीं है।

संसारी पुरुष स्त्री-पुत्र, धन-भवन, पद-प्रतिष्ठा प्राप्त करके सन्तुष्ट होता है। धर्मात्मा धर्माचरण करके सन्तुष्ट होता है। वेदान्ती शुद्ध सात्त्विक अन्तःकरणमें कर्ता-भोक्तापन तथा वासनासे रहित जो आत्मतत्त्व प्रतिबिम्बित है, अन्तःकरणके सम्पर्कसे जो स्फुरित होता भासता है, उसमें सन्तुष्ट है। महात्माके वर्णनमें आया है—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥ २.१७

धर्मात्माको सन्तोष-प्राप्तिके लिए यज्ञ, दान, तप करना पड़ता है। उसमें सामग्री, उपयुक्त पात्र आदि बहुत-सी अपेक्षा है। योगी तथा साधकके लिए भी साधनकी उपयुक्त स्थिति, स्वस्थ शरीर, निरुपद्रव परिस्थिति अपेक्षित है। ज्ञानके लिए भी अन्तः-करणकी शुद्धिके लिए साधन चतुष्टय—श्रवण, मनन, निदिध्यासन अपेक्षित हैं; किन्तु भक्तका सन्तोष इन सबसे विलक्षण है। वह **येनकेनचित्** चाहे जैसी परिस्थिति हो, चाहे जैसा स्थान हो, चाहे जैसा समय हो, चाहे जैसी वस्तु या व्यक्ति मिले, चाहे जैसी शरीर, इन्द्रिय, चित्तकी अवस्था हो, सबमें सन्तुष्ट रहता है।

धर्मात्मा बाहर धर्मानुष्ठान करके सन्तोष प्राप्त करता है। उसका सन्तोष बाहरसे आता है। योगी चित्तवृत्तिनिरोध करके भीतर सन्तुष्ट होता है। ज्ञानी बाहर-भीतरके भेदका बाध करके अपने स्वरूपमें सन्तुष्ट है और भक्त बाहर तथा भीतर दोनों ही

स्थानपर भगवान्‌को ही देखता है, भगवान्‌में सन्तुष्ट है। सब आचार्य इस विषयमें एकमत हैं कि जगत्‌के रूपमें ईश्वर ही है। ईश्वर स्वयं ही जगत् बन गया है। भक्त एक ओर तो अपने हृदयमें अन्तर्यामी परमात्मा श्रीनारायणको देखकर सन्तुष्ट है। **सन्तुष्टः सततम्**से यही बताया गया है। दूसरी ओर व्यवहारमें जो भी वस्तु या व्यक्ति उसके सामने आता है, उसमें भक्तको यही लगता है कि 'मेरा प्रभु ही इस रूपमें आया है।'

यच्च किञ्चिज्जगत्यस्मिन् दृश्यते श्रूयतेऽपि वा।
अन्यर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः॥

—महाना० उप० ११.६

जो कोई वस्तु दिखायी देती या सुनी जाती है, उस सबके बाहर-भीतर भगवान् नारायण व्याप्त हो रहे हैं। अतः भक्त **येनकेनचिद् वस्तुना, येनकेनचिद् व्यक्तिना, येनकेनचित् कर्मणा सन्तुष्टः** चाहे जिस किसी वस्तु, व्यक्ति तथा कर्मसे सन्तुष्ट रहता है।

जगत्‌के अभिन्न निमित्तोपादान कारण रूपमें, अन्तर्यामी रूपमें और सर्व वस्तु-व्यक्ति रूपमें भी भक्त अपने प्रभुको ही देखते हैं। अतः **येनकेनचिद् भगवतो रूपेण सन्तुष्टः** भगवान् चाहे जो रूप धरकर आयें, उन्हें पहचान लेते हैं और सन्तुष्ट रहते हैं।

मेरे परिचित एक भक्तराज थे। वे एक दिन सरोवरमें स्नान करने उतरे। उनके साथके लोग तो स्नान करके बाहर आगये; किन्तु वे जलसे निकलें ही नहीं। इधरसे उधर तैरें, जल-उछालें डुबकी लगायें, हँसे और कभी-कभी रोयें भी; किन्तु जलसे निकलें ही नहीं। उनके सेवकोंने पहले तो पुकारा, कहा और फिर पकड़-कर जलसे निकाला। बादमें पूछनेपर उन्होंने बताया कि उन्हें जलमें श्रीराधाकृष्ण परस्पर जल-क्रीड़ा करते दीख रहे थे। वे

दम्पती परस्पर जल उछालते थे, तैरकर एक दूसरेको छूते, कभी डुबकी लगाते और हँसते थे। श्यामसुन्दर कभी देर तक डुबकी लगाये रहते तो श्रीराधारानी व्याकुल होकर रुदन करने लगतीं। जैसी-जैसी क्रीड़ा वे दिव्य दम्पती करते थे, ये भक्तराज भी उसमें वैसा ही करते थे। उनके भी अंगपर जल उलीचते, उन्हें स्पर्श करनेको तैरते, डुबकी मारते, उनके साथ हँसते और श्रीजी रुदन करतीं तो ये भी रोते थे। उस समय इन्हें संसारका पता ही नहीं रह गया था।

एक भक्त वनमें गये तो दिन भर वहाँ खेलते रह गये। उन्हें दीखता कि भगवान् अभी इस वृक्षपर बैठे थे, अब उस अगले वृक्ष-पर बैठे वंशी बजा रहे हैं। हरिण दीखा तो 'हरि हरि' बोलकर नाचने लगे। शीतलवायु देहसे लगी तो—'यह मेरे प्रभु मुझे स्पर्श कर रहे हैं; स्मरण करके भावमग्न हो गये। भक्त प्रत्येक समय, प्रत्येक वस्तुका प्रभुसे सम्बन्ध जोड़कर सन्तुष्ट रहता है।

अनिकेतः शब्दका अर्थ आचार्योंने भिन्न-भिन्न प्रकारसे किया है। क्योंकि अनिकेतका अर्थ है गृहहीन और यदि ऐसा सीधा अर्थ अभिधावृत्तिसे ही करें तो यह लक्षण केवल गृहत्यागी संन्यासी-साधुमें ही घटित हो सकता है। श्रीशंकराचार्यजीने सीधा अर्थ ही किया है।

श्रीरामानुजाचार्यके विद्यागुरु श्रीयादवप्रकाशजीने अपनी गीताकी टीकामें **अद्वेष्टः सर्वभूतानाम्** इस तेरहवें श्लोकसे लेकर सत्रहवें श्लोक पर्यन्त तकके लक्षणोंको सर्वमान्यके लिए माना है और **समः शत्रौ च मित्रे च**से लेकर **तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी** आदि ये दो श्लोक गृहत्यागी विरक्तके लक्षण माने हैं।

श्रीशंकराचार्यजी यहाँ सब श्लोकोंमें ज्ञानीभक्तका ही वर्णन है, ऐसा मानते हैं। अतः वे 'अनिकेत'का अर्थ करते हैं, विचरण

करते रहनेवाला। ऐसा विरक्त जो कहीं मकान या झोपड़ी न बनाये, पृथिवीमें किसी स्थानको 'मेरा' कहकर उससे बँधे नहीं। महाभारतमें आया है—

येनकेनचिदाच्छन्नो येनकेनचिदाशितः।
यत्र क्वचनशायी च तं देवा ब्राह्मणं विदुः॥

चाहे जैसा वस्त्र मिला, उससे शरीर ढँक लिया। सफेद-लाल पीला-नीला, हरा-काला, अमुक रंगका ही वस्त्र पहनना ऐसा कोई आग्रह नहीं है। नया-पुराना, फटा-नफटा, उजला-मैला वस्त्र चाहे जैसा हो, शीतनिवारणके लिए काममें ले लिया। जिसने जो खिला दिया, खा लिया। यह खाना, यह न खाना, ऐसा कोई आग्रह नहीं। किसी रस, स्वादकी अपेक्षा नहीं। जंगल हो या नगर, भवन हो या श्मशान, शैया हो या शिला, जहाँ नींद आयी, वहीं सो गये—ऐसा जो अवधूत है, उसे देवता ब्रह्मज्ञानी जानते हैं। यह महाभारतका श्लोक श्रीशंकराचार्यजीने अपने भाष्यमें उद्‌धृत किया है।

श्रीरामानुजाचार्यजीने अनिकेतःका अर्थ किया है—मकानमें आसक्ति न होना। मकान-दूकान, खेत-बगीचा सब तो रहे किन्तु वह अपने लिए न हो। मकान बनाया तो इसलिए कि उसमें भगवान्‌का श्रीविग्रह पधराकर सेवा करेंगे। खेत या बगीचा इसलिए लगाया कि उसका उत्पादन भगवत्सेवामें लगेगा। व्यापार-दूकान इसलिए कि उसकी आयसे भगवान्‌की अर्चा की जायगी।

पहले महात्माओंमें तितिक्षा बहुत थी इसलिए वे चाहे जैसी ऋतु हो, कहीं भी पड़ रहते थे। लेकिन जब शरीर दुर्बल हो गया, वर्षा-ओले-कुहरेसे, धूपमें भजनमें बाधा पड़ने लगी तो एक छप्पर कहीं डाल लिया, उस छप्परमें जीव-जन्तु आने लगे तो चारों ओर दीवार खड़ी कर ली। वर्षामें भिक्षा करने जाना कठिन हुआ तो

थोड़ा अन्न पासमें रख लिया। ठाकुर-सेवाको दो-चार फूल-तुलसीके पौधे लगा लिये। यहाँ तक ता बात ठीक थी, मर्यादामें थी। लेकिन पूरे वर्ष मकान ही बनवानेमें लगे रहें, यह साधकके लिए उचित नहीं है।

सेठ लोग, राजा लोग तीर्थोंमें मकान बनवाते थे कि वहाँ रहकर भजन करेंगे। लेकिन वर्षों उस मकानको देखने भी नहीं जाते। वहाँ नौकर मकानकी देख-भाल करते हैं। मकान मनुष्यके भजन करनेके लिए बनता है; मनुष्य मकानके लिए नहीं बना है। मनुष्यकी मनुष्यता तब सफल है, जब वह भगवान्का भजन करे। भजन न करे तो वह मनुष्य किस बातका? अतएव उसे कहीं आसक्ति नहीं करनी चाहिए।

न शब्दशास्त्राभिरतस्य मोक्षो न चापिरन्यावसथप्रियस्य।
न भोजनाच्छादनतत्परस्य न लोकचित्तग्रहणे रतस्य॥
एकान्तशीलस्य दृढव्रतस्य पञ्चेन्द्रिया प्रीतिनिवर्तकस्य।
अध्यात्मविद्यारतमानसस्य मोक्षो ध्रुवो नित्यर्माहिसकस्य॥

—महाभारत.

जीवन भर पढ़नेमें लगे हैं—**यावज्जीवमध्येयं व्याकरणम्** जबतक जीयें—व्याकरण पढ़ते रहें तो मोक्ष होगा—ऐसे मोक्ष नहीं होता। खाने-पहननेमें लगे भोगी पुरुषका भी मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती। दूसरोंके घर आने-जाने, देशाटन करनेमें जो रुचि लेते हैं, उनको भी मुक्ति नहीं होती। किसके मनमें क्या भाव है, कौन क्या सोचता या चाहता है, इसी उधेड़-बुनमें लगे व्यक्तियोंको भी मोक्ष नहीं मिलता। मोक्ष निश्चित रूपसे वह पाता है जो अपने शील-सदाचारका पालन करता है, इन्द्रियों तथा मनका निग्रह करके षट् सम्पत्ति अर्जित कर चुका है, किसीको

कष्ट नहीं देता और अध्यात्मविद्याका—वेदान्ततत्त्वका श्रवण करके, मनन-निदिध्यासनके द्वारा उस श्रुततत्त्वका अधिगम करता है।

भक्त तो संन्यासी और गृहस्थ सब हो सकते हैं। भक्तिके लिए संन्यासी होना कोई आवश्यक बात तो नहीं है। सब वर्ण और सब आश्रमोंके लोग भक्तिके अधिकारी हैं। अतः श्रीवल्लभाचार्यजीके सम्प्रदायमें अनिकेतःका अर्थ किया—**आरोप वासुदेवः स्यात्।** 'अ'का अर्थ भगवान्; वही जिसके घर हों अर्थात् भगवान्का मन्दिर ही जिसका घर हो, वह अनिकेत। श्रीमद्भागवतमें आया—

वनं तु सात्त्विको वासो ग्रामो राजस उच्यते।
तामसं द्यूतसदनं मन्निकेतं तु निर्गुणम्॥

११.२५.२५

'वनमें रहना सात्त्विक है, घरमें रहना राजस, जुएखानेमें रहना तामस है और मेरे मन्दिरमें रहना निर्गुणमें रहना है।'

कोई ईमानदार सेवक हो, सेवा करे और उसके रहनेका कोई स्थान न हो; वृक्षके नीचे, नदी-किनारे, चाहे जहाँ पड़ रहता हो तो स्वामी उस सेवकको अपने मकानमें रहनेको कहीं-न-कहीं एक कोना, एकाध छोटी-मोटी कोठरी दे देते हैं। संसारके लोग चाहे जितने उदार हों, उन्हें दूसरोंसे भय, आशंका लगी ही रहती है। अतः सांसारिक स्वामी सेवकको कोई छोटी, एक ओर पड़नेवाली कोठरी ही दे सकता है। लेकिन भगवान् तो उदारशिरोमणि हैं, उन्हें किसीसे भय-आशंका होती नहीं। वे भक्तवत्सल प्रभु जब देखते हैं कि भक्त मेरी सेवा करता है और उसके पास रहनेको स्थान नहीं है, तो उसे अपने मन्दिरमें, अपने निज भवनमें, अपने हृदयमें ही रख लेते हैं। अनिकेतका एक अर्थ यह भी है कि जो सदा भगवान्में ही रहता है वह अनिकेत।

श्रीवल्लभाचार्यजीने लिखा है—

गृहं सर्वात्मना त्याज्यं तच्चेत्त्यक्तुं न शक्यते।
कृष्णार्थं तत्प्रयुञ्जीत कृष्णोऽनर्थस्य मोचकः॥

उत्तम तो यही है कि कहीं अपना घर बनाया ही न जाय। लेकिन ऐसा न हो सके तो उसे भगवान्‌की सेवामें ही लगाये। घरमें उनका श्रीविग्रह स्थापितकर उनकी सेवा करे। भोजनालयमें उनके लिए नैवेद्य बने। स्नान घरमें भगवान्‌की सेवाके लिए स्नान करो। अब यदि कहो कि ऐसा करनेपर भी घरका बन्धन तो बन्धन ही है, उससे अनर्थ तो होता ही है; तो बताते हैं कि श्रीकृष्ण उस अनर्थसे छुड़ा देंगे। भगवान्‌की सेवा करते-करते उनमें प्रीति हो जायगी और उनसे प्रीति होगी तो घर-संसारकी आसक्ति अपने-आप छूट जायगी। घर-परिवार भगवदर्पित हो जायगा। उसमें मोह नहीं रहेगा।

अनिकेतःका अर्थ लोकमान्य तिलकने अनासक्तिपरक किया है। क्योंकि कर्मयोगीका काम तो घरका त्याग करनेसे चलेगा नहीं। अतः तिलकजीका कहना है कि 'घरमें रहो; किन्तु उसमें आसक्ति मत रखो।' श्रीमद्भागवतमें कहा गया—**गृहेष्वतिथिवद् बसेत्**। जैसे हम किसी धर्मशालामें एक-दो दिन रहते हैं और वहाँ समीप रहनेवालोंको 'भाई साहब! चाचाजी!' आदि कह लेते हैं, धर्मशालेके कमरेको 'मेरा कमरा' भी कह देते हैं; किन्तु न तो धर्मशालाको अपनी मानते और न उन समीप रहनेवालोंको अपना 'भाई, चाचा' मानते हैं। इन सबसे हमारा कोई ममत्व नहीं होता, वैसे ही घरमें तथा घरके लोगोंमें ममता-रहित होकर व्यवहार करना चाहिए।

प्रपायामिव सङ्गमः जैसे मार्ग चलते प्याऊपर बैठ गये तो चार आदमी मिल गये। रेलसे यात्रा करनेमें डिब्बेमें पाँच-सातसे

परिचय हो गया। कुछ घण्टे साथ रहे, बात की, भोजन या जलपान साथ कर लिया; किन्तु अपने-अपने स्टेशनपर सब उतर गये, कोई किसीका स्मरण नहीं करता; वैसे ही जीवनकी यात्रामें कुछ लोग मिल गये हैं। प्रारब्धपूर्ण होनेपर सब अपने-अपने कर्मानुसार पृथक् हो जायँगे। इनमें किसीसे आसक्ति करना उचित नहीं है। संसार तो ईश्वरकी एक नाट्यशाला है। इसमें सब अपना-अपना अभिनय करने आये हैं। नाटकमें जो पति या पत्नी बने, यदि उनमें कोई पीछे भी उसीको पति या पत्नी माने तो उसकी नासमझी ही मानी जायगी।

श्रीमद्भागवतमें आया है कि पुत्र तथा अपने पसीनेसे उत्पन्न जीवोंमें अन्तर ही क्या है?

मृगोष्ट्रखरमर्काखुसरीसृप्खगमक्षिकाः ।
आत्मनः पुत्रवत्पश्येत्तैरेषामन्तरं कियत् ॥

—७.१४.९

मनुष्यके शरीरसे पसीना निकलकर खाट या वस्त्रमें बराबर लगता है और वे वस्त्र तथा खाट स्वच्छ न किये जायँ तो पसीनेसे उसमें खटमल, जूएँ उत्पन्न हो जाते हैं। इन्हें क्या कोई अपना पुत्र कहकर इनसे आसक्त होता या ममता करता है? ये भी तो अपने देहसे निकले पसीनेसे उत्पन्न हैं। ऐसे ही पुत्र भी देहसे निकले गन्दे द्रवसे ही उत्पन्न होता है। इनमें ममता करके ही बुद्धि फँस गयी है।

धन भी मनुष्यका अपना नहीं है। जो ग्रास मुखके भीतर चला गया, वह तो शरीरको मिल गया; किन्तु जो सामने परोसी हुई थालीमें है, उसे खानेका अवसर मिलेगा या नहीं, पता नहीं है। एक बार मैं यात्रा कर रहा था। थक गया था और भूखा भी था। चार पूड़ियाँ मिलीं। उन्हें पत्तलपर रखकर ग्रास तोड़ा ही था कि

चली आयी और झपट्टा मारकर चारों पूड़ियाँ ले गयी। अब अपना स्वत्व कहाँ रहा ? संसारमें रहनेवाला कुछ है नहीं। वह शरीर हो या वस्तु; सब जानेवाले—नष्ट होनेवाले हैं।

एक बार मैं ऋषिकेशसे वृन्दावन पैदल आरहा था। साथमें कई लोग थे। उनमें एक-दो ऐसे साथी थे जो केवल ब्राह्मणका छुआ कच्चा भोजन करते थे। इसलिए यह निश्चय किया गया कि ब्रह्मचारी गाँवमें जाकर चावल-दाल ले आयें और यहाँ अपने हाथसे खिचड़ी बनायें। गाँवसे चावल-दाल आगया। मिट्टीका वर्तन उपले सब आगया। जौली नामक स्थानपर, जहाँ नहरें पृथक् होती हैं, हम लोग एक झोपड़ीमें बैठे। बाहर खिचड़ी चढ़ायी गयी। इतनेमें वर्षा प्रारम्भ हो गयी। ब्रह्मचारीने खिचड़ी ढँक दी और यह सोचकर कि अब वह बन जायगी, वर्षासे बचनेके लिए झोपड़ीमें चले आये। थोड़ी दूरसे एक जाटने देखा कि साधुओंकी खिचड़ी भींग रही है तो वह दौड़ा-दौड़ा आया और दोनों हाथोंसे खिचड़ीका बर्तन उठाकर झोपड़ीमें लाकर उसने धर दिया। खिचड़ी तो काममें आगयी; किन्तु जो लोग केवल ब्राह्मणका छुआ खाते थे, उन्हें भूखा रहना पड़ा। इस प्रकार थालीमें परोसा हुआ भोजन अपना नहीं होता। अपना उत्पन्न किया पुत्र या तो पहले ही चला जाता है या कृतघ्न हो जाता है। व्यर्थ 'मेरा-मेरा' करते जीवन नष्ट हो जाता है।

कंकड़ चुन-चुन महल बनाया लोग कहें घर मेरा।
ना घर मेरा ना घर तेरा चिड़िया रैन बसेरा॥

अनिकेतःका अर्थ है कि बनाया हुआ मकान। उस मकानसे सम्बन्धित धन और जन—सबसे ममता तोड़ लो। किसीको 'मेरा' मत समझो और सबसे बड़ा घर यह शरीर तो साथ लगा है—

अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।

यह नौ द्वारवाला घर जिसमें पुरञ्जन (जीव) और पुरञ्जनी (बुद्धि) फँसे हैं, इस शरीरको भी 'मैं-मेरा' मत समझो। कबीर साहबका एक लोकगीत है—

नैहरवा हमका न भावै।
साईंकी नगरी परम अति सुन्दर, जहाँ कोउ जाय न आवै॥

पीहर—मायका हमें अच्छा नहीं लगता। मायका—मायाका देश हमें प्रिय नहीं है। वहाँ—उस देशमें चलो, जहाँ अपने प्रियतम प्रभुका निवास है। इस ढङ्गसे रहो, जिससे वे सन्तुष्ट हों और उनका सङ्ग मिले। यह शरीर पिंजड़ा है। इसमें जीवरूपी पक्षी फँस गया है। वह मुक्त होनेके लिए, अपने प्रियसे मिलनेको तड़फड़ाता है।

सुरति बिरहुलिया छाई निज देस।
जहाँ न सूरत जहाँ न मूरत पूरन धनी दिनेस॥

विरहिणीने पंख फड़फड़ाये और देह त्यागकर प्रियतमके देश पहुँच गयी। क्योंकि यह देह—यह शरीर तो उसका अपना देश नहीं, यहाँ तो उसे रहना नहीं है।

रहना नहिं देस बिराना है।

यह तो दूसरेका—मायाका देश है। संसार तो सेमरके वृक्षके समान है। इसके फल देखनेमें ही सुन्दर हैं। उन्हें खानेका प्रयत्न करो तो उनमें-से रूई निकलती है। उनमें सार-सुख नहीं मिलता।

यह संसार सुवा सेमर ज्यौं, सुन्दर देखि लुभायौ।
चाखन लाग्यौ रूई गयी उड़ि हाथ कछू नहि आयौ॥

इसलिए—**विरक्तो रक्तवत्तत्र नृलोके नरतां न्यसेत्॥**

—भागवत.

हृदयसे वैराग्यवान् रहे, संसारका खोखलापन समझता रहे और व्यवहार ऐसा करे, जिससे लोग समझें कि ये बहुत प्रेम करते हैं। मेरे साथ कांगड़ाकी यात्रामें एक साथी थे। वे जहाँ धर्मशालामें पहुँचते थे, वहाँ उसे झाड़ू देकर, धोकर खूब स्वच्छ करते थे और चलते समय भी खूब स्वच्छ करके तब चलते थे। कहते थे--'हमारे पीछे भी तो कोई आकर यहाँ ठहरेगा।' लेकिन क्या उनको कोई आसक्ति धर्मशालाके कमरोंसे होती थी? उन्हें क्या वे अपना मानते थे? संसारमें व्यवहार तो करो उचित ढङ्गसे; किन्तु उसमें आसक्त मत हो।

यावत्स्वस्थमिदं शरीरमरुजं यावच्च दूरे जरा
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्
संदीप्ते भवने तु कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः॥
—गरुड़पुराण.

गरुड़पुराणमें यह बात कही गयी है कि जब शरीर रोगहीन स्वस्थ है, कोई बड़ा रोग होकर जबतक असमर्थ नहीं कर देता, जबतक बुढ़ापा दूर है, वृद्धावस्थाके कारण उठना-बैठना, नहाना-धोना, स्नान-सन्ध्या, जप-पूजन-कीर्तन जबतक अशक्य नहीं बने हैं, जबतक नेत्रसे दीखता है, कान सुनते हैं, हाथ-पैर काम करते हैं और जबतक मृत्यु नहीं आ पहुँचती, तभी तक विद्वान् पुरुषको अपने कल्याणके लिए महान् प्रयत्न कर लेना चाहिए। ठिकाना नहीं कि मृत्यु कब आ धमके और जब घरमें आग लग जाय तब फावड़ा-टोकरा लेकर कुआँ खोदने लगो कि कुआँ खोदकर आग बुझायँगे तो यह प्रयत्न किस कामका? जिनको तुम अपना कहते हो उनमें-से कोई साथ देनेवाला नहीं है। इनकी आसक्ति छोड़ो और अपने कल्याणका उपाय करो। जब मृत्यु आजायगी,

तब क्या उपाय करोगे। घर-धन-परिवारकी आसक्ति, इनमें 'मेरापन' त्यागो, यही **अनिकेतः**का तात्पर्य है।

स्थिरमतिः सब साधन तब बनते हैं जब बुद्धिमें स्थिरता होती है और जो बुद्धि बाहरसे आती है, वह स्थिर नहीं होती। संसारमें जो मति है, वह बाहरसे आयी है। एक कपड़ा दूकानपर दीखा, एक किसीको पहने देखा, एकके विषयमें किसीसे सुना और उसे खरीदने चल पड़े—यह बाहरसे आयी मति है। घरमें बैठे हैं और कपड़ेकी आवश्यकता अपनेको प्रतीत हुई, तब खरीदने चले, यह भीतरसे आयी मति है। भीतरसे आयी मति स्थिर होती है! अपनी जैसी आवश्यकता है वैसा कपड़ा लेंगे, बाहरसे आयी मति स्थिर होगी। दूकानपर जाकर सैकड़ों नमूने देखनेको मिलेंगे, मार्गमें वस्त्रके अनेक प्रकार दीखेंगे। वस्त्र खरीदकर भी यह रहेगा कि यह न लेकर दूसरा नमूना लेते तो अधिक अच्छा होता।

भगवत्प्राप्तिके मार्गमें यह देखना प्रधान है कि हमारी मति प्रभुकी प्राप्तिमें अनुकूल है या नहीं। ये जो गुण बताये गये हैं **अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्**से लेकर अबतक, उन सबको धारण करते समय भी भक्तके लिए यह आवश्यक है कि वह यह देखें, उन गुणोंको धारण करनेमें हम प्रभुकी प्राप्तिके अनुकूल चलते हैं या नहीं। यदि गुणोंका धारण प्रभुसे दूर करता हो तो वे अपनाने योग्य नहीं हैं। 'हम अनिकेतन बनने लगें तो भक्ति छूट तो नहीं जायगी', यह बात भक्तको सबसे पहले सोचनी चाहिए। घर-द्वार छोड़ दिया और शरीर रोगी है, उसके लिए पथ्य भोजन, ठिकानेसे रहने की चिन्ता लग गयी और भगवान्‌का भजन छूट गया, तो अनिकेत होना बाधक ही बना।

कोई लड़की कहती है—'मैं विवाह नहीं करूँगी। भजन करूँगी।' अभी उसे पता नहीं है कि संसारमें कैसे-कैसे लोग हैं।

कैसे-कैसे फँसाने, फुसलाने, धोखा देनेके प्रयत्न होते हैं ? मनमें कितनी दुर्बलताएँ होती हैं ? विवाह कर ले तो एक स्थानपर स्थिर हो जाय, सब प्रलोभनोंसे बच जाय। विवाह न करनेपर अनेक सम्बन्ध सम्भव हैं। यहाँ ब्रह्मचर्य उत्तम होते हुए भी परिणामतः आचारविमुख करनेवाला होनेसे अपनाने योग्य नहीं है।

अपने जीवनमें बुद्धि छः कारणोंसे चञ्चल होती है :— १. अपने भीतर सन्तोष नहीं होनेसे। वस्तुओंकी कामना—यह भी, मिले, वह भी मिलेकी वृत्ति रहनेसे। २. चित्तमें समता न रहनेसे, किसीसे राग, किसीसे द्वेष होनेके कारण। ३. चित्तमें वैराग्य न होनेसे, शरीर तथा इन्द्रियोंके सुख-दुःखकी चिन्ता करके। ४. मन एकाग्र न होनेसे, मनोराज्य करके। ५. तितिक्षाका अभ्यास न होनेके कारण दुःख आनेपर उन्हें न सह सकनेसे। ६. इन्द्रियों-पर अधिकार न होनेके कारण। अतएव यह अभ्यास करना चाहिए कि मनमें सन्तोष रहे। अनावश्यक वस्तुओंकी इच्छा न उठे। चित्त सबके प्रति समता—सद्भावमें बना रहे। संसारके भोगोंके प्रति वैराग्य हो। मनमें एकाग्र होनेकी शक्ति आये। तप-तितिक्षाका अभ्यास किया जाय, जिससे दुःख आनेपर सहन हों। इन्द्रियाँ अपने नियन्त्रणमें रहें। ऐसा हो जाय तो मति स्थिर रहेगी।

दूसरे गुणोंके समान स्थिरमति भी भगवान्‌की भक्तिके अनुकूल होनी चाहिए। कोई कहे 'हम तुम्हारा मन एकाग्र करा देते हैं, तुम्हें स्थिरमति बना देते हैं, यह भक्ति छोड़ दो' तो उसकी बातोंमें नहीं आना चाहिए। आज ऐसे अनेक पन्थ तथा साधु हैं जो कहते हैं—'राम-कृष्ण तो कालके घेरेमें हैं। इनका नाम लेने, इनका भजन-चिन्तन करनेसे कोई लाभ नहीं। इन्हें छोड़ो। आँख बन्द करो। कान बन्द करो। एकबन्ध, द्विबन्ध, चतुर्बन्ध आदिके साधन

करो, तुम्हें अभी ज्योतिके दर्शन होंगे, अभी तुम्हारी मति स्थिर हो जायगी, अभी अनहद सुनायी देगा।' ऐसे लोगोंकी बातोंमें आकर भक्ति मत छोड़ना। कोई भी साधन-स्थिति-सद्‌गुण प्रभुसे विमुख करके जीवनमें आता हो तो उसे नहीं अपनाना चाहिए। साधन वही करना चाहिए, जिससे भगवान्‌में प्रेम बढ़े।

स्थिरमतिः जहाँ पकड़ ढीली होनेका अवकाश ही न हो। पहले ब्राह्म और आर्ष विवाह होते थे। पिताने कन्यादान किया। अग्निकी साक्षीमें ब्राह्मणने वेदमन्त्र पढ़कर विवाह कराया। इस तरह दाम्पत्यमें बुद्धि स्थिर हो गयी। सम्बन्ध जीवन भरका बन गया। वह टूट भी सकता है, यह कल्पना ही नहीं आती थी। अब विवाह न्यायालयमें रजिस्ट्री कराके होते हैं। यह बुद्धि बाहरसे आयी, अतः स्थिर है। इसमें चाहे जब विवाह-विच्छेदकी सम्भावना है।

मतिमें अस्थिरता मनके सम्बन्धसे आती है। बुद्धिकी प्रधानता रहनेपर मनमें भी स्थिरता आती है और मन प्रधान हो जाय तो बुद्धिमें चञ्चलता आजाती है। विचारप्रधान व्यक्तिका मन स्थिर होता है और संकल्पप्रधान व्यक्तिका चञ्चल। परमात्माके प्रति तन-मन ऐसा समर्पित हो कि बुद्धिमें चञ्चलता न आये।

भक्त अपना शरीर, शरीरके कर्म, धन, अपना सब उपार्जन और मन परमात्माको ही समर्पित कर देता है, अतः उसकी बुद्धि स्थिर होती है।

भक्तिमान् मे प्रियो नरः जो भक्तिमान् है, वह भगवान्‌को प्यारा है। यहाँ प्रियका अर्थ है—अतिशय प्रिय। भगवान् स्वभावसे ही करुणावरुणालय हैं। संसारके प्राणियोंको दुःखी देखकर उनमें करुणाका समुद्र उमड़ पड़ता है। शाण्डिल्य भक्तिसूत्रमें कहा है—

मुख्यं तु तस्य कारुण्यम् ।

भगवान्में करुणा ही मुख्य है। प्रलयके समय—हिरण्यगर्भको सुषुप्तिकालमें जब केवल ईश्वर ही रहता है, जब वह देखता है कि कोटि-कोटि जीव अपनी वासना लिये अविद्यासे मूर्च्छित पड़े हैं तो वह सबको जगाता है—सृष्टिको अभिव्यक्त करता है। वह नहीं देखता कि कौन कैसा है? सृष्टिके प्रवाहमें जीव पड़ा है। इसमें जो आसुरी सम्पत्तिको अपना लेता है, वह उसी प्रवाहमें बहता है।

तान्यहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥

१६.१९

लेकिन जो भक्त हैं, जो भगवान्की ओर चलते हैं, उनपर वह प्रभु कृपा-वर्षा करता है, उनका कल्याण करता है। भगवान्का प्यार प्राप्त करनेमें भक्ति ही मुख्य है। भक्ति अंगी है और अद्वेषादि उसके अंगभूत गुण हैं। वह न रहे तो ये गुण भगवान्को प्रिय नहीं हैं। गुण न रहे और भक्ति रहे, तो भी भक्त भगवान्को प्यारा है और यदि भक्तिके साथ ये गुण भी रहें तो वह भक्त भगवान्को अतिशय प्यारा है। इसीलिए प्रत्येक प्रसंगमें भगवान्ने 'भक्तिमान् प्रिय है', यह बात कही गयी है।

भक्तिमान् मे प्रियो नरः इसमें **भक्तिमान्** तथा **प्रियः**का अर्थ ठीक-ठीक समझमें आजाय और शब्दार्थका साक्षात्कार हो जाय तो भगवत्त्वप्राप्ति हो जाय। शब्दशास्त्रके विद्वान् कहते हैं कि शब्दका अपने अर्थके साथ नित्य सम्बन्ध है—**औत्पत्तिकः शब्द-स्यार्थेन सम्बन्धः।** शब्दका अपने अर्थसे जन्मजात सम्बन्ध है। अब शब्द तथा अर्थके सम्बन्धकी दृष्टिसे देखें तो 'भक्तिमान्'में भक्तिका आश्रय है भक्तका हृदय और विषय हैं भगवान्। **प्रियः**में

प्रियताके आश्रय हैं भगवान् और विषय है भक्त। भक्तके हृदयमें भक्ति आयी तो भगवान् उसके सम्मुख आये। भगवान्ने भक्तको देखा तो उनके हृदयमें भक्तके प्रति प्रेम आया। अब भक्त भक्तिके साथ भगवान्की ओर और भगवान् प्रेमपूर्वक भक्तकी ओर देख रहे हैं। यह भक्तिमान् मे प्रियःका अर्थ हुआ।

माहात्म्यज्ञान, सेवा और प्रेम अर्थात् भक्तको सत्ता=सदंश शरीरके कर्म, चिदंश मन-बुद्धिका चिन्तन, माहात्म्यज्ञान और आनन्दांश-प्रेम। भक्तका यह सम्पूर्ण समर्पण भगवान् लेते हैं। सेवा, माहात्म्यज्ञान और प्रेम मिलकर ही भक्ति कहलाती है।

इसमें भक्ति मुख्य है। भक्तिदेवीका श्रीविग्रह सेवा, माहात्म्य-ज्ञान तथा प्रेमसे निर्मित है। शेष अनपेक्षतादि गुण इन भक्ति महारानीके आभूषण हैं। आभूषण कभी अंगपर रहते हैं, कभी उतर जाते हैं। ये तिलक, कण्ठी, माला आदिके समान हैं; अतः भक्तकी मुख्य दृष्टि भक्तिपर होनी चाहिए, अपने आभूषणों-पर नहीं।

जैसे, भगवान्ने अनिकेतः भक्तिका एक गुण बतलाया। अब कहो कि जो घर-द्वार छोड़कर गृहत्यागी-संन्यासी हो जाय, वही भक्त हो सकता है तो यह बात ठीक नहीं है। विरक्त-गृहस्थ सभी भक्त हो सकते हैं। इसलिए अनिकेत रूप लक्षणको मुख्य न मानकर भक्तिको मुख्य मानना होगा। ये सद्गुण भक्तिके आभूषण हैं।

श्रीमधुसूदन सरस्वती-जैसे कुछ टीकाकारोंका मत है कि भक्ति सच्चिदानन्द-स्वरूपा है और ये अनपेक्षतादि सद्गुण उसके स्वभाव हैं। जब भक्तके हृदयमें भक्ति आती है, तब ये सद्गुण उसके स्वभाव बन जाते हैं। इन्हें प्रयत्नपूर्वक लाना नहीं पड़ता है। कोई-कोई इन सद्गुणोंको भक्तिकी कान्ति—शोभा मानते हैं।

भक्तके हृदयमें भक्ति आनेपर ये गुण उसकी कान्ति बनकर आते हैं।

भगवान्‌के कई नैष्ठिक भक्त कहते हैं कि भक्ति भगवान्‌से विशिष्ट है। भगवान् भी सच्चिदानन्दस्वरूप और भक्ति भी सच्चिदानन्द-स्वरूप। यह तो दोनोंमें समानता ही हुई; किन्तु भक्ति महारानीमें विशिष्टता यह है कि भगवान् उनके वशमें रहते हैं। श्रीरामचरित-मानसमें गोस्वामी तुलसीदासजीने रूपकके द्वारा बताया है कि माया और भक्ति दोनों नारि-वर्गमें हैं और ज्ञान पुरुष है। इसलिए ज्ञानपर तो मायाका बल चल जाता है; किन्तु भक्ति-पर उसका बल नहीं चलता।

माया भक्ति सुनहु तुम दोऊ। नारीवर्ग जानइ सब कोऊ॥
मोह न नारि नारिके रूपा। पन्नगारि यह रीति अनूपा॥

भगतिहि सानुकूल रघुराई।

और

माया खलु नर्तकी बिचारी।

सांख्य दर्शनके अनुसार अन्तःकरण प्रकृतिका कार्य है। उस अन्तःकरणमें जब सत्त्वात्मिका गुणवृत्तिका उदय होता है, तब उसे भक्ति कहते हैं। सांख्यकी यह भक्ति तो प्रकृतिके कार्य सत्त्व-गुणकी वृत्ति होनेसे भगवान्‌को अपने वशमें करनेमें असमर्थ है।

वेदान्ती कहते हैं—अविद्याका कार्य अन्तःकरण है और उसकी एक वृत्तिविशेषको भक्ति कहते हैं। क्योंकि सुषुप्तिमें अन्तःकरणका अविद्यामें ही लय होता है और जाग्रत्‌में वह अविद्यामें-से ही निकलता है, अतः वह अविद्याका ही परिणाम है; इसलिए उसकी वृत्तियाँ भी अविद्याका ही कार्य हुईं। अविद्याकी कार्यरूपा वृत्ति भगवान्‌को वशमें नहीं कर सकती।

भक्तिशास्त्रमें भगवान्‌की तीन शक्तियाँ मानी जाती हैं—सन्धिनी, संवित् और ह्लादिनी। भगवान् सच्चिदानन्दस्वरूप हैं। उनका 'सत्' शक्तिरूपमें सन्धिनी, उनका 'चित्' शक्तिरूपमें संवित् तथा उनका 'आनन्द' शक्तिरूपमें ह्लादिनी है। भगवान्‌की तटस्था शक्ति माया है—जगत् है; अन्तरङ्ग शक्ति जीव और स्वरूपभूता शक्ति केवल आह्लादिनी शक्ति है। इस आह्लादिनी शक्तिके भी अनेक भेद हैं; किन्तु उनकी जो सारक्षता है, वे श्रीनिकुञ्जेश्वरी, आराधिकारूपिणी श्रीराधा हैं। वही भक्तिकी अधिदेवता—भक्तिकी परमोच्चस्वरूपा हैं। वही भगवान्‌को अपने वशमें करनेमें समर्थ हैं। उनको भगवान्‌के अनुकूल रहकर उनकी सेवा करनेका ही नहीं, प्रतिकूल रहनेका भी अधिकार है। द्वारिकाकी श्रीकृष्णकी रानियाँ उन ह्लादिनी शक्तिकी ही अंशभूता हैं और व्रजकी गोपियाँ भी उनकी ही अंश हैं; किन्तु भक्तिकी मूलरूपा श्रीराधा ही हैं। इसलिए प्रेम, प्रणय, राग, अनुराग, भाव, महाभाव और अधिरूढ़ महाभावके क्रमसे भक्तिका शुद्ध एवं उच्चतम रूप उन्हींमें अभिव्यक्त होता है। अतएव उनमें ही भगवद्वशाकार प्रकट होता है।

भक्तिके शान्तभावमें भगवान्‌का माहात्म्यज्ञान तो है; किन्तु उसमें उनके प्रति ममत्वकी अभिव्यक्ति नहीं है। दास्यभावमें ममत्व है–'मैं भगवान्‌का सेवक हूँ', यह भाव है; 'भगवान् मेरे हैं', यह बात भी है; किन्तु माहात्म्यज्ञान कुछ कम हो जाता है। सख्यमें समानता है। इसमें माहात्म्यज्ञान तथा सेवा, ये दोनों दब जाते हैं। वात्सल्य भगवान्‌पर छा जाता है। इसमें माहात्म्यज्ञान चला गया। केवल सेवा ही सेवा है। कान्तभावमें समानता है और स्वयंको भाग्य बनाकर भगवान्‌को सुख देनेका भाव है। इस कान्तभावमें भी महाभावका प्राकट्य श्रीराधारानीमें ही होता है। अतः भगवान्‌को अपने

वशमें करनेकी क्षमता उनमें ही है। यह भगवद्वशीकार श्रीराधानिष्ठ है। अन्यत्र इसकी केवल छायामात्र आ सकती है। इस अवस्थामें भोग्य-भोक्ता, आश्रय-विषयका भेद नहीं है। वहाँ श्रीराधा श्रीकृष्णके ध्यानमें तन्मय होकर श्रीकृष्ण बन जाती हैं और श्रीकृष्ण श्रीराधाके ध्यानमें मग्न होकर श्रीराधा बन जाते हैं। इस प्रकार युगलका रूप-परिवर्तन चलता ही रहता है। रसग्रन्थ कहते हैं—

न आदि न अन्त बिलास करैं दोऊ,
लाल-प्रियामें भई न चिन्हारो।

अनादि-अनन्तकालसे मिले हैं और परस्पर पहचान तक नहीं हो सकी। भोक्ता-भोग्य भाव मिटकर केवल आनन्दमात्र स्थिति हो गयी। यही भक्तिकी पूर्णता है।

भक्तिकी इस पूर्णताकी बात ठीक; किन्तु सामान्य व्यक्तिमें भक्तिकी पूर्णताका रूप और है। जब भगवान्‌के दर्शनके बिना प्राण तड़प उठें, नेत्रोंमें तीव्रतम प्यास जागे दर्शनकी, तब भक्ति पूरी है।

अँखियाँ हरिदर्शनकी प्यासी।
देख्यो चाहत कमलनयनको निसिदिन रहत उवासी॥

भगवान्‌को देखे बिना रहा नहीं जाता और ऐसे भक्तके बिना भगवान्‌से भी रहा नहीं जाता। वे चले थे भक्तको अनिकेत बनाने; किन्तु भक्त न रहे तो वे स्वयं अनिकेत हो जायँ; क्योंकि भक्तोंका हृदय ही तो उनका निकेत है। नर न हो तो नारायण कहाँ रहें ? अतः अब सुगम भक्तिकी चर्चा करनी चाहिए। क्योंकि जो वस्तु अलभ्य लगती है; उसे प्राप्त करनेकी इच्छा ही मनमें नहीं होती।

एक बार एक कथावाचकने वृन्दावनमें भक्तिकी चर्चा करते हुए कहा—'भक्ति धर्म, योग तथा ज्ञानसे बहुत श्रेष्ठ है। ज्ञानका तो यह फल है। पहले ब्रह्मज्ञान हो जाय, तब भक्तिकी प्राप्ति होती है।'

उनकी बात सुनकर मेरे मनमें आया—'यदि ब्रह्मज्ञानके पश्चात् भक्ति होती है, उससे पहले होती ही नहीं तो भक्तिकी बात छोड़कर साधकको पहले विवेक-वैराग्यादि षट्सम्पत्ति अर्जित करके श्रवण-मनन-निदिध्यासनमें लगना और ज्ञान प्राप्तिका ही प्रयत्न करना चाहिए।'

तात्पर्य यह कि वस्तु इतनी अलभ्य न हो कि वह जीवनसे ही दूर हो जाय। कठिन न तो ज्ञान है और न भक्ति; यह अभ्यासका ही सब खेल है। जिसका जैसा अभ्यास है, उसके लिए वह सरल है और जिसका अभ्यास नहीं है, वह कठिन है। भक्ति क्या है ? बिना निमित्तके हृदयका द्रवित होना। कथा, कीर्तन हो या न हो, हृदय द्रवित होकर भगवान्‌में लगे। हृदयकी कठोरता क्या ? संसारके पदार्थोंमें जो असक्ति है—'यह मेरा, यह छूटने न पाये' यह भाव ही हृदयकी कठोरता है। हृदय नामक जो रक्तशोधक मांसपिण्ड है, वह कठोर नहीं होता। उसमें तो एक सूई चुभ जाय तो प्राणी मर जायगा। हृदयकी कठोरता है महत्त्व—संसारमें आसक्ति; वह छूटनी चाहिए। चित्तकी स्मृतिधारा भगवान्‌में लगे। जितनी स्मृति चित्तमें आये, वह भगवान्‌में लगे। भोजन अपने लिए नहीं, भगवान्‌को नैवेद्य अर्पित करनेके लिए जैसे स्वर्ण पिघलाया जाता है तो वह अपनेमें बने रूपोंको, मूर्तियोंको त्याग देता है, वैसे ही चित्तमें जो संसारके लोगों तथा पदार्थोंके रूप हैं, उन्हें वह छोड़ दे और साँचेमें जाने योग्य हो जाय, इसका नाम भक्ति है। ऐसी भक्ति प्राप्त कैसे हो ? इसका उपाय बताया गया है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

—भागवत ७.५.२३

श्रीमद्भागवतमें कहीं भक्ति षडङ्गा कही गयी है, कहीं उसके तीस और एक स्थानपर तैंतीस अंग बताये गये हैं; किन्तु प्रसिद्ध यह नवधा भक्ति ही अधिक है। इसे करनेसे चित्तमें जो संसारकी आकृतियाँ और आसक्ति है, वह छूटती है और चित्त भगवदाकार होता है। उसमें भगवान्‌के प्रति आसक्ति, प्रीति उत्पन्न होती है। अतएव इनपर संक्षिप्त रूपसे विचार कर लेना चाहिए।

श्रवण—संसारकी सब बातें, राग-द्वेषके सब संस्कारका अधिकांश भाग कानके मार्गसे ही हृदयमें आता है। कितने लोगों-को तुम चोरी, बेईमानी, अनाचार करते देखते हो? अधिकांश लोगोंको तुम जैसा मानते हो, उनके विषयमें सुनकर ही मानते हो। नेत्रोंके द्वारा बहुत कम संसार चित्तमें पहुँचता है। अतः पहले इस कर्णद्वारको बन्द करो। इससे संसारकी चर्चा, निन्दा-स्तुति सुनना छोड़ो और भगवान्‌की महिमा, उनके मंगल चरित, उनके नामका संकीर्तन सुनो। यह कर्णेन्द्रियसे भगवान्‌का स्पर्श करना है। भगवन्नामश्रवणसे पाप-नाश होता है। उनके रूप, गुण तथा लीला-कथाका श्रवण करनेसे उनमें प्रियता उत्पन्न होती है। 'श्रवण' भक्तिका प्रथम सोपान है। भक्ति महारानीके राजभवनमें प्रवेश करनेकी प्रथम सीढ़ी है—भगवान्‌के नाम-गुण-लीलाका श्रवण।

प्रथम भगति संतन कर संगा।

कीर्तन—सत्संगमें भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, लीलाका जो श्रवण किया है, उसे जीवनमें ले आनेका प्रारम्भ है—नामका जप-कीर्तन तथा गुण, रूप, लीलाका वर्णन-गान।

संकीर्तनं भगवतो गुणकर्मनाम्ना।

भगवान्‌के गुण-सर्वज्ञता, दयालुता, सर्वशक्तिमत्ता आदिका उनके कर्म-लीला-चरितका और उनके परम पावन नामोंका कीर्तन करो। श्रवणमें ज्ञानेन्द्रिय लगी भगवान्‌में और कीर्तनमें कर्मेन्द्रिय लगी।

पतितः स्खलितश्चार्तः सन्दष्टस्तप्त आहतः।
हरिरित्यवशेनाह पुमान् नार्हति यातनाम्॥
—भागवत १२.१२.४६

कोई गिर पड़े या फिसल जाय, किसी पीड़ासे व्याकुल हो, किसी जीव-जन्तुने काट लिया हो, चिनगारी आदि पड़नेसे जला हो या चोट लगी हो, इनमें-से किसी भी अवस्थामें मुखसे अचानक—विवशतः श्रीभगवान्का नाम निकल जाय तो वह नरककी यातनासे छूट जाता है। उसे नरकमें नहीं जाना पड़ता।

स्मरण—सन्तोंसे जो कुछ भगवान्के सम्बन्धमें सुना है, शास्त्रमें जो पढ़ा है, उसे केवल मुखसे बोलकर—कीर्तन करके, दूसरेको सुनाकर ही अपनेको कृतकृत्य मत मान लो। अपने मनको भी भगवान्में लगाओ। केवल ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय—श्रवण तथा वाणी ही लगाकर तृप्त मत हो जाओ। जो कुछ भगवान्के सम्बन्धमें सुना और पढ़ा है, उसका मनसे बार-बार स्मरण करो। भगवान्में कौन-कौन-से गुण हैं, उनका रूप कितना सौन्दर्य-माधुर्यधाम है। उन्होंने कैसी-कैसी लीलाएँ अवतार ले-लेकर की हैं—इन सबका मनसे चिन्तन करो।

हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः।
अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः॥

श्रद्धासे-अश्रद्धासे, मानसे-तिरस्कारसे, काम-क्रोधादिसे—चाहे जैसे भी भगवान्का स्मरण करो, यह स्मरण तुम्हारे चित्तमें भगवान्को ले आयेगा और चित्तमें भगवान् आयेंगे तो पाप दूर होगा ही। भगवान्का स्मरण पापका नाश करता है। जैसे अग्निको श्रद्धा-अश्रद्धासे, जानमें-अनजानमें चाहे जैसे स्पर्श करो, वह तो जलायेगा ही। जो श्रद्धापूर्वक स्मरण करते हैं, उनके लिए—

हरिःस्मृतिः सर्वविपद्विमोक्षणम्।

भगवान्‌का स्मरण सम्पूर्ण विपत्तियोंसे—जन्म-मरणरूप महा-विपत्तिसे भी मुक्त करनेवाला है।

पादसेवन—भगवान्‌के श्रीचरणोंकी सेवा करो। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि वे कहाँ मिलेंगे कि उनकी चरण-सेवा की जाय? वे वैकुण्ठमें रहते हैं और वहाँ श्रीलक्ष्मीजी उनकी चरण-सेवा करती रहती हैं, यह सुना तो है; किन्तु हमको उनके भी चरण कहाँ प्राप्त हैं कि उनकी सेवा करें। इसका समाधान यह है कि मनमें जहाँ तुम भगवान्‌के रूपका स्मरण करते हो, वहीं मनमें हो उनकी चरण-सेवा भी करो। आचार्योंने—**तस्य वा तदीयस्य वा** ऐसा अर्थ किया है। मनमें मानसिक रूपसे भगवान्‌की चरण-सेवा करो, अथवा भगवान्‌के जो भक्त हैं, उनके चरणोंकी सेवा करो। गुरुदेवके चरणोंकी सेवा करो। क्योंकि—

तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्।—नारद भ० सू०

भगति भगत भगवन्त गुरु चतुर नाम वपु एक।

अर्चन—यह पाद-सेवनसे पृथक् भक्ति है। भगवान्‌के श्री-विग्रहका शास्त्रवर्णित रीतिसे पूजन-क्रियायोग अर्चन भक्ति है।

वन्दन—कपड़े मैले होनेका, शरीरमें धूलि लगनेका ध्यान छोड़कर भगवान्‌के श्रीविग्रहके सम्मुख साष्टाङ्ग प्रणिपात। वन्दनका मुख्य अभिप्राय है, भगवान्‌के सम्मुख अभिमान त्यागकर शरणागत हो जाना।

दास्य—अपने समस्त कर्म भगवान्‌को अर्पित कर देना। वे अपने स्वामी और हम उनके सेवक, यह स्वीकार करके भगवत्सेवाके निमित्त ही कर्म करना।

सख्य—दास्यमें कर्मका समर्पण है और सख्यमें परम विश्वास है। भगवान् हमारे सुहृद् हैं। वे जो कुछ करेंगे, हमारे मंगलके लिए ही करेंगे, ऐसा अविचल विश्वास सख्यमें मुख्य है।

आत्मनिवेदन—अपना ज्ञान—अपनी बुद्धि, अपना संकल्प—मन तथा अपना कर्म, अपना स्वत्व सब कुछ समर्पण करके प्रभुसे एक हो जाना। अपना कुछ भी नहीं रखना।

यह साधन-भक्ति है, जो दो-चार दिन या दो-चार महीने करनेकी नहीं है। पूरा जीवन इसमें लगाना पड़ता है। भक्त वह है जो जन्म लेनेसे डरता नहीं है। वह सौ-सौ जन्म लेकर भक्ति करना चाहता है। भक्तिका साधन तो तब चलता है जब गुरु—मार्ग बतानेवालेमें निष्ठा हो, साधन-मार्गमें निष्ठा हो और उसे जन्म-जन्मतक करते रहनेका धैर्य हो और अपने इष्टमें—लक्ष्यमें दृढ़ निष्ठा हो। भगवती उमा नारदजीके उपदेशसे शंकरजीको पति रूपमें प्राप्त करनेके लिए तप कर रही थीं। उनकी परीक्षा लेनेके लिए सनकादि कुमार आये और कहने लगे—'नग्न, भस्म लपेटे रहनेवाले, कंगाल भिक्षुक शिवमें क्या रखा है? यह तप छोड़ो। हम तुम्हारा विवाह भगवान् विष्णुसे करा देंगे।'

उमा भगवतीने उनको जो उत्तर दिया, उसमें गुरुनिष्ठा है—

नारद बचन न मैं परिहरऊँ।
बसउ भवन उजरउ नहिं डरऊँ॥

गुरुके बचन प्रतीत न जेहीं।
सपनेहु सुगम न सुख सिधि तेहीं॥

और अपनी इष्टनिष्ठा व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा—

महादेव अवगुन भवन,
बिष्नु सकल गुन धाम।
जेहिकर मन रम जाहि सन
तेहि तेही सन काम॥

और आगे बोलीं—

जौं तुम मिलतेहु प्रथम मुनीसा।
सुनतिउँ सिख तुम्हारि धरि सीसा॥
अब मैं जन्म सम्भुहित हारा।
को गुन दूषन करइ बिचारा॥

'महामुनि ! आप पहले नहीं आये, अन्यथा आपकी आज्ञा शिरोधार्य करती। अब तो मैं नारदजीको अपना गुरु बना चुकी। कोई विवाद नहीं, संशय नहीं। आप कहते हैं, वह सर्वथा ठीक। शिवजीमें सब अवगुण हैं, मान लिया। यह भी मान लिया कि भगवान् विष्णु सर्वगुण सम्पन्न हैं; किन्तु जिसका मन जिसमें लगे, उसे तो उसीसे काम है। मेरा मन तो भगवान् शिवमें लग चुका। मैंने उनके लिए जन्म हार दिया। अब उनके गुण-दोषका विचार मैं नहीं करती।' और साधन-निष्ठा, धैर्य कितना, दृढ़ता कितनी—

जनम कोटि लगि रगरि हमारी।
बरौं सम्भु न त रहौं कुमारी॥
तजउँ न नारद कर उपदेसू।
आप कहहिं सत बार महेसू॥

'केवल इस जीवनकी बात नहीं है। कोटि-कोटि जन्मोंके लिए हमारा यही आग्रह है कि विवाह होगा तो भगवान् चन्द्रमौलिसे ही, नहीं तो मैं अविवाहित ही; जन्मपर जन्म व्यतीत करती रहूँगी।'

इस प्रकारकी गुरु, इष्ट और साधनमें दृढ़ निष्ठा होती है, तभी भक्तिका हृदयमें प्राकट्य होता है। भक्तिके सम्बन्धमें प्रमाण वेद, पुराण, इतिहासादि हैं। जहाँ-जहाँ श्रुतिशास्त्र-पुराणमें भगवान्‌के ध्यानका वर्णन है, उनकी प्रार्थना—स्तुति, माहात्म्यका वर्णन है, वह सब भक्तिका ही वर्णन है। इन सब वर्णनोंसे भक्ति निष्पन्न

होती है। ये भक्तिदेवी श्रुति-शास्त्रकी पुत्री हैं। इनका भोजन है—श्री सम्प्रदायमें वर्णित साधनसप्तक। ये सात साधन हैं—विवेक, विमोक, अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनवसाद और अनुद्धर्ष।

१. 'विवेक'—इसका अर्थ है आहारका विवेक। क्या भोजन करना, क्या नहीं। कैसे धनसे उपार्जित आहारको ग्रहण करना-न करना। कैसे व्यक्ति द्वारा, किस स्थान तथा पात्रमें, किस प्रकार बना आहार लेना और कैसा नहीं लेना—यह विचार करके केवल न्यायार्जित, धर्मसम्मत उपायसे प्राप्त धनसे जो सामग्री ली गयी है, वह स्वरूपसे पवित्र हो, पवित्र स्थानपर, पवित्र पात्रोंमें, पवित्र व्यक्ति द्वारा शुद्ध भावसे बनायी जाय—ऐसा आहार भगवान्‌को अर्पित करके उसे प्रसाद रूपसे ग्रहण करना हो विवेक है।

२. 'विमोक'—असत्य, चोरी, हिंसा, छल-कपट आदि दुश्चरित्रोंका त्याग।

३. 'अभ्यास'—भगवान्‌के भजन—जप, स्मरण आदिको नियमपूर्वक करना।

४. 'क्रिया'—भगवान्‌की सेवा पूजाके लिए जितने आवश्यक कार्य हैं—चन्दन घिसना, माला गूँथना, भगवन्मूर्तिकी पूजा करना मन्दिरकी स्वच्छता आदि, उन्हें करना।

५. कल्याण'—मनमें यह दृढ़ विश्वास रखना कि भगवान् अवश्य हमारा कल्याण करेंगे। अपने कल्याणके लिए भगवान्‌की शरणागतिको छोड़कर अन्य उपाय न करना ऊर्ध्वपुण्ड्र, तुलसीमाला आदि मंगलमय वस्तुओंको धारण करना।

६. 'अनवसाद'—विवेक, विमोक, अभ्यास तथा क्रियामें निर्दिष्ट किसी भी कार्यमें आलस्य न करना। उसे करनेमें सोत्साह लगे रहना। मनका दुःखी न होना। दुःखी मनसे सेवा नहीं बनती।

७. 'अनुद्धर्ष'—किसी भी कारणसे इतने उल्लासमें न आ जाना कि भगवत्सेवा भूल जाय या उसमें बाधा पड़ने लगे। जैसे भगवान्‌के लिए नैवेद्य बना रहे हैं या चन्दन घिस रहे हैं और उस समय भावमें आकर आनन्दाश्रु आगये, नृत्य करने लगे तो सेवामें बाधा पड़ी। भक्तके लिए इस प्रकारकी भावमग्नता भी दोष मानी जाती है। एक साधु सत्सङ्गमें पंखा झलते-झलते भावावेशमें मूच्छित होकर गिर पड़े। महात्माओंने उन्हें अलग किया, जलके छींटे मारे और कह दिया—'तुम सेवाके अधिकारी नही हो।'

श्रुति-शास्त्रकी पुत्री भक्ति महारानी इन साधनोंका आहार करती हैं। इनके द्वारा वे पुष्ट होती हैं। निरन्तर भगवत्स्मृति ही इनका सौन्दर्य है। प्रतिदिन सेवा-भजन इनका वस्त्र है। भगवान्‌की विस्मृतिमें अत्यन्त व्याकुलता—तद्विस्मरणे परमव्याकुलता—यह इनका स्वरूप है।

ये भक्ति महारानी रसस्वरूपा हैं। ये स्वयं तो भगवान्‌से नित्य मिलकर रहती ही हैं; क्योंकि ध्रुवानुस्मृतिरूपा हैं, जिनके हृदयमें विराजती हैं, उस भक्तको भी लेकर भगवान्‌से मिला देती हैं।

पहले वैधी—साधनात्मिका भक्ति की जाती है। वैधीका अर्थ है—जिसका विधान श्रुति, शास्त्रने किया है। वैधी भक्ति करनेसे जब हृदय सरस होता है तो रागानुगाभक्ति होती है। रागानुगाका अर्थ है रागके पीछे चलनेवाली। माता यशोदाने श्रीकृष्णसे राग किया था। उनका वात्सल्य था श्यामसुन्दरमें। अब यशोदा माताके अनुकरणपर श्रीकृष्णको पुत्र मानकर उनके प्रति वात्सल्य-भाव करना रागानुगाभक्ति है। गोपियोंका श्रीकृष्णमें कान्तभाव था। गोपकुमारोंका नन्दनन्दनमें सख्यभाव था। श्रीहनुमान्‌जी

मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामको स्वामी मानकर उनकी सेवा करते थे। उनका दास्यभाव था। अब आज कोई गोपियोंके अनुकरणपर श्रीकृष्णको कान्त मानकर प्रेम करे, गोपकुमारोंके समान उनको सखा माने, श्रीहनुमान्जीके आदर्शपर श्रीरघुनाथजीका अपनेको सेवक माने तो यह रागानुगा भक्ति हुई। माता यशोदाको, गोपियोंकी, गोपकुमारोंकी और हनुमान्जीकी भक्ति रागात्मिका भक्ति थी।

हृदयमें जब राग—प्रेम होता है तो उसके भीतरसे सेवा निकलती है। श्रीउड़िया बाबाजी महाराजके एक भक्त थे। बाबा तो रामघाट या कर्णवासमें रहते थे और वे गंगापार दूर गाँवमें रहते थे; किन्तु उनसे पूछा जाय—'बाबा इस समय क्या कर रहे हैं? तो ठीक-ठीक बता देते थे कि महाराज कहाँ बैठे हैं, किससे बात कर रहे हैं अथवा क्या कर रहे हैं; चलते, लेटे हैं या भोजन करते हैं।

भगवान्की भक्तिका प्रथम लक्षण है, भगवान्में दृढ़-विश्वास और वे मेरा मंगल ही करते हैं, यह निश्चय। सब कुछ भगवान्का और हम उनके सेवक। लेकिन यदि कोई स्वामी अपने मुनीमको दूसरी दूकानपर भेजना चाहे और मुनीम उसी दूकानपर रहनेका हठ करे तो वह कैसा सेवक है? स्वामी एक दूकानका धन दूसरी दूकानपर भेजनेकी व्यवस्था करे और मुनीम कहे—'यह मेरी इस दूकानका रुपया मेरा है। इसे यहीं रहना चाहिए!' तो वह क्या स्वामिभक्त माना जायगा? सम्पत्ति सब भगवान्की है। वह प्रभु उसे तुम्हारे पास रखें या अन्यत्र भेजें, तुम्हें दुःख क्यों? तुम उनके सेवक–उनके मुनीम। तुम्हें यहाँ रखें या अन्य दूकानपर भेजें, तुम्हें क्यों आपत्ति हो? यह मृत्यु क्या है? एक दूकान छोड़कर दूसरी पर जाकर उसका काम सम्हालना ही तो है।

अतः भक्त न मृत्युसे डरता है न धनके आने-जानेसे सुखी दुःखी होता है।

मोहि कपट छल छिद्र न भावा।

भगवान्‌की सेवामें बेईमानी नहीं चलती। जो अन्तर्यामी, सर्वज्ञ है, उसे धोखा नहीं दिया जा सकता। इसलिए सचाईसे चाहोगे, प्रयत्न करोगे तो भक्ति प्राप्त होगी।

भगवान्‌को अपने लिए तुम्हारी सेवा-स्तुति-चिन्तनकी कोई आवश्यकता नहीं है। इनका विधाता तो तुम्हारे—कर्ताके कल्याण-के लिए है। एक महात्माका सेवक किसी समाचारको पाकर रो रहा था। महात्माने उसे रोते देखा तो बोले—'मुझे बहुत भूख लगी है। जल्दीसे भोजन बनाओ।'

सेवक भोजन बनानेके काममें लग गया। लकड़ी, बर्तन, आटा-दाल-शाक जुटाने, स्वच्छ करने आदिमें लगा तो रोना भूल गया। उसका दुःख छूट गया। महात्माने अपने लिए भोजन बनानेकी बात नहीं कही थी। सेवकपर कृपा करके उसे दुःखसे छुटकारा दिलानेसे लिए भोजन बनानेमें उसे लगाया। इसी प्रकार जीवके कल्याणके लिए भगवान् चाहते हैं कि वह उनके स्मरण, चिन्तन, सेवामें लग जाय तो उसे संसारका स्मरण भूले। संसारका स्मरण छूटेगा, तब दुःखसे छुटकारा होगा।

सेवा, नमस्कार, स्तुति और नाम-जप—ये चार बातें जीवनमें धारण करो तो भक्ति हृदयमें आये। जब अपना शरीर, अपनी वस्तु, अपनी वाणी, अपना कर्म भगवान्‌में लगता है, तब मनमें भावका उदय होता है। मनुष्यका सबसे बड़ा हित इसीमें है कि उसके चित्तमें भगवान्‌की भक्ति आये।

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां स्वार्थः परः स्मृतः ।
एकान्तभक्तिर्गोविन्दे यत् सर्वत्र तदीक्षणम् ॥

—भागवत ३.२५.४४

'इस लोकमें मनुष्यका परम स्वार्थ इतना ही कहा गया है कि परमात्मामें उसकी एकान्त भक्ति हो।' तुम्हारा परम स्वार्थ क्या है ? यह कि परमात्मा तुम्हारा हो जाय। लेकिन यह कैसे हो ? भाई, किसी राजासे मिलना है और तुम धर्मशालामें जा बैठो तो राजासे भेंट होगी ? जहाँ बराबर चार जाते और दस अतिथि आते रहते हैं, वहाँ राजा तुमसे मिलने आयेगा ? राजासे मिलना है तो एकान्त कक्ष चाहिए। तुमने अभी तो अपने हृदयको धर्मशाला बना रखा है। उसमें पुत्र, पत्नी, सम्बन्धी, शत्रु-मित्र—जाने कितने लोगोंकी भीड़ है, पता नहीं संसारकी कितनी वस्तुएँ भरी हैं। जिन व्यक्ति या वस्तुओंसे तुम्हारा राग अथवा द्वेष है, वे हृदयमें ही तो हैं। दस जाती हैं तो बीस आती हैं। इस मालगोदाममें तुम परमात्माको बुलाना चाहते हो ? परमात्माको बुलाना है तो इसे स्वच्छ करो। यहाँसे सबको विदा करो। व्यक्ति और वस्तुओंकी आसक्तिका त्याग करो। संसारमें वैराग्य होगा, तब भगवान्से राग हो सकेगा। लोगोंकी और अपनी भी चिन्ताका त्याग करो; तब भक्ति होगी। उस भक्तिका स्वरूप क्या होगा ? **सर्वत्र तदीक्षणम्** जन-जनमें, कण-कणमें भगवान्का दर्शन। सब समय, सर्वत्र, सब वस्तु एवं व्यक्तियोंके रूपमें भगवान् ही हैं। सबमें प्रभुके ही दर्शन, यह भक्ति है।

हिरण्यकशिपुने प्रह्लादसे पूछा—'बेटा ! तुमने जो पढ़ा है, उसमें तुम क्या उत्तम समझते हो ?'

प्रह्लाद बोले—'पिताजी ! सब पढ़नेका सार, सबसे उत्तम तो है भगवान्की भक्ति, किन्तु मेरे शिक्षक उसे पढ़ाते ही नहीं।'

यह भक्ति भी ऐसी नहीं होनी चाहिए कि उससे 'मैं भक्त हूँ' यह अभिमान आये। भक्ति 'तदर्पिता' होनी चाहिए। भगवान् कृपा करके अपनी सेवा तथा स्मरणका अवसर दे रहे हैं, यह भाव मनमें बना रहे। ऐसी भक्ति हृदयमें आजानेपर जो तैंतीस गुण भगवान्ने बताये हैं, वे स्वतः भक्तमें आजायँगे। सब प्राणी भगवान्के ही स्वरूप प्रतीत होने लगें तो वह किसीसे द्वेष कैसे करेगा? अद्वेष उसमें आयेगा, सबकी सेवा—मैत्री आयेगी, दुःखी देखकर करुणा भी आयेगी; क्योंकि वह समझेगा कि मेरे हृदयको द्रवित करनेके लिए प्रभुको यह कष्ट-सहनका नाटक करना पड़ रहा है। उसकी ममता कहीं सम्भव नहीं, न उसमें अहंकार ही आ सकता है। सुख-दुःख दोनों उसको प्रभुके द्वारा दिये प्रतीत होते हैं। अपने प्रति कोई अपराध करे ता भी वह प्रभुकी स्नेह-क्रिया दीखनेसे क्षमा बनी रहती है। सदा सन्तुष्ट वह रहता ही है, भगवान्में चित्त लगा रहनेसे योगी है और उनकी भक्तिमें दृढ़ निश्चयी भी है। मन और बुद्धि—संकल्प तथा ज्ञान वह उन्हें पहले ही अर्पित कर चुका है। सब भगवद्रूप हैं, अतः किसीसे वह उद्विग्न नहीं होता और स्वयं किसीके उद्वेगका निमित्त भी नहीं बनता। संसारमें कहीं भी राग न होनेसे उसके चित्तमें हर्ष-अमर्ष, भय-उद्वेग आदि आ ही नहीं सकते। ससारमें राग न होनेसे अनपेक्ष है। भगवत्सेवाके निमित्त पवित्र रहता है। उनमें प्रेम होनेसे सेवामें निपुणता स्वयं आजाती है। संसारके प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक परिस्थितिसे ऊपर उठ गया—उदासीन है, इसीलिए **गतव्यथः** है। कोई परिस्थिति उसे कष्ट नहीं दे पाती। लोकमें कुछ चाहिए नहीं, इसलिए कोई आरम्भ भी नहीं करता। हर्ष-शोकके निमित्तोंको प्रभुके द्वारा दिया गया समझनेके कारण किसीसे द्वेष नहीं करता। न उसे शोक होता, न चाह; क्योंकि प्रभु जैसे रखें, उसीमें वह अपना परम

मंगल देखता है। अतएव अपने कल्याणके लिए या अपनी वासनासे शुभ या अशुभ भी उससे नहीं होते। मित्र-शत्रुपर उसकी दृष्टि नहीं जाती। मान-अपमान उसे प्रभुका विनोद लगते हैं। सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख, सब उसके लिए प्रभुकी लीला है; अतएव किसी व्यक्ति या वस्तुमें उसकी आसक्ति नहीं होती। निन्दा-स्तुति दोनोंपर उसका ध्यान नहीं; क्योंकि शरीरमें उसकी आसक्ति नहीं है। जो कुछ मिल जाता है, उसीमें सन्तोष रहता है उसे। वह प्रभुका विधान देखकर प्रसन्न रहता है। निवास—आसक्ति उसकी लोकमें कहीं है नहीं और भगवान्में ही बुद्धि स्थिर है। इस प्रकार भक्तके हृदयमें भगवद्भक्ति आजानेपर ये सब गुण उसमें स्वतः आजाते हैं। भगवान् कहते हैं कि ऐसा भक्त मुझे प्रिय—अत्यन्त प्रिय है।

यहाँ जो आठ श्लोकोंमें ज्ञानी भक्तके विशेष गुण बतलाये गये हैं, उनमें-से प्रत्येक श्लोकमें एक-एक भाव प्रधान है। **अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्** इस श्लोकमें निरहंकारता तथा वैराग्यकी प्रधानता व्यक्त की गयी है। **संतुष्टः सततम्**से भगवदुन्मुख संयमका निरूपण है। **यस्मान्नोद्विजते लोकः**में शान्त स्वभाव तथा शान्तिमें स्थितिका वर्णन है। **अनपेक्षः शुचिर्दक्षः** यह श्लोक भगवत्सेवामें निपुणताका वर्णन करता है। **यो न हृष्यति न द्वेष्टि** ज्ञानी भक्तके आनन्द भावका चित्रण करता है। **समः शत्रौ च मित्रे च** समतामें स्थिति बतलाता है और **तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी** भगवान्में दृढ़निष्ठाको सूचित करता है। इसके बाद **ये तु धर्म्यामृतमिदम्**में भगवान्की परायणता सूचित की गयी है।

●

: २० :

● *संगति*

ज्ञानी भक्तका वर्णन करके भगवान् अब इनसे सर्वथा भिन्न श्रद्धालुका वर्णन कर रहे हैं। ज्ञानी भक्तमेंमें जो गुण उसकी भक्तिके कारण स्वतः आगये हैं, यदि कोई उन्हें अपनेमें लानेका प्रयत्न करे और भगवान्को बिना जाने ही श्रद्धापूर्वक भजन करे तो? क्योंकि सर्वत्र यह नियम है कि ज्ञानीका जो सहज स्वभाव होता है, साधकके लिए वही साधन बनता है। अतः यदि ज्ञानी भक्तका यह स्वभाव है तो श्रद्धालुका यह साधन होना चाहिए। इसे साधन बनाकर श्रद्धालु चले तो उसकी स्थिति क्या है, यह भगवान् बतला रहे हैं।

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रिया! ॥२०॥

'जो कोई भी इस धर्म्यामृतका कही हुई रीतिसे सेवन करते हैं और मुझमें श्रद्धा रखकर मेरे परायण रहते हैं, वे भक्त मुझे अतिशय प्रिय हैं।'

श्रीमद्भागवतमें प्रह्लादजीने अपनी स्तुतिके अन्तमें कहा है—

तत् तेऽर्हत्तम नमःस्तुतिकर्मपूजाः
कर्मस्मृतिश्चरणयोः श्रवणं कथायाम्।
संसेवया त्वयि विनेति षडङ्गया किं
भक्तिं जनः परमहंसगतौ लभेत॥

—भागवत ७.९.५०

'हे परमाराध्य प्रभु! यदि मनुष्यमें आपकी छः अंगोंवाली सेवासे प्राप्त भक्ति न हो तो वह परमहंसपद—मोक्षको कैसे प्राप्त कर सकता है? इसके लिए तो आपको नमस्कार, आपकी स्तुति, आपकी पूजा-क्रियायोग, सब कर्मोंका आपको समर्पण, आपके चरणोंकी स्मृति तथा आपकी कथाका श्रवण—इन छः अंगोंवाली भक्ति मनुष्यमें चाहिए।'

इसमें 'नमस्कार'का अर्थ है अपने अभिमानका त्याग। जैसे नमक देखनेमें कड़ा होता है; किन्तु जिस वस्तुमें डालो, उसमें घुल-मिल जाता है और उसे भी गला देता है, वैसे अपना 'अहं' छोड़कर भगवान्‌में समर्पित हो जाना नमस्कार है। पाञ्चरात्र संहिताओंमें-से 'अहिर्बुध्न्यसंहिता'में कहा गया है—**न मे इति नमः** मेरा कुछ नहीं है, सब प्रभुका है, यह भाव ही नमस्कार है। नमस्कार भावात्मक ही होता है। हाथ जोड़नेका भाव है—'जो कराओगे सो करेंगे', सिर झुकानेका—'मेरी बुद्धि तुम्हारी बुद्धिके अनुसार चलेगी', साष्टांग दण्डवत्‌का—सर्वस्वात्मसमर्पण।

नम्रता अमर होती है और कड़ापन नाशवान् होता है। एक बहुत वृद्ध महात्मासे किसीने उनके अनुभवका सार पूछा तो बोले—'देखो, मेरे मुखमें दाँत हैं?'

पूछनेवालेने कहा—'नहीं।'

महात्मा—'और जीभ?'

'वह तो है।'

महात्मा—'मेरे अनुभवका सार यही है कि जो कड़ा है, वह टूट जाता है; किन्तु जो नम्र है, वह अन्ततक बना रहता है।' भक्तके हृदयमें नम्रता होनी चाहिए।

स्तुति—भगवान्‌के सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता, दयालुता आदि गुणोंका अनुसन्धान। बिना गुणानुसन्धानके सेवा नहीं होती।

कोई स्वामीमें दोष भी देखे और सेवा भी करे तो उसकी सेवा नीरस और अपूर्ण होगी। गुणानुसन्धानसे सेवामें प्रीति उत्पन्न होती है।

कर्म—जो कुछ कर्म करो, केवल प्रभुकी सेवाके लिए ही करो। समस्त कर्मोंका अर्पण भगवान्‌को ही करो।

पूजा—भगवान्‌की परिचर्या, अर्चन।

स्मृति—भगवान्‌के स्वरूपका मनसे चिन्तन।

कथा-श्रवण—भगवान्‌के गुण, माहात्म्य, रूप तथा लीलाको सुनना। भक्तिके ये छः अंग हैं। जब ये जीवनमें आते हैं, तब हृदयमें भक्ति आती है।

वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायां
हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः।
स्मृत्यां शिरस्तवनिवासजगत्प्रणामे
दृष्टिः सतां दर्शनेऽस्तु भवत्तनूनाम्॥

—भा० १०.१०.३८

नल-कूबर मणिग्रीवको जब श्रीकृष्णने अर्जुन वृक्षके रूपसे छुड़ाया तो उन्होंने प्रार्थना करते हुए भक्तिका स्वरूप इस प्रकार सूचित किया है—'हमारी वाणी आपके गुणानुवादमें लगे, हमारे कान आपकी ही कथा सुनें, हमारे हाथ आपके निमित्त ही कर्म करें, हमारा मन आपके श्रीचरणोंके स्मरणमें लगे, हमारा मस्तक आपके निवासभूत संसारको—आपके विराट् स्वरूपको प्रणाम करता रहे और आपकी ही मूर्ति जो सन्त हैं, उनके दर्शन हमारे नेत्रोंको प्राप्त हों।'

महापुरुष भगवान्‌के शरीर हैं। जिसके हृदयमें भगवान् विराजमान हैं, वही तो भगवान्‌का देह है। ऐसे महापुरुषोंके दर्शनमें ही नेत्रोंकी सफलता है। यह भक्तिके छः अंग माने जाते हैं। यह

भक्ति जिसके हृदयमें है, वह तो भगवान्‌का प्यारा है ही; किन्तु जो श्रद्धापूर्वक इसको अपनानेका प्रयत्न करता है, वह भी भगवान्‌को अत्यन्त प्रिय है।

भगवान्‌ने अर्जुनके प्रश्नका उत्तर देते हुए इस अध्यायका प्रारम्भ श्रद्धासे किया था—

श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः।

अब अध्यायका उपसंहार भी श्रद्धासे ही कर रहे हैं। **ये तु धर्म्यामृतमिदम्** इस अध्यायमें जो तैंतीस लक्षण—**अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्** आदि बतलाये गये हैं, वे धर्म्यामृत हैं। जैसे किसीको पुरुषसिंह कहा जाय तो इसका तात्पर्य होता है कि उसमें सिंहके समान शौर्य, वीर्य, बल, पराक्रम है। इसी प्रकार 'धर्म्य' कहनेका तात्पर्य है कि ये **अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्** आदि गुण धर्मयुक्त हैं। इनमें धर्म सदा रहता है, इनसे पृथक् नहीं होता है।

धर्म्यामृतम् विशेषण ध्यान देने योग्य है। धर्म कभी अमृत नहीं होता और अमृत धर्म नहीं होता। धर्म और अमृत एक साथ नहीं रहते। धर्म इस लोकमें किया जाता है, तब उसके फलसे स्वर्ग जानेपर अमृत पीनेको मिलता है। धर्म अमृत होता, उसमें आनन्द आता तो लोग अधर्म क्यों करते? भगवान् व्यासने दुःखी होकर झुंझलाकार कहा है—

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते॥

—महाभारत.

'मैं दोनों हाथ उठाकर पुकार रहा—चिल्ला रहा हूँ, पर कोई मेरी बात सुनता ही नहीं है। अरे! जिससे अर्थ और भोग दोनोंकी प्राप्ति होती है, उस धर्मका सेवन तुम सब क्यों नहीं करते हो?'

लेकिन ये गुण धर्म्यामृत हैं। धर्म और उसके फल अमृतके समान इनका फल इनसे पृथक् नहीं है। धर्म और अमृतके बीचमें तो अदृष्ट है; धर्मका फल मरनेपर मिलता है; किन्तु यहाँ तो एक ही प्यालेमें धर्म तथा अमृत दोनों ढाले गये हैं। जैसे किसीको प्यास लगी और उसे पीनेके लिए गंगाजल मिल गया तो उसकी प्यास तो मिटी ही, गंगाजल पीनेका पुण्य भी हुआ।

दृष्ट्वा जन्मशतं पापं स्नात्वा जन्मशतद्वयम्।
पीत्वा जन्मसहस्राणि हन्ति गंगा कलौ युगे॥

'गंगाजीका दर्शन करनेसे सौ जन्मके पाप नष्ट हो जाते हैं, उनमें स्नान करनेसे दो सौ जन्मके और उनके जलको पीनेसे सहस्र जन्मके पाप नष्ट होते हैं।' यह माहात्म्य, यह पुण्य भी गंगाजल पीनेवालेको प्राप्त हुआ।

इसी प्रकार यो न हृष्यति न द्वेष्टि आदि गुणोंको जो जीवनमें ले आनेका प्रयत्न करता है, उसे उनके पालनकालमें ही सुख-शान्ति मिलती है। उसके इस आचरणसे प्रभु प्रसन्न होते हैं और प्रभुको प्रसन्न देखकर भक्तका हृदय आनन्दित होता है। यह भक्ति मरनेके पश्चात् स्वर्ग जाकर सुख दे, ऐसी नहीं है। यह तो यहीं, इसी जीवनमें, तत्काल सुख देनेवाली है। आप भगवान्को नैवेद्यमें खीर अर्पितकर, चरणामृत लेकर प्रसाद ग्रहण करने बैठे तो आपको खीरका स्वाद, तृप्ति तथा खीरसे होनेवाली पुष्टि तो मिली ही; किन्तु भगवत्प्रसादग्रहणका महान् पुण्य भी हुआ। दूसरे लोग खीर खाते हैं तो उन्हें स्वाद, तृप्ति और पुष्टि मिलती है। यह उनके पूर्वकृत पुण्यका फलभोग है। फल मिला और पुण्य समाप्त। लेकिन भक्तको तो वह पुण्यका फल मिला ही, भगवत्प्रसाद-ग्रहणका नवीन पुण्य भी हो गया। इस प्रकार इसमें कारण-कार्य

दोनों एक हो गये। यहाँ धर्म अमृत हो गया। धर्मका फल नष्ट न होकर बढ़ता गया।

यह धर्म्यामृत ऐसा है कि सत्पुरुषसेवित-अनुमोदित है। शास्त्र और महापुरुष इसकी प्रशंसा करते हैं। धर्ममें तो यज्ञ, दान, तप है, जिनके लिए बहुत सामग्री, विधि तथा कष्ट उठाना पड़ता है; किन्तु इसमें यह सब श्रम नहीं है। इसके सब अधिकारी हैं। यज्ञ, तप आदिमें तो अधिकारीका निर्णय करना पड़ता है। यहाँ इसकी आवश्यकता नहीं है। जो यज्ञादि करता है, उसीको फल देते हैं; किन्तु इनका जो आचरण करता है, उसका प्रभाव समीपके अन्य लोगोंपर भी पड़ता है।

यथोक्तं पर्युपासते जैसा वर्णन किया गया है, वैसे इनकी जो उपासना करता—इन्हें जीवनमें लानेका प्रयत्न करता है। यहाँ यह उपासना करनेवाला ईमानदार साधक है और पहले जिस ज्ञानी भक्तका वर्णन किया गया, उससे पृथक् है, यह बात स्पष्ट है।

ये तु यह पूर्वोक्त ज्ञानी भक्तसे पृथक्ताका सूचक है। गीतामें इस अध्यायमें भी **ये त्वक्षरमनिर्देश्यम्**में ये तु पहले वर्णितसे भिन्नको सूचित करनेके लिए आया है। यहाँ ये तुसे भगवान्ने बताया कि यह अभी भक्त हो नहीं गया है; किन्तु भक्तके लिए जो गुण बताये गये हैं, उनका ईमानदारीसे **यथोक्तम्**—जैसा कहा गया है, उसी रूपमें उपासना करता—उन्हें जीवनमें लानेका प्रयत्न करता है।

अद्वेष्टा सर्वभूतानाम् यह भक्तका तो स्वभाव है; किन्तु यह साधक इसे अपनेमें लानेका प्रयत्न करता है। सावधानीसे देखता है कि मेरे मनमें किसीके प्रति द्वेष तो नहीं है? मनमें द्वेष आजाता है तो उसे मिटानेका प्रयत्न करता है। उसे व्यक्त नहीं होने देता। उसके अनुसार क्रिया नहीं होने देता। जो क्रियापर्यन्त

चेष्टा करता है, वह न भक्त है और न भक्तिका साधक। भक्तिका साधक मनमें दुर्भाव आनेपर भी उसे रोक लेता है। मनमें अपेक्षा, कामना आनेपर भी उसके अनुसार क्रिया नहीं करता, उन्हें रोकता है। एक व्यक्तिके मनमें द्वेष आता है, न आये तो सर्वोत्तम; किन्तु देखना यह है कि उसके अनुसार वह क्रिया तो नहीं करता ? उसके शरीर, वाणी या अंगचेष्टासे क्रिया व्यक्त नहीं होती तो वह अद्वेषका ठीक उपासक है, **यथोक्तं** पर्युपासना है उसकी।

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।

इसमें अर्जुनने भी **पर्युपासते**की ही बात कही थी और भगवान् भी यहाँ **यथोक्तं पर्युपासते**की ही बात कहते हैं। **पर्युपासते**का अर्थ है सम्यक् रीतिसे, सचाईसे उपासना करना। परि-उपासते, जो सद्‌गुण बताये गये हैं, उनके समीप ही रहते हैं। **परि** अर्थात् पास—जहाँ-जहाँ अद्वेषादि सद्‌गुण दीखते हैं, उनके पास रहते हैं। जिनमें ये गुण हैं, उनका ही सङ्ग करते हैं। इन सद्‌गुणोंका ही चिन्तन तथा चर्चा करते हैं।

श्रद्दधाना केवल सद्‌गुणोंकी, अद्वेषादिकी उपासना की जाय, इन गुणोंको ही जीवनमें लाया जाय—इतनेसे न भगवान्‌की प्रसन्नता प्राप्त होती है और न भक्ति। भगवान्‌में श्रद्धा होनी चाहिए। इस श्रद्धामें बड़ी शक्ति है। जब मैं गीताप्रेसमें रहता था तो एक बार भूकम्पपीड़ितोंकी सहायता के लिए गया। साथमें कई लोग थे। श्रीजयदयालजी कसेरा मुख्य थे इस दलमें। हम लोग अन्न तथा कपड़े बाँटनेके लिए नौकामें ले गये थे। बड़ा करुण दृश्य था। गाँवोंके मकान गिर गये थे। लोग चाहे जैसे रहकर दिन काट रहे थे। सब ओर पानी ही पानी और उससे घिरे गाँवोंमें मनुष्य तथा पशु अत्यन्त संकटमें पड़ गये थे। उन्हें आटा-नमक भी मिलना प्राण बचानेवाला साधन था।

एक रातको हम लोग एक गाँवके पास नौका लगाकर भोजनकी व्यवस्थामें लगे थे। इतनेमें समीप ही अनेक लोगोंके बोलनेका स्वर सुनायी पड़ा। थोड़ी देरमें लाठी, भाले लिये बहुत-से लोग आ पहुँचे। वे लूटने आये थे। वहाँ सुरक्षाका कोई साधन नहीं था। पुलिस भला वहाँ कहाँ? मैंने उन लोगोंसे कहा—'आप लोग लूटना चाहते हैं तो लूट ले जाइये। यह सब सामान हम बाँटनेके लिए ही लाये हैं। घर लौटाकर ले नहीं जाना है। अब यदि आप लोग लूटते हैं तो हम दुबारा नहीं आयेंगे।'

उन लोगोंमें-से एक बोला—'चलो, लौटो! इन लोगोंको लूटना ठीक नहीं है। अपने हाथों अपने पैरपर कुल्हाड़ी मत मारो!'

उन लोगोंमें परस्पर मतभेद हो गया। उनमें-से एक बोला—'हम आये हैं तो खाली हाथ लौटकर नहीं जायँगे।'

अन्तमें वे सब इस बातको मान गये कि उन्हें दस-दस सेर अन्न दे दिया जाय और अन्न लेकर वे लौट गये। वे गरीब थे, भूखे थे, उनके परिवार कई-कई दिनोंसे भूखे थे, किन्तु उनमें श्रद्धा थी। उन-जैसे ही दूसरे विपत्तिमें पड़े लोगोंको सहायता मिलना बन्द न हो जाय, इसे उन्होंने महत्त्व दिया।

श्रद्धाका अर्थ है, भगवान्‌के सम्बन्धमें शास्त्र, सत्पुरुष जो कुछ कहते हैं, उसे सत्य मान लेना। उसमें शंका-सन्देह न करना। जैसे कोई कहे—'सब प्राणियोंके प्रति अद्वेष्टा होना, किसीसे द्वेष न करना, यह कैसे हो सकता है? यह भी क्या सम्भव है?' तो यह श्रद्धा नहीं हुई।

शबरीको उसके गुरु मतङ्ग ऋषिने कह दिया—'तेरे यहाँ एक दिन भगवान् श्रीराम आयेंगे!' उसने गाँठ बाँध ली, 'आयेंगे! आयेंगे राम! मेरी झोपड़ीमें त्रिभुवनके स्वामी आयेंगे!' वह प्रातः से सायंतक प्रतिदिन प्रतीक्षा करती, उनके स्वागतकी तैयारी

करतो। 'आज नहीं आये तो कल आयेंगे' श्रद्धा कभी हारती नहीं। भक्तके हृदयमें भगवान्के प्रति सम्पूर्ण विश्वास होता है। अपने साधनमें पूर्ण विश्वास होता है। अपनी सफलतामें पूर्ण विश्वास होता है—'ये सद्गुण मुझमें अवश्य आयेंगे। भगवान् मुझे अवश्य अपनायेंगे।

मत्परमा भगवान्के नाम, रूप, गुण, प्रभावको सुनकर, उन्हें यथावत् सत्य मानकर जो भगवत्परायण हो गये हैं। श्रीरुक्मिणी-जीने ब्राह्मणके हाथ श्रीकृष्णके लिए एक पत्र भेजा था, उसमें उन्होंने लिखा—

श्रुत्वा गुणान् भुवनसुन्दर शृण्वतां ते
निर्विश्य कर्णविवरैर्हरतोऽङ्गतापम्।
रूपं दृशां दृशिमतामखिलार्थलाभं
त्वय्यच्युताविशति चित्तमपत्रपं मे॥

—भागवत १०.५२.३७

'हे भुवनसुन्दर! अकस्मात् देवर्षि नारद हमारे यहाँ आये और उन्होंने तुम्हारे गुणोंका वर्णन किया। कर्णोंके मार्गसे हृदयमें जाकर तुम्हारे गुणोंने हृदयके तापको हर लिया और तुम्हारा सौन्दर्य! तुम्हारा रूप! सुना है कि दृष्टिवालोंकी दृष्टि प्राप्त होनेका लाभ ही यह है कि वे तुम्हारा दर्शन करें। चारों पुरुषार्थ—अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष तुम्हारे दर्शनमें ही मिल जाते हैं। इससे चित्त निर्लज्ज होकर तुममें ही लग गया है।'

श्रीकृष्णचन्द्रको देखा नहीं, केवल सुना और चित्त उनमें लग गया। यह **मत्परमाको** अवस्था है। गोपियोंने—बरसानेकी गोपियोंने देखा नहीं, सुना ही था पहले कि नन्दके लालका अङ्ग-सौन्दर्य ऐसा है कि उसे देखते हुए नेत्रोंकी प्यास बुझती ही नहीं है।

ऐसो कृष्ण नाम, जब तें स्रवन सुन्यौरी माई,
भूली री भौन हौं तो बावरी भई री।
भरि-भरि आवैं नैन, चितहूँ न परै चैन,
मुखहू न आवैं बैन, तनकी दसा कछु और भई री ॥

'जबसे श्रीकृष्णका नाम कानोंमें पड़ा, मुझे तो घर-द्वार सब भूल गया। मैं पगली हो गयी हूँ। मुखसे कुछ बोल नहीं पाती। चित्तमें शान्ति नहीं है।' यह अवस्था केवल नाम-श्रवण करके हो गयी। श्रीकृष्णकी वंशोध्वनि एक दिन कानमें पड़ गयी। अद्भुत महिमा है इस वंशोध्वनि की—

ध्यानं बलात् परमहंसकुलस्य भिन्दन्
निन्वन् सुधामधुरिमाणमधीरधर्मा।
कन्दर्पशासनधुरां मुहुरेव शंसन्
वंशीध्वनिर्जयति कंसनिषूदनस्य ॥

—श्रीरूपगोस्वामी.

'सनकादि परमहंससमुदायका ध्यान बलपूर्वक भंग कर देती है, देवताओंका अमृतपान फीका बनाकर अमृतको निन्दा करती है और घोषणा करती है—'अब जगत्में केवल कामका—श्रीकृष्ण-प्रेमका हो राज्य रहेगा!' कंसनिषूदनकी यह वंशोध्वनि सर्वोपरि विजयशालिनी है।'

श्रीकृष्णका नाम इतना मधुर, इतना प्रिय है कि कानमें पड़ा और मन व्याकुल होकर उसीमें लग गया कि यही हमारे सर्वस्व, हमारे जीवन हैं। लेकिन यह हम सबको क्यों प्रिय नहीं लगता? पित्तके रोगीको मिश्री मीठी नहीं लगती; किन्तु मिश्री ही उसकी दवा है। मीठी न लगनेपर भी वह उसे खाता रहे तो रोग मिटनेपर उसकी मिठास स्वयं प्राप्त होती है। हम सबको वासनाका रोग हो गया है। सांसारिक विषयोंके आसक्तिरूपी रोगसे कृष्णनाम

हमें मधुर नहीं लगता है। इस रोगकी दवा भी यही है कि नाम लेते रहा जाय। रोग मिटनेपर नाम तो मधुर है ही, उसका स्वयं आस्वादन होगा। जब खेत जोतकर तृणहीन करके, नरम बनाकर उसमें बीज डाला जाता है, तब वह अंकुरित होता है। इसी प्रकार राग-द्वेष-ममताका घास-पात निकालकर जब चित्तमें प्रेमकी कोमलता आजाय और तब कृष्ण-नामरूप बीज पड़े तो चित्त कृष्णाकार हो जायगा। यह कृष्णनाम स्वयं तो अत्यन्त मधुर है—

> **तुण्डे ताण्डविनी रतिं वितनुते तुण्डावली लब्धये**
> **कर्णक्रोडकडम्बिनी घटयते कर्णार्बुदेभ्यः स्पृहाम्।**
> **चेतःप्राङ्गणसंगिनी विजयते सर्वेन्द्रियाणां कृतिं**
> **नो जाने जनिता कियद्भिरमृतैः कृष्णेति वर्णद्वयी॥**

—**श्रीरूपगोस्वामी.**

'मुखमें कृष्णनाम आनेपर ऐसी व्याकुलता होती है कि बहुत-सी जिह्वा हों और उन सबसे इसका उच्चारण करके रसास्वादन करें। यह नाम कानमें पड़ता है तो जी करता है कि अरबों कान होते, तब इसे उनसे सुनकर तृप्त होते। चित्तमें जब कृष्णनाम आता है तो चित्त इसे देखने, छूने, सूँघने, रस लेने, सुनने आदि सब इन्द्रियोंके कर्म-व्यापार इससे करने लग जाता है। पता नहीं कितने अमृतसे 'कृष्ण'—इन दो-ढाई अक्षरोंका निर्माण हुआ है!'

श्रीराधाके श्रवणोंमें यह नाम पड़ा और वे व्याकुल हो गयीं। लगा—'बस, यही अपना जीवनसर्वस्व है।' कुछ देरमें कहींसे आती वंशीध्वनि श्रवणमें पड़ी, शरीरकी सुधि भूल गयी। हृदय प्रेममें नाच उठा। इतनेमें मयूरमुकुटी, मेघसुन्दर, पीताम्बरधारी वनमाली नूपुरकी रुनझुन करता मन्द-मन्द मुस्कराता सामनेसे निकल गया। वह अकल्पनीय रूप-छटा दीखी तो श्रीकीर्तिकुमारी मूर्च्छित होकर गिर पड़ीं। सखियोंने सावधान कराया। चित्रा सखीने एक

चित्र लाकर देखनेको कहा। चित्र देखा—'अरे, यह तो उसीका चित्र है, जिसे अभी देखा था!' बोलीं—

> शिशिरयदृशौ दृष्ट्वा दिव्यं किशोरमितीक्षितः
> सखिजनवचोविश्रम्भात् त्वं विलासफलांकितः।
> शिव शिव कथं जानीमस्त्वामवक्रधियो वयं
> निविडवडवावह्निज्वाला - कलापविकासिनम्॥

—श्रीरूपगोस्वामी.

सखीने कहा—'इस दिव्यकिशोरको देखकर नेत्र शीतल कर लो। अतः उस सखीके वचनपर मैंने विश्वास कर लिया। लेकिन हम ग्रामकी गोप-कन्याएँ, सरलचित्ता कैसे जान सकती थीं कि तुम तो हृदयमें प्रचण्डवाडवाग्नि दहकानेवाले हो।'

बड़ी व्याकुलता, बड़ी वेदना, अत्यन्त शोचनीय स्थिति। सखियोंके चले जानेपर ललिता सखीने एकान्तमें इस अवस्थाका कारण पूछा तो भी वृषभानुनन्दिनीने बताया—

> एकस्य श्रुतमेव लुम्पति मतिं कृष्णेति नामाक्षरं
> सान्द्रोन्मादपरम्परामुपनयत्यन्यस्य वंशीकलः।
> एवं स्निग्धघनद्युतिर्मनसि मे लग्नः सकृद्वीक्षणात्
> कष्टं धिक् पुरुषत्रये रतिरभून्मन्ये मृतिः श्रेयसी॥

—श्रीरूपगोस्वामी.

'एकका 'कृष्ण' यह नाम सुना और उस नामने चित्त चुरा लिया। दूसरेकी वंशीध्वनि कानमें पड़ी और चित्त प्रेमसे उन्मत्त हो गया। तीसरेका मेघसुन्दर मनमोहन रूप दृष्टि पड़ी तो तन-मनकी सुधि खो बैठी—मैं एक और तीन पुरुषोंमें मेरा राग—छिः अब तो मर जानेमें ही मेरा कल्याण है।'

ललिताजीने बताया—'भोली सखि! जिस मेघसुन्दरको तुमने देखा है, जिसका यह चित्र तुम्हारे सम्मुख है, इसीका नाम

'कृष्ण' है और यही वंशी बजाकर सबके मन-प्राणोंको उन्मथित करनेवाला है।'

मत्परमा—भगवान्‌का वर्णन सुनकर चित्तका उनमें इस प्रकार लग जाना कि यह दृढ़ निश्चय हो जाय—'जन्म-जन्ममें हम इन्हें ही प्राप्त करेंगे। चाहे जितने जन्म लगें, हम इनको प्राप्त करके ही रहेंगे।'

हमारे जीवनमें जो आनन्द, जो ज्ञान, जो सत्ता—जीवन है, भगवान्‌का ही है। भगवान्‌के बिना न जीवन है, न ज्ञान और न आनन्द—ऐसी दृढ़ श्रद्धा होनी चाहिए। श्रद्धाके बिना परायणता नहीं होती।

श्रद् इति आस्तिकताया अभिधानम्।

'यही सत्य है' 'श्रीकृष्ण ही सत्य हैं'—ऐसी आस्था बना लेनेका नाम श्रद्धा है। सत्य उसीको प्राप्त होता है, जिसने ऐसी आस्था धारण कर ली है।

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणया श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते॥ यजुर्वेद.

जीवनमें कोई व्रत होना चाहिए। धन लेनेमें, भोजनमें, व्यवहारमें कहीं कोई व्रत है, तुम्हारे जीवनमें? जो बिना स्वत्वका-बेईमानीका खायेगा, वह बिना स्वत्वके चाहे जिस स्त्री या पुरुषसे सम्बन्ध क्यों नहीं बनायेगा? जो भोजन नहीं करना चाहिए, उसे किया, जो धन नहीं लेना चाहिए उसे लिया, जो काम नहीं करना था उसे किया, तब वह काम-सम्बन्धमें ही कैसे संयम रख सकेगा? जब स्त्रीको तुमने चाहे जो खाने, चाहे जैसे उपायसे आये धनको लेने, चाहे जहाँ जाने, चाहे जिससे मिलनेके समय नहीं रोका तो वह दूसरे पुरुषसे सम्बन्ध बनाये, इससे रोक भी कैसे सकते हो?

यदि मनुष्यके जीवनमें व्रत नहीं होगा तो उसे किसी कौशलसे रोका नहीं जा सकेगा।

जीवनमें व्रत चाहिए। व्रत होगा तो दीक्षा प्राप्त होती है। शास्त्र, गुरु तथा सत्पुरुषोंका उपदेश तब जीवनपर प्रभाव डालता है, जब जीवनमें व्रत—संयम हो। जब यह उपदेश जीवनको प्रभावित करता है, तब दक्षिणा-निपुणता प्राप्त होती है। निपुणतासे कर्तव्य पालनमें, भगवदुपासनामें रस आने लगता है, जिससे उसमें श्रद्धा होती है।

तुम सत्यको प्राप्त करना चाहते हो? तब उसमें श्रद्धा करो। सत्य प्राप्त हो जायगा, ऐसा विश्वास करो। 'यह मनुष्य विद्वान् है'—यह बात तुमसे कही गयी। मनुष्य तो तुम प्रत्यक्ष देख रहे हो; किन्तु उसकी विद्या तो दीखती नहीं है। अतः पहले विश्वास करो कि वह विद्वान् है। अनजान वस्तुपर विश्वास कर लेनेका नाम श्रद्धा है। श्रद्धा करके उसका संग, उसकी सेवा करोगे तो उसकी विद्याका परिचय प्राप्त होगा। भगवान् जगत्के कारण हैं, अन्तर्यामी हैं, सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, परम कृपालु हैं—यह बात वेद-शास्त्र तथा सब सत्पुरुष कहते हैं। इसे सत्य मान ले, वह श्रद्धालु। **श्रत् इति सत्य नाम** सत्य माननेका नाम श्रद्धा है और जिसमें श्रद्धा है, उसे श्रद्‌धान कहते हैं।

एक बार मैं वृन्दावनमें अष्टावक्र गीताका अनुवाद करा रहा था। मेरे साथ उन दिनों बाबा हितदासजी रहते थे। मैं बोलता था और वे लिखते जाते थे। इस क्रममें एक श्लोक आया—

श्रद्धत्स्व सौम्य श्रद्धत्स्व नात्र मोहं कुरुष्व भो।

उस समय तो उन्होंने यह श्लोक तथा इसका अनुवाद लिख लिया। पीछे मेरे पास आये और बोले—'स्वामीजी! अबतक मैं ऐसा मानता था कि भक्तिके मार्गमें ही श्रद्धा-विश्वासकी

आवश्यकता होती है। ज्ञानका मार्ग तो विवेकका—विचारका मार्ग है। इसमें श्रद्धा—पहलेसे कुछ मान लेनेकी आवश्यकता नहीं होती। लेकिन अष्टावक्र गीता तो वेदान्तका ग्रन्थ है। इसमें यह **श्रद्धत्स्व सौम्य** वाली बात क्यों कही गयी है? क्या ज्ञानके मार्गमें भी श्रद्धाकी कोई आवश्यकता है?'

मैंने उनसे कहा—'ज्ञानके मार्गमें भी प्रारम्भमें श्रद्धाकी ही आवश्यकता होती है। परमार्थके मार्गमें चलनेके लिए जिज्ञासुके लिए जो पूंजी—सम्पत्ति आवश्यक बतायी गयी है, उन षट् सम्पत्तियोंमें एक श्रद्धा भी है। उपनिषद्में आया है—

श्रद्धावित्तो भूत्वा आत्मन्येवात्मानं पश्येत्।

श्रद्धाकी पूंजी लेकर अपने-आपसे ही अपने-आपका अनुभव करे। जैसे साड़ी खरीदना हो तो रुपये चाहिए, वैसे ही परमार्थके पथमें चलना हो तो श्रद्धा चाहिए। यह प्रायः कहा जाता है कि श्रद्धा अन्धी होती है; किन्तु एक मनुष्य अपनी समझ तथा दूसरोंकी सम्मतिके अनुसार काम करता है और दूसरा मनुष्य केवल अपनी बुद्धिके अनुसार ही आचरण करता है तो दोनोंमें अन्धा कौन है? जो अपने माता-पिता, गुरु तथा अनुभवी लोगोंके विद्यमान रहते भी **स्वबुद्धिश्रद्धान्ध** है, अन्धा तो वह है। अन्धेको रास्ता बतलाओ तो उसके अनुसार वह अपनी दिशा बदल लेता है; किन्तु यह तो कुएँमें ही गिरेगा। अपनी बुद्धिपर बहुत अधिक अभिमान होनेसे ही कहीं श्रद्धा नहीं होती। दूसरोंपर तुम्हारा विश्वास नहीं। संसारमें कोई तुम्हारा विश्वासपात्र नहीं, जिसकी बात तुम मान सको। यह तो बड़ी असहायावस्था है। संसारसागरमें डूबनेकी स्थिति है यह।'

मेरी बात सुनकर वे बोले—'जब वेदान्तमें भी श्रद्धाकी आवश्यकता है, तब मैं भगवान्में ही श्रद्धा करके उनके भजनमें

लगता हूँ। श्रद्धा ही करना है यो यह घट-पटकी खटपट कौन करे ? तब तो भगवन्नाम लेना ही ठीक है।

श्रद्धाके बिना मनुष्य एक स्थानपर टिक नहीं सकता। अनदेखे भगवान्‌की प्राप्तिके लिए अनदेखे मार्गसे चलना है। तुम्हें बम्बईसे मोटर द्वारा मद्रास जाना है। पहली बार तो तुमको ड्राइवरपर, पथ-प्रदर्शक मानचित्रपर, मार्गपर मार्गमें ठहरनेके स्थान मिलेंगे, इसपर विश्वास करके ही यात्रा करनी होगी। ऐसे ही इस परमार्थके मार्गमें लक्ष्य भगवान्‌पर, उनकी प्राप्तिके साधनपर तथा मार्ग दिखाने-बतानेवाले गुरुपर श्रद्धा करोगे, तभी अभी आगे बढ़ सकोगे। श्रद्धा जीवनका एक तत्त्व है। उसके बिना तो संसारका साधारण व्यवहार भी नहीं चलता। तुम दूकानदारपर श्रद्धा न करो और पहले वस्तु लेकर मूल्य देना चाहो तथा दूकानदार तुमपर श्रद्धा न करे, पहले मूल्य लेकर तब वस्तु देना चाहे तो व्यवहार चलेगा ? संसारका जीवन ही श्रद्धाके आश्रयसे चल रहा है।

किमुत्पथस्थः कुशलाय कल्पते।

जो उत्पथसे चलता है, उसकी कोई रक्षा नहीं कर सकता। उसकी कुशल हो नहीं सकती। अतएव शास्त्र-गुरु-सत्पुरुष वर्गकी सम्मतिसे सत्पथपर श्रद्धा करके चलो। जो सत्पथपर है, उसे कोई गिरा नहीं सकता। उसकी हानि कोई नहीं कर सकता।

अब कहो कि बिना जाने श्रद्धा करनेमें खतरा तो है ही; तो यह खतरा उठानेको तैयार हुए बिना दूसरा मार्ग नहीं है। जो खतरा नहीं उठाता, वह लाभसे भी वञ्चित रहता है। यदि ईश्वरको पाना हो तो जीवको दावपर रखना पड़ता है। जीवको पाना हो तो देहको बाजीपर रखना पड़ता है और ब्रह्म तथा आत्माके एकत्वका ज्ञान प्राप्त करना हो तो कार्य-कारणरूप

प्रपञ्चको बाजीपर रखना पड़ता है। यह जुआ खेले बिना छुटकारा नहीं है। प्रति सप्ताह हवाई दुर्घटनाएँ होती हैं, प्रतिदिन कहीं-न-कहीं मोटर-दुर्घटनाएँ होती हैं, रेल-दुर्घटनाएँ भी होती ही हैं। इन सबके माध्यमसे यात्रा करना क्या प्राणोंका जुआ खेलना नहीं है ? लेकिन क्या इसीसे लोग यात्रा करना बन्द कर दें ? लोग तो अपना जीवन-बीमा कराके तब वायुयानसे यात्रा करते हैं। संसारमें तुम प्रतिदिन इतना खतरा उठाकर व्यवहार करते हो और ईश्वरकी प्राप्तिके लिए—परमार्थके मार्गपर चलनेके लिए थोड़ा भी खतरा उठानेको उद्यत नहीं हो, तब यह कैसे माना जाय कि तुम परमार्थके मार्गपर चलना चाहते हो ? अतः यदि तुम इस मार्गपर चलना चाहते हो तो श्रद्धा करके ही चल सकोगे।

मत्परमा—अहमेव परमो प्राप्तव्यो येषाम् मनमें दृढ़ निश्चय हो कि मेरा प्राप्तव्य परमेश्वर ही है, दूसरा कुछ नहीं। **मत्परमः** वह भगवान् ही मेरा रक्षक है। गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा—

यह छर भार तासु तुलसी जग जाको दास कहैहौं॥

'हम जिसके सेवक हैं, उसीपर हमारा सब भार है। वह जैसे रखेगा, वैसे रहेंगे। वह जिलाये तो जीवित हैं अन्यथा उस प्रियतमके हाथसे मरना भी हमें प्रिय है।'

इस प्रकार श्रद्धा करके जो भगवान्‌के ही परायण हो गया है, भगवान् कहते हैं कि ऐसा भक्त मुझे अतिशय प्रिय है **भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः**। भगवान्‌के शब्द यहाँ ध्यान देने योग्य हैं। जो ज्ञानी भक्त हैं, जिनमें **अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्** आदि गुण विद्यमान हैं, उन्हें तो भगवान्‌ने केवल 'प्रिय' कहा और जिसमें वे गुण अभी आये नहीं हैं, उन्हें अपनेमें लानेका प्रयत्न कर रहा है, जिसे अभी भगवान् मिले भी नहीं हैं, केवल श्रद्धा करके जो भगवान्‌के परायण

हुआ है, उसे भगवान् 'अतीव प्रिय' कह रहे हैं। यह बात कुछ अटपटी जान पड़ती है।

यहाँ विचार करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि यह भक्त अभी शिशुके समान है। अभी यह चलनेका प्रयत्न कर रहा है। इसे प्रोत्साहनकी आवश्यकता अधिक है।

जो ज्ञानी भक्त हैं, जिन्होंने भगवान्‌को प्राप्त कर लिया है, भगवान्‌के सौन्दर्य-माधुर्यका जो रसास्वादन कर रहे हैं, उनका प्रेम यदि भगवान्‌से है तो इसमें विशेषता क्या है? उनका प्रेम भगवान्‌से न हो, तभी आश्चर्यकी बात होती। अद्वेषादि गुण उनमें स्वभावसे ही आगये हैं। इसके लिए भी उन्हें कुछ करना तो पड़ता नहीं है। जिसने सबमें ईश्वरका दर्शन कर लिया, वह किसीसे द्वेष नहीं करता तो बड़ी बात क्या करता है? उसे जब सामने शत्रु में भी ईश्वर दीखता है तो उससे द्वेष वह कर भी कैसे सकता है? लेकिन जिसने ईश्वरको देखा नहीं, उसके सौन्दर्य-माधुर्यका रस जिसने पिया नहीं, वह केवल सुनकर उस सुनी हुई बातमें श्रद्धा करके ईश्वरके परायण होगया, ईश्वरसे प्रेम करने लगा, उससे ईश्वरको अत्यन्त प्रेम होना ही चाहिए। उसे तो शत्रुमें ईश्वर दीखता नहीं, दीखता सामने शत्रु है; किन्तु सुना है कि सबमें भगवान् हैं, इसलिए शत्रुके प्रति द्वेष मनमें न आये, इस प्रयत्नमें लगा है। भगवान्‌को ऐसा बालक, प्रयत्नशील श्रद्धालु भक्त अतिशय प्रिय है।

साधक भक्त नन्हें बच्चेकी भाँति हैं। माता-पिता अपने सभी पुत्रोंसे प्यार करते हैं; किन्तु छोटे बच्चेपर उनका स्नेह स्वाभाविक ही अधिक होता है। भगवान् प्यार तो ज्ञानी भक्तको भी करते हैं; किन्तु इस साधक भक्तको अतिशय प्यार करते हैं। जिसमें

भक्ति अत्यन्त पुष्ट है, उससे कम और जो भक्ति-प्राप्त करनेके मार्गमें चल रहा है, उसे अधिक प्यार, यह बात साधारण व्यक्तिको उलटी लग सकती है। लेकिन भगवान् व्यापारी नहीं हैं कि भक्तिके बदलेमें अपने स्नेहका सौदा तौल-तौलकर देंगे। वे तो यह देखते हैं कि अधिक प्रोत्साहन देनेकी किसे आवश्यकता है?

यह सृष्टि भगवान्का एक खेल है। इसमें वे जीवोंके नित्य-सखा अपने मित्रजीवोंके साथ आँखमिचौनीका खेल खेल रहे हैं। प्रलयकालमें सब जीव अविद्याके अन्धकारमें छिप जाते हैं और ईश्वर उन्हें वहाँसे ढूँढ़-ढूँढ़कर जगाता-निकालता है। जीव उस अन्धकारसे निकल आये, सृष्टि हो गयी तो ईश्वर इसमें छिप गया। अब जीवोंको अपने उस परम मित्रको ढूँढ़ना है। लेकिन अधिकांश जीव तो इस ईश्वरकी मायाको, जिसके पीछे वह छिपा है, देखकर मोहित हो गये। पर्देके पीछे कौन छिपा है, यह देखनेकी याद ही नहीं रही। वे पर्देके रूपपर ही मुग्ध होकर उसीमें उलझ गये हैं। यहीं खाने-पीने, देखने-सुननेमें लग गये हैं।

कुछ ऐसे जीव भी हैं जो पर्देके रूप-रंगमें उलझे नहीं। वे उस अपने सखाको ढूँढ़नेमें लगे। लेकिन जब बाहर ढूँढ़नेसे वह नहीं मिला तो नेत्र बंद करसे बैठ गये—'कहीं हमारे भीतर ही तो वह नहीं छिपा बैठा है?' यह सोचकर वे धारणा, ध्यान, समाधिमें लग गये।

कुछ ऐसे चतुर निकले जिन्होंने भगवान्को देखे बिना ही चिल्लाना प्रारम्भ कर दिया—'हमने देख लिया! देख लिया!' ये वेदान्ती लोग हैं। परमब्रह्मको वृत्तिका विषय बनाकर देखा तो जा नहीं सकता। कल्पित अज्ञानकी निवृत्ति कल्पित ज्ञानसे होती है। झूठ-मूठ ही पुकारने लगे—'देख लिया!' तब वह स्वयं प्रकट

हो गया और बोला—'देख लिया तो ठीक है। जब देख ही लिया तो तुमसे छिपना क्या ? हम तुम दोनों दो तो हैं नहीं। एक ही हैं।'

कुछ ऐसे भी निकले जो न भोगमें लगे और न उन्होंने अपनेमें योग करने अथवा बुद्धिसे विवेक करनेकी शक्ति देखी। वे रोने लगे—'मित्र ! तुम कहाँ छिप गये ? हम तुम्हें ढूँढ़नेमें असमर्थ हैं और तुम्हारे बिना हमसे रहा भी नहीं जाता। तुम्हारे लिए हमारे प्राण छटपटा रहे हैं। तुम स्वयं कृपा करके आजाओ !'

भगवान् ऐसे भक्तोंके सम्मुख स्वयं कृपा करके आजाते हैं। वे परम कृपामय अपने सखाओंको रोता नहीं देख पाते। उनकी प्राप्तिका मार्ग है, उनके लिए रोना। रासलीलामें जब श्रीकृष्ण अन्तर्धान हो गये और गोपियाँ उन्हें ढूँढ़-ढूँढ़कर हार गयीं, तब यमुनापुलिनपर बैठकर रुदन करने लगीं। उनके रुदनसे द्रवित होकर श्यामसुन्दर उनके बीचमें प्रकट हो गये। रोये बिना उस प्रियतमकी प्राप्ति नहीं होती। जब भगवत्प्राप्तिकी लालसा प्राणोंमें जागती है और प्राण उस प्रभुसे मिलनेको व्याकुल होकर तड़प उठते हैं, तब भगवान् हृदयमें-से हो निकल आते हैं। उस व्याकुलतासे ही भगवत्प्रेम प्रकट होता है।

हँस हँस कन्त न पाइयाँ, जिन पाया तिन रोये।

जहाँ धर्म साधन है, वहाँ उसका फल है अमृत। 'धर्म्य' साधन है और अमृत उसका फल है। श्रद्धा साधन है और मत्परमा उसका फल है। भक्तिमें प्यास भी है और तृप्ति भी। प्यास होनेसे तो भक्ति साधन है और तृप्ति होनेसे फल है। यदि भक्तिमें केवल प्यास ही प्यास होती तो साधक निराश हो जाता और उसकी भक्ति शिथिल पड़ जाती। यदि भक्तिमें तृप्ति हो तृप्ति होती तो

उत्कण्ठाके अभावसे उसमें शिथिलता आजाती। लेकिन भक्ति तो प्यास-तृप्ति, साधन-फल उभयात्मिका है। **धर्म्यामृतम्**से धर्म और उसका फल दोनों भक्तिमें हैं, यह कहा गया है और **श्रद्दधाना मत्परमा**से कहा गया कि भगवान्‌को ही अपना परम प्राप्तव्य मान-कर श्रद्धाका साधन लेकर वह चला है। ऐसा भक्त भगवान्‌को अतिशय प्रिय है।

इस श्लोकका एक दूसरा अभिप्राय भी निकाला जाता है। **ये तु**से भगवान्‌ने यह बता दिया कि यह भक्त पहले वर्णित सिद्ध-ज्ञानी भक्तसे विलक्षण है। **धर्म्यामृत** मृत कहते हैं जगत्‌को। एक पुस्तक मैंने कभी देखी थी, उसमें इस जगत्‌का वर्णन महा-श्मशानके रूपमें किया गया था। यह संसार ही शिवका महा-श्मशान है। इसमें जीवन्त केवल शिव है। वे ब्रह्म हैं। ये जितने चलते-फिरते प्राणी दीखते हैं, ये तो मृत्युग्रस्त हैं। अतएव जगत् मृत है और अविनाशी चेतन अमृत है। वह अचेतन दो रूपोंमें है—सगुण और निर्गुण। सगुण चेतन ही धर्म्यामृत है। क्योंकि जिसमें करुणा, दया, सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता आदि धर्म सदा बने रहें वह धर्म्य सगुण ही होगा और वह अमृत-अविनाशी है। उसीमें यह जगत् स्थित है।

वेदान्तकी साधनामें नाम-रूपका तिरस्कार करके चिन्मात्र वस्तुको अपनेसे अभिन्न अनुभव करते हैं। नाम-रूपका बाध करके जो अखण्ड चिन्मात्र अमृततत्त्व है, वह अपनेसे अभिन्न है, इस अनुभूतिका नाम ज्ञान है। लेकिन इस अध्यायमें वर्णित भक्ति इससे विलक्षण है। जैसे स्वर्णका प्रेमी स्वर्णमें बनी मूर्तिको फेंकता नहीं, जैसे मिट्टीका प्रेमी मिट्टीसे बने घड़ेको फोड़ता नहीं, इसी प्रकार परमात्माका प्रेमी जगत्‌के अभिन्ननिमित्तोपादान-कारण परमात्माको जगत्‌के एक-एक कणमें अनुभव करता है। इसमें

नाम-रूपके निषेधकी आवश्यकता नहीं होती। सर्वरूपमें प्रभु प्रकट हैं। इनकी उपासनाके लिए केवल दो बातें आवश्यक हैं— हृदयमें प्रीति और अहिंसा।

जो सर्वातीत परमात्माको मानते हैं; वे सर्वकी हिंसा करके ही उसको प्राप्त कर सकते हैं। धर्ममें तो हिंसा है ही। बिना क्रियाके धर्म नहीं होता और प्रत्येक क्रियामें कुछ न कुछ हिंसा होती ही है। योगमें दृश्यका परित्यागरूप हिंसा है, वेदान्तमें तत्त्वज्ञानसे नाम-रूपका बाधरूप हिंसा है; लेकिन जो परमात्माको सर्वरूपमें देखता है, वह किसीको कष्ट नहीं दे सकता। अद्वेषादि उसके गुण यही सूचित करनेको हैं कि वह किसीको कष्ट न दे। ये सब गुण जो बताये गये हैं, वे यह समझाते हैं कि सर्वरूपमें दीखनेवाले परमात्माके साथ भक्त कैसे व्यवहार करता है ?

धर्म्यं धर्मसे नित्ययुक्त अर्थात् सगुण ब्रह्म। उसकी पर्युपासना कैसे ? यथोक्तम् अद्वेष, मैत्री, करुणा आदि जो गुण बताये गये हैं, उनके द्वारा। क्या यह सम्भव है कि एक मनुष्य अपने दाहिने हाथसे प्रेम करे और बायें हाथसे द्वेष करे ? जो ईश्वरसे प्रेम करता है, वह ईश्वरके सर्वाङ्गसे प्रेम करता है, मुसलमान मूर्ति-पूजाके विरोधी होनेपर भी आज १४०० वर्ष बीत जानेपर भी हजरत मुहम्मद साहबके बालसे कितना प्रेम करते हैं ? बौद्ध शून्यवादी हैं, किन्तु बुद्धके दाँतसे उनका कितना प्रेम है ? जिस वृक्षके नीचे तथागतको बोधप्राप्ति हुई, उसकी टहनियोंका वे कितना सम्मान करते हैं। मनुष्य जिससे प्रेम करता है, उसके एक-एक रोमसे, उसके सम्बन्ध-सम्पर्कमें आनेवाली प्रत्येक वस्तुसे प्रेम करता है। अतः जो सर्वरूप परमात्मासे प्रेम करता है, वह जगत्‌में सबसे प्रेम करता है।

निर्गुण-निराकारकी उपासना वैराग्यप्रधान है। उसमें केवल सत्यसे प्रेम है। जो असत् प्रतीत हो, उसका त्याग करो। सर्वातीतसे प्रेम करनेपर सर्वके प्रति वैराग्य होगा। लेकिन परमात्माको सर्वरूप माननेपर अहिंसा मुख्य धर्म होगा। किसीको कष्ट मत दो। किसीको भी कष्ट दोगे तो ईश्वर भूल जायगा।

श्रद्दधाना मत्परमा उस ईश्वरपर, उसकी सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता, दयालुतापर श्रद्धा करो। वह हमें प्राप्त होगा, यह श्रद्धा रखो। बीचमें रुको मत। जीवनका परम प्रयोजन ईश्वरकी प्राप्ति ही है, यह मानकर लगे रहो। प्रभुकी कृपापर ही निर्भर रहो। अपने साधनका अभिमान मत करो।

योगी कह सकता है कि 'मैंने अपने साधनसे, अपने बल-पौरुषसे समाधि प्राप्त की है। क्योंकि आसन, प्राणायाम, प्रत्याहारका अभ्यास यम-नियमपालनपूर्वक करके उसने धारणा दृढ़ की तो ध्यान हुआ और वृत्तियोंका प्रतिलोम परिणाम होनेसे समाधिकी प्राप्ति हुई। जहाँ शब्द, अर्थ और ज्ञान अथवा रूप, सङ्कल्प और शब्द एक हुए, वहाँ परमात्माका साक्षात्कार हुआ। लेकिन भक्त 'इस प्रकार अपने साधनसे भगवान्‌को प्राप्त किया'—ऐसा नहीं कह सकता।

किसीके घर कोई महात्मा पधारे तो वे उस गृहस्थकी श्रद्धासे प्रेमसे प्रसन्न होकर स्वयं कृपापूर्वक आये। उसकी पूजा या भेंटसे आकर्षित होकर नहीं आये। जैसे नौकर, वकील या डाक्टरको उनकी निश्चित राशि देकर बुला सकते हो, वैसे महात्मा नहीं आया करते। इसी प्रकार ईश्वर किसीके साधनसे वशमें नहीं होता। **मत्परमा** उसीकी कृपापर भरोसा करो। परमात्मा स्वयं कृपा करके ही मिलेगा। जो अनजान होता है, उसे विश्वास करना पड़ता है। शिष्य गुरुसे कहे—'आप मुझपर विश्वास करें। मैं

आपके भलेका ही काम करता हूं।' तो यह उलटी बात हुई। विश्वास शिष्यको गुरुका करना पड़ता है।

जौं सिर काटे हरि मिले, तौ सिर दीजिय दौरि।

भगवत्प्राप्ति यदि प्राण देनेसे होती हो तो बहुत सस्ती है। लेकिन सगुण ईश्वरकी आराधनामें प्राण देनेकी आवश्यकता नहीं है। केवल चार बातें चाहिए—भगवान्की आराधना, अद्वेषादि गुण अपनेमें ले आना, हृदयमें दृढ़ श्रद्धा और जीवनका परम उद्देश्य भगवत्प्राप्तिको ही मानना।

गीतामें **मत्परः** यह शब्द कई बार आया है। इसी अध्यायमें **युक्त आसीत् मत्परः** है। इसका तात्पर्य है कि भक्तिमार्गमें भगवान्को ही सर्वश्रेष्ठ एवं एकमात्र आश्रय बनाना मुख्य है। भक्तिके अतिरिक्त कोई साधनमें रुचि हुई अथवा भक्तिको छोड़कर कुछ भी और पानेकी चाह हुई तो भक्ति गौण होगयी। भक्त तो वह है जो भक्ति करते हुए भी भगवान्को ही चाहता है और वे अपनी कृपासे ही प्राप्त होंगे, यह विश्वास करता है। भगवान् कहते हैं—'ऐसे भक्त मुझे अतीव प्रिय हैं। यह **अतीव** शब्द अव्यय है। अव्यय होनेसे यह सूचित करता है कि ऐसे भक्त केवल आज या कुछ कालको ही नहीं, सदाके लिए प्रिय हैं। उनपर भगवान्का प्रेम कभी घटेगा नहीं।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥

●

उपसंहार

इस बारहवें अध्यायके प्रारम्भमें अर्जुनने प्रश्न किया था—'जो निर्गुण निराकारकी उपासना करते हैं और जो सगुणकी आराधनामें लगे हैं, इन दोनोंमें श्रेष्ठ योगवेत्ता कौन है ?'

भगवान्‌ने इसके उत्तरमें कहा कि सगुणोपासना सुगम है। यह बात समझानेके लिए ही इस पूरे अध्यायकी प्रवृत्ति है। लेकिन लगता है कि इस अध्यायमें भक्तियोगका निरूपण करके, गीताके आगेके सब अध्याय इसीकी पुष्टिमें, इसीकी व्याख्यामें कहे गये हैं।

तेरहवें अध्यायमें ज्ञानके लक्षण बतलाते हुए भगवान्‌ने कहा—

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।

अन्तमें ज्ञानके सब लक्षण बतलाकर कहते हैं—

एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा।

अब इन दोनों बातोंको मिलाकर देखा जाय तो—

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ज्ञानम्, यदतोऽन्यथा अज्ञानम्।

यह बात स्पष्ट होती है। अर्थात् भगवान्‌में अनन्यभावसे अव्यभिचारिणी भक्ति होना ज्ञान है और इससे भिन्न—भगवान्‌में भक्ति न होना, अनन्यभावसे भक्ति न होना या भक्तिका व्यभिचरित होना अज्ञान है। यहाँ जो ज्ञानके लक्षण हैं, वे ज्ञानके साधन हैं और उनमें भक्ति है।

यह तेरहवाँ अध्याय ज्ञानके प्रसङ्गका है, फिर भी इसमें कहा गया—

मद्भक्त एतद् विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते।

मुझे कौन जानता है ? मद्भक्त। अर्थात् ज्ञानका अधिकारी भक्त। विज्ञाय हुआ साधन और मद्भाव हुआ फल। भक्ति करनेसे मनुष्य ज्ञानका अधिकारी होता है, यह बात तेरहवें अध्यायमें कही गयी।

चौदहवाँ अध्याय मुझे बचपनसे बहुत प्रिय रहा है। इसमें गुणातीत होनेके साधन बताये गये हैं। सामान्य दृष्टिसे लगता है कि इस अध्यायमें द्रष्टा-दृश्यका विवेक ही है। गुण ही कर्ता हैं और मैं असंग द्रष्टा हूँ, ऐसा चिन्तन ही इसमें मुख्य है।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥ १४.१९

लेकिन जब पुरुष त्वं पदार्थके चिन्तनसे गुणातीत हो सकता है, तब तत् पदार्थके चिन्तनसे वह गुणातीत क्यों नहीं होगा ? इसलिए अध्यायका उपसंहार करते हुए भगवान्‌ने कहा—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ १४.२६

तेरहवें अध्यायमें ज्ञानकी प्राप्तिके लिए मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी कहा था और उसी अव्यभिचारिणी अनन्य भक्तिको यहाँ गुणातीत होनेका भी साधन बतलाया।

पन्द्रहवें अध्यायमें इस बातको स्पष्ट कर देते हैं कि भक्ति केवल निर्गुण-निराकारके साक्षात्कारका उपाय ही नहीं है। वह गुणातीत होनेका साधनमात्र नहीं है। निर्गुण-निराकारका साक्षात्कार होजानेपर, गुणातीत होजानेपर भी भक्ति रहती है।

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥ १५.१९

स सर्वविद् वह सर्वको—ब्रह्मको जाननेवाला है; अतः तत्त्ववेत्ता ज्ञानीको आज्ञा तो कोई दी नहीं जा सकती; लेकिन

उसका स्वभाव भजन करना हो जाता है, यह इसमें बताया गया। सर्वविद् ज्ञानीका ही विशेषण है।

यस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति। श्रुति.

श्रुति कहती है—'जिसके जान लेनेपर सब जाना हुआ हो जाता है।' उस पुरुषोत्तमको वह आत्मरूपसे अनुभव कर चुका है। वह सर्ववित् भी सर्वभावसे भजन करता है।

जीवन मुकुत ब्रह्म पर चरित सुनहिं तजि ध्यान।

सोलहवें अध्यायमें जो दैवी सम्पत्तिका वर्णन है, वह बारहवें अध्यायमें बताये गये अद्वेष्टा सर्वभूतानाम् आदि गुणोंके साधन-रूपमें ही है। भगवान्ने आसुरी सम्पत्तिके वर्णनमें इस अध्यायमें कहा—

मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्।

'मुझे न प्राप्त करके (आसुरी सम्पत्तिके प्राणी) अधम गतिको जाते हैं।' इससे भी यही बात सिद्ध हुई कि इसी जीवनमें भगवत्प्राप्तिका साधन करना मनुष्यके लिए आवश्यक है।

सत्रहवें अध्यायमें तो उस श्रद्धाकी ही व्याख्या है, जिससे बारहवें अध्यायका उपक्रम और उपसंहार हुआ है। यह सत्रहवाँ अध्याय बारहवें अध्यायके अन्तिम श्लोकमें आये श्रद्दधानाकी व्याख्या है।

अठारहवें अध्यायमें मत्परमाकी व्याख्या भगवान्ने की है। इस प्रकार बारहवें अध्यायके बादके छः अध्याय इसी भक्तियोगकी पुष्टि एवं समर्थनमें ही कहे गये हों, ऐसा लगता है।

अठारहवें अध्यायमें भगवान्ने सिद्धि-प्राप्तिके दो उपाय बताये हैं। उनमें-से एक मार्ग है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥ १८.४६

मानवः यह अधिकारीका निरूपण है। मनुष्य अधिकारी है। **स्वकर्मणा** साधनका स्वरूप है। अपने कर्तव्य कर्मसे ही उसकी अर्चा करनी है। **यतः प्रवृत्तिर्भूतानाम्** यह अर्चनीय ईश्वरका स्वरूप है। जगत्का निमित्तकारण ईश्वर है, **यतः प्रवृत्तिः**से बताया और जगत्का उपादानकारण भी ईश्वर ही है, यह **येन सर्वमिदं ततम्**से कहा। **सिद्धिं विन्दति** यह फलका निरूपण है।

जगत्का उपादान एवं निमित्तकारण ईश्वर है, यह आराध्य-तत्त्वका ज्ञान है। अपने कर्मसे उसकी अर्चा करना, यह आराधनाका स्वरूप-निरूपण हुआ। ऐसे कर्म मत करो जिससे किसीके जीवन तथा धर्मपालनमें बाधा पड़े। सबके जीवन तथा धर्म पालनमें सहायता करो। यह ईश्वरकी आराधना है। इससे मनुष्य सिद्धि प्राप्त करता है।

नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति।

मनुष्य संन्यास अर्थात् त्यागसे परम नैष्कर्म्य रूप सिद्धि पाता है। यह सिद्धिकी प्राप्तिका दूसरा मार्ग है।

सिद्धिका अर्थ है अन्तःकरणकी शुद्धि। भजन करके तत् पदार्थकी प्रधानतासे अन्तःकरणको शुद्ध करो अथवा तत्त्वविवेकके द्वारा त्वं पदार्थकी प्रधानतासे अन्तःकरणको शुद्ध करो। अन्तः-करणकी शुद्धि रूप सिद्धिको प्राप्त करनेके यही दो मार्ग हैं।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।

'सिद्धिको प्राप्त करके अर्थात् अन्तःकरणकी शुद्धि हो जानेपर जैसे ब्रह्मको प्राप्त होता है, वह मुझसे सुनो!'

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

१८.५१–५३

इसमें **बुद्ध्या विशुद्धया युक्तः**से लेकर अन्त तक जो साधन कहे गये, वे जीवनमें आजायँ तो ममता-अहंकारादिसे रहित होनेपर **ब्रह्मभूयाय कल्पते**। अर्थात् यह अपना आत्मा ही सर्वदेश, सर्वकाल, सर्ववस्तुका प्रकाशक है—यह ज्ञान तुमको हो जायगा।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ १८.१४
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥ १८.५५

भक्ति केवल ज्ञान प्राप्ति अथवा गुणातीत होनेमें ही सहायक नहीं है। **ब्रह्मभूतः** ज्ञानकी प्राप्तिके पश्चात् **मद्भक्तिं लभते पराम्** यह भक्ति-प्राप्त जो भक्त है, उसीको भगवान्ने **मद्भक्तः** कहा है।

पूर्वमीमांसामें **भक्तिर्लक्षणा** यह परिभाषा की गयी है। **तत्त्वमसि** महावाक्यमें जो भाग-त्यागलक्षणा है, उसीको भक्ति कहते हैं। अविद्यानिवर्तक ब्रह्माकार वृत्तिका नाम भक्ति नहीं है। यह ब्रह्माकार वृत्ति तो निवृत्त करके तुरन्त शान्त हो जाती है। अविद्या निवृत्त हो जानेपर ज्ञानीमें यावज्जीवनमें बनी रहनेवाली ब्रह्ममयी वृत्तिका नाम भक्ति है।

भगवान्ने यहाँ बातको बहुत स्पष्ट रूपमें कहा है। वे कहते हैं **भक्त्या मामभिजानाति** मुझसे परिचय भक्तिके द्वारा होता है। किसीको देख लेना ही उससे परिचय होना नहीं है। एक व्यक्ति

प्रतिदिन तुम्हारे द्वारके सामनेसे जाता है और तुम उसे प्रतिदिन देखते हो। लेकिन इसका नाम परिचय तो नहीं है। परिचय होता है सेवासे।

प्रतिदिन सुषुप्तिमें आत्मा अकर्ता-अभोक्ता रहता है। सबको प्रतिदिन कई घण्टे यह अवस्था प्राप्त होती है; किन्तु क्या इससे ब्रह्मज्ञान होता है? सुषुप्तिमें सुखी-दुःखीपना, कर्ता-भोक्तापना, सब छूट जाता है। सब सम्बन्ध, सब अभिमान लीन हो जाते हैं; किन्तु इससे ब्रह्मज्ञान नहीं होता। जबतक श्रवण-मनन-निदिध्यासन नहीं किया जाता, ज्ञान नहीं होता है। परमात्माको देखना ही पर्याप्त नहीं है, उसका अभिज्ञान चाहिए।

अभिज्ञानका अर्थ है विशेष पहचान। दुष्यन्तने वनमें शकुन्तलाको पत्नी-रूपमें स्वीकार किया तो उसे अपनी अँगूठी दी। यह अँगूठी इस मिलनका अभिज्ञान—विशेष पहचान थी। शकुन्तला जब दुष्यन्तसे मिलने चली, तब प्रेमके आवेशमें उसने मार्गके समीप स्थित दुर्वासाजीकी ओर ध्यान नहीं दिया। उन्हें प्रणाम नहीं किया। दुर्वासा ऋषिको शकुन्तलाका प्रेम तो रुचा; किन्तु आदरणीयका आदर न करना, यह धर्मका उल्लंघन नहीं रुचा। उन्होंने शाप दे दिया—'तुम जिससे मिलनेके आवेशमें धर्मकी उपेक्षा कर रही हो, वह तुम्हें पहचानेगा ही नहीं। तुम्हें जो अभिज्ञान—विशेष पहचानकी अँगूठी मिली है, वह खो जायेगी। राजा दुष्यन्त तुम्हें तब पहचानेगा, जब वह अँगूठी फिर मिल जायगी।'

अँगूठीकी भाँतिका जो बाहरी अभिज्ञान है, वह खो सकता है; किन्तु हृदयका अभिज्ञान खोता नहीं। हृदयका अभिज्ञान भक्ति है। **भक्त्या मामभिजानाति** भक्तिसे भगवान्‌को भक्त जानता है। भगवान्‌के दर्शनकी भी कई श्रेणियाँ हैं—१. भगवान्‌का दर्शन

हो गया, झाँकी हुई; किन्तु कोई बात नहीं हुई। २. भगवान्‌के दर्शन हुए, बात भी हुई; किन्तु उन्होंने वरदान माँगनेको नहीं कहा। ३. उन्होंने वरदान माँगनेको कहा, वरदान भी दिया; किन्तु यह नहीं कहा कि तुम मेरे हो। ४. भगवान्‌ने भक्तको दर्शन देकर अपना भी स्वीकार कर लिया; किन्तु यह नहीं कहा कि मैं तुम्हारा हूँ। ५. भक्तको अपना स्वीकार किया प्रभुने और अपनेको भक्तका भी कह दिया; किन्तु 'हम तुम दोनों अभिन्न हैं', यह नहीं कहा। ६. भगवान्‌ने भक्तको अपनेसे अभिन्न कर लिया। इसी अवस्थाको वेदान्तमें आवरणभंग कहते हैं।

गीताके सब अध्यायोंमें भक्तिका वर्णन है। भक्तिकी व्याख्याके लिए ही बारहवाँ अध्याय है; किन्तु भक्तिका विवेचन पूर्ण हुआ है गीताके अठारहवें अध्यायमें। गीताका उपसंहार करते हुए भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
१८.६१-६२

लेकिन इससे अर्जुनको सन्तोष नहीं हुआ। वह एक शब्द भी नहीं बोला, तब भगवान् बोले—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥ १८.६४

'तुम मुझे बहुत प्रिय हो, अतः तुम्हारे कल्याणके लिए फिरसे कहता हूँ। यह गुह्यतम रहस्य है। यह मेरी साधारण बात नहीं है, परम वाणी है। इसे सुनो—ध्यान पूर्वक सुनो।'

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥ १८.६५

'मनको मुझमें लगा दो—मेरे सम्बन्धमें ही सङ्कल्प करो। मेरे भक्त बनो—मुझसे ही प्रीति करो। मेरे लिए यज्ञ-कर्म करो। तुम मेरे प्रिय हो, मैं तुमसे प्रतिज्ञा करके सच कहता हूँ कि तुम ऐसा करके मुझे ही प्राप्त होगे।'

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ १८.६६

'अर्जुन! अपने सब धर्म छोड़ दो। केवल मेरी शरणमें आजाओ। मैं तुम्हें सब पापोंसे छुड़ा दूँगा। चिन्ता मत करो।'

यहाँ भक्तिका स्वरूप प्रकट हुआ—'पुण्यका अभिमान छोड़कर भगवान्‌के शरणागत हो जाओ। वे तुम्हें सब पापोंसे मुक्त कर देंगे'—यह विश्वास करो।

पापीकी पहचान क्या है? १. मनमें वासनाका होना। वासना पापका बीज है। जिसके मनमें वासना है, वह कभी भी पाप कर सकता है। भविष्यमें इसके पाप करनेकी सम्भावना है। २. जो वर्तमानमें पापकर्ममें लगा है। ३. बात-बातमें दुःखी होना। दुःख पापका परिणाम है। जो बात-बातमें दुःखी होता है, वह भूत-कालमें पापकर्ममें लगा रहा है।

भगवान् कहते हैं—'पापसे तुम्हें मैं छुड़ा दूँगा। अविद्यापर्यन्त सब दुःखोंसे—पापके सब परिणामोंसे तुम्हें मैं मुक्त कर दूँगा। तुम शोक मत करो।'

भक्तिमें यह सामर्थ्य है। भगवान्‌में भक्ति—उनमें प्रेम हुआ तो संसारका प्रेम—वासना छूट गयी। पापके बीजसे छुट्टी मिली। भगवान्‌में प्रेम हुआ तो वर्तमानमें पापकर्म हो नहीं सकते। भगवान्

हमारे हैं तो फिर दुःख किस बातका ? इस प्रकार भक्ति भूत-भविष्य-वर्तमान तीनों प्रकारके पापोंसे छुटकारा दे देती है।

भक्त्या मामभिजानाति द्रष्टा न कार्य है, न कारण। वह देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छिन्न है। यह ज्ञान तो तत्त्व-विवेकसे हो गया; किन्तु देश, काल, वस्तु क्या हैं ? इनका कारण क्या है ? इसका पता भक्तिसे—**तत्** पदार्थका ज्ञान होनेसे होता है। जब यह तत् पदार्थका ज्ञान हो गया **ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा** इस ज्ञानके होजानेपर **विशते तदनन्तरम्** यह अनुभव हुआ कि प्रत्यक् चैतन्य द्रष्टा तथा जगत्का निमित्तोपादान-कारण ब्रह्म दोनों एक ही हैं। यह **निष्ठा ज्ञानस्य या परा** ज्ञानकी पराकाष्ठा है।

बारहवें अध्यायके अन्तमें यह जो **मत्परमा** है, उसीकी व्याख्या करते हुए अठारहवें अध्यायमें भगवान्ने **शृणु मे परमं वचः** कहा है। **परमं वचः** ऐसी वाणी जिसमें परमतत्त्वका ज्ञान है।

मन्मना भवमें चिन्तन, ज्ञान तथा बुद्धिके अर्पणको भगवान्ने कहा। सेवा, भक्ति तथा मनका अर्पण कर दो, यह **मद्भक्तः**से बताया। **मद्याजी** कर्मके अर्पणका आदेश है। बुद्धि तथा बुद्धिका चिन्तन, मन तथा मनके संकल्प और क्रिया ये तीनों, भगवान् कहते हैं—'मुझे अर्पित कर दो'। **मां नमस्कुरु** मेरे लिए अपने अभिमानका त्याग कर दो। **प्रियोऽसि मे** मुझे प्रिय हो, अतः **प्रतिजाने** प्रतिज्ञा करता हूँ, **सत्यम्** सच-सच कि **मामेवैष्यसि** मुझे ही प्राप्त करोगे।

सर्वधर्मान् परित्यज्य सब धर्मोंका अभिमान छोड़े बिना भगवान्की शरणागति पूरी नहीं होती। मनुष्य धर्मका अभिमान छोड़ नहीं पाता पापके भयसे। भगवान्ने कहा—'समस्त पापोंसे तुम्हें मैं छुड़ा दूंगा। शोक मत करो।'

जब ध्रुवको भगवत्प्राप्ति हो गयी तो ऋषि-मुनियोंको बड़ा क्षोभ हुआ। उनकी परिषद् एकत्र हुई। उसमें यह विचार होने लगा—'उत्तानपादके पाँच वर्षके पुत्रको केवल छः महीनेके तपसे भगवान्ने दर्शन दे दिये और हम लोग दस-दस सहस्र वर्षसे तपस्यामें लगे हैं; किन्तु हमें उन्होंने दर्शन नहीं दिये। लगता है कि भगवान्में भी पक्षपातका दोष आगया है। नारायणके पुत्र हैं ब्रह्माजी और ब्रह्माके देवर्षि नारद। नारदने ध्रुवको शिष्य बनाया, इसलिए नारायणने अपने पौत्रके शिष्यको झटपट दर्शन दे दिया।'

ऋषिपरिषद्में यह विचार चल ही रहा था कि वहाँ एक केवट आया। उसने ऋषि-मुनियोंको प्रणाम किया। उससे सबने पूछा—'तुम यहाँ क्यों आये हो?'

केवट बोला—'यहाँसे समीप ही एक अद्भुत दृश्य है। मैं यह प्रार्थना करने आया हूँ कि आप सब उसे चलकर देखें।'

केवटकी प्रार्थना स्वीकार करके ऋषियोंका मण्डल उठा और जाकर उसकी नौकामें बैठ गया। नौका तटसे दूर हुई तो चारों ओर केवल जल-ही-जल दिखाई पड़ता था। जहाँ-तहाँ ऊँचे-ऊँचे श्वेत टीले दीख रहे थे। ऋषियोंने पूछा—'केवट! ये श्वेत टीले जलमें स्थान-स्थानपर कैसे हैं?'

केवट—'यह राजा उत्तानपादके पुत्र ध्रुवके पूर्व शरीरोंकी अस्थियाँ हैं। उन्होंने भगवत्प्राप्तिके लिए इन एक-एक स्थानोंपर सहस्र-सहस्र जन्म तपस्या करते हुए देहत्याग किया है।'

ऋषियोंका अपने दीर्घकालीन तपका अभिमान केवटकी बात सुनते ही समाप्त हो गया।

कुमार्गगामीको तो कभी सुख प्राप्त नहीं होता और सत्पथपर चलनेवालेको चलनेमें ही बड़ा सुख है। फलकी कल्पना उसके लिए अनावश्यक है।

भगवान् तो अग्निके समान सबका दुःख दूर करनेवाले हैं। जो अग्निके समीप रहे, उसीका भय—शीत अग्नि दूर करता है। वैसे ही जो परमात्माके समीप हो, उसके स्मरणमें लगे, उसीके भय, दुःख परमात्मा दूर करता है। भगवान् कहते हैं—'मुझे तुम्हारे धर्म नहीं चाहिए। उन्हें छोड़कर मेरी शरणमें आओ। तुम्हारे जो ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास आदि धर्म हैं, इन सबका आश्रय छोड़ो। **एकं शरणं व्रज** केवल शरणमें आओ! **मामेकं शरणं व्रज** मैं जो एक अद्वितीय हूँ, उसकी शरणमें आओ। मैं तुम्हें सब पापों-दुःखोंसे छुड़ा दूँगा।'

आत्मा और धर्म कभी मिले नहीं हैं। ये मिले हैं, ऐसा मानना भ्रम ही है। हम धन, पुत्र, स्त्री, मकान, यश अथवा देहवाले हैं—यह अभिमान छोड़ दो। ये अपनेमें नहीं हैं, ऐसा समझ लो। यह जान लेना कि ये अपनेमें नहीं हैं, यही इनका त्याग है।

पद्मविभूषण श्रीराजेश्वर शास्त्री द्रविड़के स्वर्गीय पिता महा-महोपाध्याय श्रीलक्ष्मण शास्त्री द्रविड़ने मुझे इस श्लोकका यह अर्थ बताया था—'धर्मके दो अर्थ होते हैं—**ध्रियतेति धर्मः** और **धार्यतेति धर्मः**। जिन्हें धारण करनेमें हम स्वतन्त्र हैं, वे सत्य, अहिंसा आदि धर्म तथा वर्णाश्रम धर्म और जो हमारा धारण करता है, जो हमारा स्वभाव है, जैसे अग्निका धर्म उष्णता, इन दोनोंका परित्याग **परित्यज्य परित्यक्तेन अवबुध्य** ये अपनेमें नहीं हैं, यह जानकर **शरणं अधिष्ठानम्** अधिष्ठानको **व्रज जानीहि** अनुभव करो। इससे अविद्यापर्यन्त समस्त पापों—दुःखोंसे तुम्हारी मुक्ति हो जायगी।'

बारहवें अध्यायमें जो भक्तियोग प्रारम्भ हुआ, उसकी परि-समाप्ति इस प्रकार गीताके अठारहवें अध्यायमें यहाँ आकर हुई है।

॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥